



महभारत में वैदिक सन्दर्भों का  
समीक्षात्मक अध्ययन

**A CRITICAL STUDY OF THE VEDIC REFERENCES  
IN THE MAHABHARATA**

*SUMMARY*

*Thesis submitted for the Degree of*  
**Doctor of Philosophy**  
IN  
**SANSKRIT**

BY

**SMT. RENU RANI SHARMA**

Under the supervision of  
**Prof. SATYA PRAKASH SINGH**  
CHAIRMAN

DEPARTMENT OF SANSKRIT  
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY  
ALIGARH (INDIA)

1993



### प्रबन्ध-सार

महाभारत प्राचीन धर्म एवं संस्कृति का महान ग्रन्थ है। यह वेदों के धर्ममय अर्थ से अलंकृत है। इस विषय में महाभारत के आदिपर्व में कहा गया है कि "प्राचीनकाल में सब देवताओं ने इकट्ठे होकर तराजू के एक पलड़े पर चारों वेदों को और दूसरे पर महाभारत को रखा परन्तु जब यह रहस्य सहित चारों वेदों की अपेक्षा अधिक भारी निकला तभी से संसार में यह महाभारत के नाम से जाना जाने लगा। सत्य के तराजू पर तौलने से यह ग्रन्थ महत्त्व, गौरव अथवा गम्भीरता में वेदों से भी अधिक सिद्ध हुआ इसी कारण विद्वानों ने इसे पञ्चम वेद संहिता और उपनिषद् की उपाधि से विभूषित किया।" यह तथ्य महाभारत की महत्ता को प्रदर्शित करने के लिए भले ही बाद में जोड़ा गया हो या महाभारतकार ने स्वयं कहा हो परन्तु यह तो सत्य है कि महाभारत में बहुत से वैदिक तन्त्रों का उपबृंहण किया गया है। "इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थं समुपबृंहयेत्" की उक्ति विशेष रूप से महाभारत के तन्त्रों में चरितार्थ होती है। महाभारत भरतवंशियों के चरित्र एवं संघर्ष की विरूदावली ही नहीं प्रत्युत सूक्ष्म वेदार्थ का अत्यन्त सरल सुबोध शैली में स्पष्टीकरण इसकी अपनी विशेषता है।

### महर्षि व्यास की वेदज्ञता एवं वेदों का संहितीकरण

ज्ञानार्थक वेद शब्द "विद्" धातु से करण और अधिकरण कारक में व्याकरणा के "हल्ञच् सूत्र" से "घञ्" प्रत्यय करने से बनता है। प्रारम्भ में वेद एक था बाद में यज्ञादि कार्यों को सहजता से सम्पन्न करने की दृष्टि से उसके चार भाग हुए।

चिरकाल से परिवर्तित होती हुई वेद परम्परा की स्थिति कभी-कभी नष्ट प्राय हो जाती है जिसका उल्लेख महाभारत में स्थान-स्थान पर किया गया है।

शान्तिपर्व में वेद एवं यज्ञ के लोप का कारण मनुष्य की धार्मिक प्रवृत्ति में ह्रास को तथा पुनः प्रतिष्ठा का कारण ब्रह्माजी द्वारा निर्मित नीतिशास्त्र को बताया गया है। यज्ञ वैदिक धर्म का आधारभूत तत्त्व है तथा वेदों से ही विष्णु को साक्षात् यज्ञदेव माना जाता रहा है। यही कारण है कि परवर्ती वैदिक एवं लौकिक साहित्य में मत्स्य, ह्यग्रीव, महर्षि अपान्तरतमा, सारस्वत ऋषि एवं महर्षि व्यास आदि देवी अथवा मानवी वैष्णवी शक्तियों को वेदों की रक्षा, प्रचार-प्रसार आदि में लगा हुआ वर्णित किया है तथा महाभारत में इस प्रकार वेदों के बार-बार ह्रास-अपहरण अथवा नाश तथा पुनः पुनः रक्षा एवं संहितीकरण की बात कही गई है।

महाभारतकार वेदों का अनुकरण करते हुए उन्हें अपौष्ट्य तथा परमेश्वर की निःश्वासभूत वाणी मानते हैं। वेद में भी मन्त्रों के लिये "नित्या वाक्" पद का प्रयोग किया गया है। प्रलयकाल में भी वेद को नष्ट न मानकर मात्र तिरोधान हुआ ही मानते हैं। पुस्त्य सूक्त के वर्णन से वेद-मन्त्रों की अलौकिक उत्पत्ति के सिद्धान्त को पुष्टि होती है। वहाँ उद्धृत "छन्दांश्चि" पद से पाणिनि आदि सामवेद की ऋचाओं का अर्थ लगाते हैं। वेद एवं महाभारत दोनों ही ने वेद को सम्पूर्ण सृष्टि का मूल वर्णित करते हुए वेदाध्ययन को परमावश्यक उल्लिखित किया है।

वेदाध्ययन के लिये गुत्कुल में प्रवेश से पूर्व बालक की बौद्धिक एवं शारीरिक क्षमताओं की परीक्षा ली जाती थी। वेदाध्ययन प्रारम्भ करने के लिये ब्राह्मणादि वर्णाश्रमनुसार बालक का क्रमशः आठ, ग्यारह व बारह वर्ष का होना परमावश्यक था। गोपथ ब्राह्मण प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिये 12-12 वर्ष के समय को उपयुक्त मानते हुए 48 वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्याश्रम में रहते हुए वेदाध्ययन का विधान बताता है।

वेदाध्ययन में रुचि एवं जिज्ञासावान् व्यक्ति को ही वेदाध्ययन का प्रथम अधिकारी माना गया है। विद्यार्थी की योग्यता के मानदण्डों में कुल, गोत्रनाम आदि का अपना महत्त्व था परन्तु सत्य को सर्वोपरि माना जाता था। ऋग्वेद में

आर्यों के साथ-साथ आर्येतर जातियों को भी विद्याधिकारी माना है जबकि महाभारत इस विषय में स्मृति तथा कल्पशास्त्रों से प्रभावित है क्योंकि उसमें शुद्रों को वेदाध्ययन का अनधिकारी वर्णित किया है। अनध्याय के दिन नवीन पाठ नहीं पढ़ाया जाता था वरन् पूर्वाधीत पाठ की आसृप्ति को जा सकती थी।

ऋग्वेद में इन्द्र और अग्नि को आचार्य रूप में प्रकल्पित किया गया है। वेदाध्ययन महान् धार्मिक कृत्य माना जाता था। वेद के रहस्यों का स्पष्टीकरण ही वेदज्ञता की निशानी थी। शिष्य का भी सद गुणावान व जिज्ञासु होना परमावश्यक था।

यज्ञ-प्रक्रिया :

वैदिक धर्म में यज्ञ का विशेष महत्त्व है ये यज्ञ देवताओं को प्रसन्न करके उनसे अभीष्ट फल की प्राप्ति से किये जाते थे। वेदमन्त्रों का संकलन तथा संहिताकरण ही यज्ञ की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किया गया था। यजुर्वेद तथा ब्राह्मणों में यज्ञ संस्था का साम्राज्य है। यज्ञ के प्रति यज्ञकर्त्ता की सच्ची श्रद्धा होना तथा यज्ञ का शास्त्रीय विधि से सम्पन्न होना आवश्यक था।

देवताओं द्वारा यज्ञ की कल्पना का सन्दर्भ महाभारत में आया है। समस्त यज्ञविधियों का मूलभूत आधार पुरुष सूक्त में वर्णित सृष्टि-यज्ञ था। वहाँ यज्ञ को प्रथम धर्म कहा गया है तथा यज्ञ का सृष्टि से गहन सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

उत्तरवैदिक काल में यज्ञों का स्थूल रूप से वर्गीकरण हुआ। श्रौतयज्ञों के अन्तर्गत सोमयज्ञ, अग्निष्ठोम, उक्थ्य षोडशी, वाजपेय, अर्जिरात्र, राजसूय एवं अश्वमेध तथा हविर्यज्ञ, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयण, पिण्ड-पितृयज्ञ माने गये तथा स्मार्तयज्ञों में पंचमहायज्ञ बलिवैश्वदेव आदि यज्ञ किये जाते थे। कालान्तर में उपनिषदों के विचारों से प्रभावित जपयज्ञ, तपयज्ञ, आत्मयज्ञ आदि मानसिक यज्ञों का अनुष्ठान किया जाने लगा।



महाभारत में वर्णित प्रमुख यज्ञ एवं तद्विषयक वैदिक सन्दर्भ

अग्निहोत्र :

अग्निहोत्र प्रतिदिन प्रातः और सायं अग्नि की उपासना है जिसमें मुख्यतः दूध तथा गौणातः यवागू, तण्डुल, दधि और घृत की आहुति दी जाती थी ।

दर्श-पौर्णमास :

यह समस्त इच्छित्यों की प्रकृति है । इसमें दर्शोष्टि अमावस्या के दिन तथा पूर्णमासेष्टि पूर्णिमा के दिन की जाती है ।

पिण्डपितृयज्ञ :

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अमावस्या के अपरान्ह में दर्शोष्टि से पूर्व पिण्ड-पितृ यज्ञ किया जाता था जिसमें सोम, यम, व अग्नि के लिये तीन आहुतियाँ दी जाती थीं ।

अश्वमेध यज्ञ :

यह यज्ञ समस्त लोकों को जीतने तथा समस्त कामनाओं को वशवर्ती करने के इच्छुक राजा द्वारा किया जाता था । यज्ञ के अन्त में सम्पूर्ण विजित पृथ्वी ब्राह्मणों को दान में दे दी जाती थी । महाभारत में वर्णित युधिष्ठिर कुत अश्वमेध वेदोक्त यज्ञ विधि के साथ-साथ राजोचित श्रेष्ठ्य को भी प्रदर्शित करता है ।

प य महायज्ञ :

ब्राह्मणोक्त भूतयज्ञ पितृयज्ञ मनुष्ययज्ञ देवयज्ञ ब्रह्मयज्ञ प्रत्येक गृहस्थ के लिये अनिवार्य कर्म थे ।

वेदानुक्रम से होता अथर्व उद्गाता व ब्रह्मा प्रमुख ऋत्विज होते थे । बड़े-बड़े यज्ञों में इनकी संख्या अधिक होती थी । यज्ञों द्वारा कामना पूर्ति, स्वर्ग

प्राप्ति पुत्रादि की प्राप्ति की जाती थी महाभारतकार यज्ञों में हिंसा के निषेध का प्रतिपादन करते हैं शतपथ ब्राह्मण व मैत्रायणी संहिता में भी पशु के स्थान पर जौ तथा चावल के पुरोडाश की आहुति की बात कही गई है ।

### सृष्टि प्रक्रिया :

वेद में स्थान-स्थान पर सृष्टिविषयक जिज्ञासाजन्य प्रश्न एवं उनका समाधान प्रस्तुत किया गया है । पुरुष सूक्त में यज्ञ पुरुष के अङ्गों की यज्ञ में आहुति देने से सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन है जिसका अनुमोदन महाभारतकार भी स्थान-स्थान पर करते हैं । मुण्डकोपनिषद् भी दिव्य अमूर्त पुरुष से सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पन्न बताते हुए पौष्ट्येयापौष्ट्येय सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है । श्वेताश्वेतर उपनिषद् शिव की कल्पना सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म के रूप में करती हुयी शैव पौष्ट्येयवाद का प्रतिपादन करती है । महाभारत में भी अनुशासन पर्व में कई स्थानों पर शिव को सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म के रूप में वर्णित किया है ।

हिरण्यगर्भ सूक्त में हिरण्यगर्भ को समस्त लुप्तमान जगत् का एकमात्र स्वामी वर्णित किया गया है । महाभारतकार भी "हिरण्यगर्भ समुदभव" ब्रह्मा को सृष्टिकर्त्ता के रूप में उल्लिखित करते हैं । मुण्डक, श्वेताश्वेतर तथा मैत्रायणी उपनिषदों में भी हिरण्यगर्भ ब्रह्मा की प्रथम सृष्टि का उल्लेख है ।

नासदीय सूक्त में प्रलयोपरान्त सृष्टिपूर्व अवस्था का चित्रण है । रचना के पूर्व सृष्टि के निषेधात्मक वर्णन के उपरान्त अग्नि उसका विध्यात्मक वर्णन भी प्रस्तुत करते हैं तथा बिना वायु के श्वास ले रहे चैतन्य स्वरूप ब्रह्म एवं उनकी सिसृक्षा को सृष्ट्युत्पत्ति का कारण वर्णित करते हैं । महाभारतकार भी सृष्ट्युत्पत्ति की इस प्रारम्भिक अवस्था का उल्लेख करते हैं । शतपथ ब्राह्मण, कठोपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद् भी प्रारम्भ में सबका निषेध करके एकमात्र ब्रह्म की सत्ता का वर्णन करते हैं । तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार वाह्य जगत् के पीछे एक ऐसी सत्ता अवश्य होनी चाहिये जो उसकी उत्पत्ति स्थिति तथा लय के लिये उत्तरदायी ठहरायी जाये ।

छान्दोग्य उपनिषद् आकाश को सम्पूर्ण सृष्टि का मूल वर्णित करती है। शान्तिपर्व में भी आकाश से ही अग्रिम सृष्टि प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है।

सांख्य दर्शन प्रकृति व पुच्छ को सृष्टि का प्रमुख कारण वर्णित करता है। इन दोनों के संयोग से महत्त्व, महत्त्व से अहंकार (सात्त्विक, राजस, तामस), सात्त्विक अहंकार से मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्राएँ तथा पञ्चतन्मात्राओं से पंचमहाभूत। सांख्य में अस्थिचर्म से युक्त शरीर को स्थूल शरीर तथा आत्मा को सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न होकर प्रलयकाल तक चलने वाला सूक्ष्म शरीर कहा है। देव एवं तिर्यक् दो प्रकार की सृष्टि मनुष्य व पशुपक्षी भेद से मानी गई है। महाभारतकार सांख्य वर्णित सृष्टिक्रम का भी अनुमोदन करते हुए चौबीस तत्त्वों तथा नौ प्रकार के सगों का निरूपण करते हैं। उपनिषदों में श्वेताश्वेतर छान्दोग्य, कठ, प्रश्न उपनिषदें सांख्य में वर्णित सृष्टि प्रक्रिया को अपने ढंग से प्रस्तुत करती हैं।

महाभारत में वर्णित वेद, उपनिषद् एवं सांख्य सृष्टि प्रक्रिया का तुलनात्मक एवं

समीक्षात्मक अध्ययन :

पुच्छ सूक्त में स्रष्टा-पुच्छ का सहस्रशीर्षा सहस्रपात आवि होना प्राकृतिक शक्तियों की अव्यक्त मूलकता का प्रतिपादन करता है। नासदीय सूक्त में वर्णित सृष्टिकर्ता ब्रह्म की अव्यक्त स्थिति हिरण्यगर्भ सूक्त में वर्णित हिरण्यगर्भ की है तथा उसका सर्वथा व्यक्त रूप पुरुष सूक्त में वर्णित है --इस प्रकार नासदीय सूक्त में वर्णित मूल ब्रह्म से विराट् या प्राकृतिक अण्ड उत्पन्न हुआ और इस अण्ड में इसके अधिष्ठाता रूप में हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुए। महाभारतकार इन सबके समानान्तर जिन्हें रखते हैं उनका वर्णन इस प्रकार है--सहस्रशीर्षापुच्छ---नारायण अथवा श्रीकृष्ण, विराट्-श्रीकृष्ण का विश्वरूप, हिरण्यगर्भ--ब्रह्माजी, अहंकार, विराट्। सांख्य वर्णित सृष्टि प्रक्रिया जैसी उपनिषदों में वर्णित है उसी प्रकार महाभारतकार भी सांख्य वर्णित सृष्टि का भी अनुमोदन ही करते हैं।

### वर्णाश्रम व्यवस्था :

उत्तर वैदिक काल में समाज को सुसंगठित बनाने के लिये वर्ण व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्थाएं प्रचलित थीं। वर्णों का पृथक्-पृथक् उल्लेख सर्वप्रथम पुरुष सूक्त में हुआ है। शतपथ ब्राह्मण वर्णों को वास्तविक उत्पत्ति ब्रह्म प्रजापति के पाक्, अग्नि एवं आपः रूप शुक्र से क्रमशः ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य को उत्पन्न करके पूषा नाम से शुद्र वर्ण को उत्पन्न मानता है। इसी से देवताओं में बृहस्पति, ब्रह्मा, अग्नि आदि ब्राह्मण वर्ण के इन्द्र, वसु, सोम, रुद्र आदि क्षत्रिय वर्ण के वसु, आदित्य, मरुत विश्वेदेव आदि वैश्यवर्ण के तथा पूषन शुद्र वर्ण के माने गये तथा इन्हीं देवताओं से प्रजावर्ग में भी चातुर्वर्ण्य व्यवस्थित हुआ। महाभारतकारविशेष रूप से पुरुष सूक्त में वर्णित नारायण पुरुष से वर्ण सृष्टि का अनुकरण करते हैं। इन चारों को नियन्त्रित करके अपने स्वस्व में सुरक्षित रखने वाला धर्म है। संस्कृत में इसे त्व प्रत्यय द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। यही धर्म समाज में श्रम विभाजन का मूल आधार बना अर्थात् अध्ययन अध्यापनादि षड्कर्मों का नियम पूर्वक पालन करना ही ब्राह्मणात्त्व का प्रतिपादक था, मात्र जन्म नहीं। इसी प्रकार क्षत्रिय वैश्य तथा शुद्रों के लिये स्वधर्मानुकूल कर्तव्य पालन आवश्यक था। कालान्तर में धर्म एवं कर्म की अपेक्षा जन्म को ही वर्ण सूचक माना जाने लगा जैसा कि मनु भी कहते हैं—“ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते”।

वर्ण व्यवस्था जहाँ व्यक्ति को श्रेष्ठ सामाजिक प्राणी बनाती है वहीं आश्रम व्यवस्था व्यक्तिगत रूप से मुख्यवस्थित व नियमित जीवन चर्या के लिये प्रेरित करती है। व्यक्तिगत आत्मशक्तियों के विकास के लिये व्यक्ति को जो-जो कार्य करने होते हैं उसके लिये अपने जीवन को चार काल-विभागों में विभक्त करके उन-उन उद्देश्यों को प्राप्त किया जाता है। ब्रह्मचर्याश्रम में विद्या अथवा ज्ञान प्राप्ति, गृहस्थाश्रम में जन्मजात तीन श्रणों से मुक्ति, वानप्रस्थाश्रम में मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होते हुए संन्यासाश्रम में मोक्ष प्राप्ति।

### वैदिक आख्यान :

महाभारत में ऐसे बहुत से आख्यान हैं जिनका मूल वेदों तक जाता है । महाभारतकार ने जिन प्रमुख वैदिक आख्यानों को अपने महान् ग्रन्थ में स्थान दिया है वे हैं--इन्द्र आख्यान, मत्स्य, वामन, वराह, ह्यग्रीव अवतार विषयक आख्यान च्यवन-सुकन्या आख्यान, शुनःशेषाख्यान, नायिकेतोपाख्यान, सौपणाख्यान ।

### इन्द्र आख्यान :

ऋग्वेद में इन्द्र प्रमुख रूप से विद्युत के देवता हैं । अन्धकार के राक्षसों पर विजय प्राप्त कर जलों को प्रवाहित करना, प्रकाश का विस्तार करना इनका प्रमुख कार्य है । वृत्र हत्ती प्रकार का राक्षस है जिसको इन्द्र के प्रमुख प्रतिद्वन्दी के रूप में ऋग्वेद एवं अन्य वैदिक ग्रन्थों में वर्णित किया गया है । तीनों लोकों तथा आकाश, वायु, जल, अग्नि आदि को किसी न किसी प्रकार वृत्र द्वारा आच्छादित करने का उल्लेख मन्त्रों में किया गया है जिस पर कहीं अकेले इन्द्र तथा कहीं अन्य देवताओं तथा ऋषियों की सहायता से इन्द्र विजय प्राप्त करते हैं । वृत्र त्वष्टा का पुत्र होने से ब्राह्मण था अतः उसके वध से ब्रह्महत्या इन्द्र को पकड़ लेती है जिससे मुक्ति प्राप्त करने के लिये इन्द्र यज्ञों द्वारा विष्णु की आराधना करते हैं । यह आख्यान ऋग्वेद के अतिरिक्त तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, ऐतरेय, शतपथ, जैमिनीय एवं ताण्ड्य ब्राह्मणों में वर्णित किया है । महाभारतकार भी अनेक स्थलों पर इस आख्यान को किंचित परिवर्तनों के साथ वर्णित करते हैं शोधग्रन्थ में महाभारत एवं वैदिक आख्यान में पाये जाने वाले समान तथ्यों का तथा नवीन उद्भावनाओं के प्रयोजनों का उल्लेख किया गया है ।

### अवतार विषयक आख्यान :

#### मत्स्याख्यान

सर्वशक्ति सम्पन्न निविशेष शक्ति का उद्देश्य विशेष से विग्रह धारण करना अवतार है । मत्स्यावतार को भगवान् विष्णु का प्रथम अवतार माना जाता है जिसका उल्लेख ऋग्वेद

में कुछ अस्पष्ट है जिसमें वर्णित जल प्रलय में वसुधा नाव द्वारा वसिष्ठ की रक्षा करते हैं। अगस्त्य के जन्म के साथ एक विशाल मत्स्य का उल्लेख भी हुआ है। ऋग्वेद के ही नासदीय सूक्त में वर्णित जलमयी स्थिति को भी इस आख्यान के प्रकीर्ण तथ्यों में से माना जा सकता है। अथर्ववेद तथा काठक संहिता में भी इस आख्यान से सम्बद्ध तथ्यों का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण के इडा यज्ञ प्रसङ्ग में विस्तार से मनु व मत्स्याख्यान का वर्णन है। जैमिनीय ब्राह्मण में भी उक्त आख्यान का कुछ आभास मिलता है। महाभारत के वनपर्व में उक्त आख्यान विस्तार से वर्णित है। महाभारतकार द्वारा मत्स्याख्यान के वैदिक स्वरूप में किये गये परिवर्तनों एवं उनके प्रयोजनों का समीक्षात्मक अध्ययन शोधग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है।

वराह अवतार सम्बन्धी आख्यान :

ऋग्वेद में इस आख्यान का सूत्र मिलता है वहाँ शक्तिशाली विष्णु द्वारा हविष् को चुराने, वराह के ऊपर प्रहार करने तथा पर्वत को तिरछे फेंक देने का उल्लेख है। ऋग्वेद में ही कुम्भरः पद के द्वारा वराह अवतार का उल्लेख है।

तैत्तिरीय संहिता में भी यह आख्यान दो स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से आता है अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में भी आख्यान के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं। शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक में पृथ्वी को उभारने उसे जल से ऊपर लाने और उसका उद्धार करने का वर्णन है। महाभारत के वनपर्व एवं शान्तिपर्व में जल से ऊपर लाने तथा अत्यधिक भार से पीड़ित पृथ्वी को दानवों का विनाश तथा देवताओं की रक्षा करके पृथ्वी को हल्का करने का वर्णन है।

महाभारतकार द्वारा वैदिक आख्यान में किये गये परिवर्तनों का प्रयोजन :

वेदों में जहाँ पृथ्वी के निर्माण की बात आई है वहाँ महाभारत के अनुसार वराह का सम्बन्ध स्थिति व प्रलय दोनों से है। महाभारत के अनुसार पृथ्वी का अपने स्थान से हटना ज्योतिष के तथ्यों को सूचित करता है। महाभारत में सृष्टि की अपेक्षा पृथ्वी की स्थिति पर बल दिया गया है इसीलिये यहाँ वराह से सम्बन्ध प्रजापति से है।

### वामन अवतार सम्बन्धी आख्यान :

ऋग्वेद में वामनाकार विष्णु का तीन प्रकार से विचक्रमणा करना, तीन पदक्रमों से सारे जगत को व्याप्त कर लेना वर्णित है। वाजसनेयी संहिता में विष्णु के इन पदक्रमों को आकाश पृथ्वी व अन्तरिक्ष से सम्बद्ध बताया है। ऐतरेय ब्राह्मण में इनसे त्रिलोको, वेद तथा वाक् को जीतने का वर्णन है। इन पदक्रमों की उद्देश्य असुरों को पराजित करना भी है। शतपथ ब्राह्मण में पदक्रमों तथा यज्ञरूप विष्णु द्वारा राक्षसों से पृथ्वी को मुक्त कराना वर्णित है। महाभारत में भी विष्णु द्वारा अपने तीन चरण न्यासों से पृथ्वी नापने अथवा जीतने की कथाएँ वर्णित हैं। वेद व ब्राह्मणों में विष्णु के त्रिविक्रमत्व एवं वामनत्व की अवधारणाएँ आपस में मिली हुयी नहीं अपितु स्वतन्त्र हैं परन्तु महाभारतकार ने इन दोनों अवधारणाओं में अद्भुत सामंजस्य स्थापित किया है।

### च्यवन-सुकन्या आख्यान :

यह आख्यान ऋग्वेद में सुति प्रधान है ब्राह्मणों में इस आख्यान को यज्ञ प्रधान कहा जा सकता है तथा महाभारत तक आते-आते इसमें तपोबल एवं योगबल की प्रधानता हो गई है। ऋग्वेद में च्यवन द्वारा अश्विनियों की कृपा से यौवन प्राप्ति व कन्याओं की प्राप्ति का ही प्रमुख रूप से उल्लेख है। एकमात्र मन्त्र के द्वारा च्यवन के हव्यदाता होने का उल्लेख है जिससे परवर्ती साहित्य में आख्यान के यज्ञ प्रधान होने का सूत्रपात हो जाता है। तैत्तिरीय संहिता में भी यज्ञ के शीर्ष को अश्विनियों द्वारा पुनः स्थापित करने के विषय में ही परिज्ञान प्राप्त होता है। ऐतरेय व शतपथ ब्राह्मण की कथा भी मूलतः कर्मकाण्डीय है अश्विनियों को सोमयाग में भाग क्यों दिया जाता है वह इसकी व्याख्या प्रस्तुत करती है। महाभारत में च्यवन के जन्म की कथा से च्यवन को जन्म से ही अत्यन्त तेजस्वी सिद्ध किया है साथ ही च्यवन द्वारा यौवन प्राप्ति के बदले में अश्विनियों को यज्ञ में भाग दिलवाये जाने का वर्णन है इसी वर्णन के दौरान च्यवन द्वारा इन्द्र के वध के लिये मदासुर को उत्पन्न करना तथा इन्द्र के वज्रपुत्र हाथ को स्तम्भित कर देना ऋषि के उत्कृष्ट तपोबल का प परिचायक है।

जिसके आगे इन्द्र को भी च्यवन से क्षमा माँग कर अश्विनों द्वारा यज्ञ में सोमपान किये जाने को स्वीकार करना पड़ता है ।

सौपणाख्यान :

यह आख्यान सोम से सम्बन्धित है । ऋग्वेद में यह आख्यान विकीर्ण रूप से सोम के दिव्यत्व एवं उसके पृथ्वीलोक पर लाये जाने का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करता है । तैत्तिरीय संहिता एवं काठक संहिता में यह आख्यान यज्ञ प्रधान हो गया है शतपथ ब्राह्मण में यह आख्यान पर्याप्त विस्तार से आया है परन्तु यहाँ भी इस आख्यान की व्याख्या यज्ञपरक ही है यहाँ कद्रु को पृथ्वी स्वस्था तथा सुपर्णा को वाक् स्वस्था बताया गया है । वाक् आकाश का गुण तथा विनम्रता धर्म होता है इसी कारण महाभारतकार उसे यहाँ विनता नाम देते हैं । सोम को यदि वेदों का सार मानें तो उसको चुराने के प्रयासों को दानवी वृत्तियों द्वारा सामान्यतः दुर्लभ वेदज्ञान की प्राप्ति का प्रयास माना जा सकता है । सोम का आहरण वेदों के लोप एवं वेदार्थ के लोप को दर्शाता है । "इन्द्र मित्रं वरुणा मग्निमाहुरथ दिव्यः स सुपर्णां गरुत्मान्" ऋग्वेद के इस मन्त्र का सौपणाख्यान से गहरा सम्बन्ध है ।

नाचिकेतापाख्यान :

ऋग्वेद में यह आख्यान अत्यन्त सूक्ष्म तथा रूपकात्मक शैली में आया है वहाँ नाचिकेता, बाजश्रवत् तथा त्वमिधयज्ञ किंती का भी उल्लेख नहीं है फिर भी आचार्य सायण उन मन्त्रों में नाचिकेतापाख्यान के प्रारम्भिक स्वस्थ की पुष्टि करते हैं । तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी आख्यान विशेष प्रभावशाली नहीं है । कठोपनिषद् में सर्वाधिक विस्तार से आख्यान आया है । नाचिकेता कुमारवस्था में भी जिस निर्भोक्ता, कुशलता के साथ सम्पूर्ण सांसारिक बन्धनों को टूटकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता है उसके आगे यम को भी झुकना पड़ जाता है । यम के द्वारा अग्निविद्या सुनकर उसे ज्यों का त्यों सुना देना उसकी अद्भुत बौद्धिक क्षमता का परिचायक है जिससे प्रसन्न होकर स्वयं यम उस अग्नि विद्या का नाम नाचिकेताग्निविद्या रख देते हैं । महाभारत काल में धार्मिक प्रवृत्तियों में बदलाव आ गया था यही कारण है कि वहाँ गोदान विषयक वर्णों को अधिक विस्तार प्रदान किया गया है । यज्ञादि



कर्मकाण्डों के ह्रास के कारण यहाँ नायिकेताग्र की चर्चा नहीं की गई है ।

शुनःशेषाख्यान :

वेद व ब्राह्मणों में विस्तार से वर्णित इस आख्यान को महाभारत में अत्यन्त संक्षिप्त में प्रस्तुत किया गया है । ऋग्वेदिक आख्यान में शुनःशेष वस्त्रा के पाशों से मुक्ति के लिये वस्त्रादेव तथा प्रजापति अग्नि, सूर्य, इन्द्र, तपितृ, उषस आदि देवों की शरणा में जाकर उनकी स्तुति करते हैं । ऐतरेय ब्राह्मण में वस्त्रा पीडित राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित द्वारा सौ गायों द्वारा क्रय करके यज्ञयूप में बलि पशु के स्थान पर बाँधा गया है उपर्युक्त देवताओं कीसे स्तुति करते हुए अन्त में "उषा" की स्तुति करने पर वे बन्धन मुक्त होते हैं । नैतिक दृष्टि से ऋग्वेद में वस्त्रा के नियम पूर्णतः स्थिर व अनतिक्रम्य हैं जिनका उल्लंघन करने वाले को वे अपने पाशों में बाँध लेते हैं अतः उनका स्थान अत्यन्त उच्च कोटि का है जबकि ब्राह्मण में एक बालक की बलि माँगने तथा बदले में निर्धन ब्राह्मण को पाकर तन्तुष्ट होना नैतिक पक्ष को प्रभावित करता है । महाभारत के आख्यान में वस्त्रा का कोई स्थान न होना उनको नितान्त महत्त्वहीन देवता होना प्रदर्शित करता है ।



महाभारत में वैदिक सन्दर्भों का  
समीक्षात्मक अध्ययन  
**A CRITICAL STUDY OF THE VEDIC REFERENCES  
IN THE MAHABHARATA**

*Thesis submitted for the Degree of*  
**Doctor of Philosophy**  
**IN**  
**SANSKRIT**

**BY**  
**SMT. RENU RANI SHARMA**

Under the supervision of  
**Prof. SATYA PRAKASH SINGH**  
**CHAIRMAN**

**DEPARTMENT OF SANSKRIT**  
**ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY**  
**ALIGARH (INDIA)**

**1993**



T4401



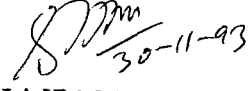
C E R T I F I C A T E

This is to certify that MRS. RENU RANI SHARMA has worked under my supervision regularly for the requisite duration of time and that the thesis entitled "A critical study of the Vedic references in the Mahabharata" is a product of her own research work and that it is worth supplicating for the award of the Ph.D. Degree.

  
(Prof. S.P. Singh)

Date :

Chairman, Deptt. of Sanskrit  
Aligarh Muslim University,  
Aligarh

*Forwarded*  
  
CHAIRMAN  
Department of Sanskrit  
Aligarh Muslim University  
ALIGARH

## भूमिका =====

“इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थं समुपबृंहयेत्”

अर्थात् इतिहास पुराणा की सहायता से वेदार्थ का उपबृंहण करना चाहिये । यह उक्ति प्राचीन इतिहासिक ग्रन्थों {रामायण-महाभारत} एवं पुराणों के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिये कही गयी है तथापि यह वर्तमान युग के सन्दर्भों में भी उतनी ही चरितार्थ होती है । यद्यपि रामायण महाभारत एवं पुराण सभी ग्रन्थ वेदार्थ के उपबृंहण में सहायक हैं फिर भी इन सबके मध्य महाभारत का अपना विशिष्ट स्थान है तथा अन्य सन्दर्भों की भाँति वेदार्थ उपबृंहण के सन्दर्भ में भी महाभारत अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है ।

महाभारत का कथानक विशाल होने के साथ-साथ तथ्यपरक है । इसमें जिस विषय की भी चर्चा की गयी है उसे विस्तार पूर्वक स्पष्ट किया गया है । रामायण का उद्देश्य जहाँ आदर्शों की स्थापना है वहीं महाभारत में जीवन के वास्तविक पहलुओं पर चर्चा करते हुए सन्दर्भ रूप में वेदोक्त तथ्यों को उद्धृत किया गया है । महाभारतकार महर्षि व्यास की वेदज्ञता तो सर्वविदित है ही, महाभारत के अन्य पात्र भी अत्यन्त विद्वान् एवं वेद के रहस्यों एवं महत्त्व को जानने वाले हैं ।

महाभारत में प्रायः प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग किया गया है तथा श्रीकृष्ण, द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म, विदुर, युधिष्ठिरादि पाण्डव, एवं अन्य अनेक ऋषि, महर्षि, देवगण आदि विभिन्न विषयों पर चर्चा करते हुए वेदविहित सन्दर्भों का उपबृंहण एवं वृहदीकरण करते हैं । महाभारत के युद्ध से पूर्व श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया उपदेश श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में विश्व विख्यात है । गीता भी वेदोक्त तथ्यों का उपबृंहण ही करती है तथा मुख्यतः औपनिषदिक दर्शन से प्रभावित है ।

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ में छः अध्याय हैं प्रत्येक अध्याय में महाभारत में सन्दर्भित प्रमुख वैदिक विषयों का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । प्रथम

अध्याय महर्षि व्यास की वेदज्ञता एवं वेदों के संहितोक्तरण पर आधारित है तथा इसी परिप्रेक्ष्य में वेदों के ह्रास एवं रक्षा के उपायों पर भी प्रकाश डाला गया है । द्वितीय अध्याय महाभारत में वेदाध्ययन सम्बन्धी सन्दर्भों को लेकर लिखा गया है । इसके अन्तर्गत वेदोत्पत्ति, वेद की प्रामाणिकता, वेद एवं वेदाध्ययन का महत्त्व, स्वाध्याय की प्रारम्भिक आयु, वेदाध्ययन का महत्त्व इत्यादि विषयों पर विचार किया गया है । तृतीय अध्याय महाभारत में वर्णित यज्ञ प्रक्रिया के वैदिक स्वरूप का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है । यज्ञ वैदिक युग की मूलभूत पूजा पद्धति थी । यज्ञों का मूल उद्देश्य इष्ट प्राप्ति व अनिष्ट परिहार था । इसी उद्देश्य को लेकर वैदिक युग में भिन्न-भिन्न प्रकार के वैदिक यज्ञों की विस्तारपूर्ण प्रक्रिया के अन्तर्गत सम्पन्न किया जाता था । इस अध्याय में उन्हीं यज्ञों का उल्लेख किया गया है जो महाभारत में किसी रूप में आए हैं जिनमें प्रमुख यज्ञ हैं अग्निहोत्र पञ्च महायज्ञ, पितृमेध यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ आदि । चतुर्थ अध्याय सृष्टि-प्रक्रिया से सम्बन्धित है जिसमें वेद, उपनिषद्, सांख्य एवं महाभारत में वर्णित सृष्टि विषयक तथ्यों का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । पञ्चम अध्याय में वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत विचार किया गया है कि वेद-युगीन सामाजिक व्यवस्था महाभारतकाल में किस रूप में प्रचलित थी । षष्ठ अध्याय महाभारत में वर्णित मूलतः वैदिक आख्यानो पर आधारित है । इसके अन्तर्गत इन्द्र आख्यान, सत्स्य, वामन, वराह अवतार विषयक आख्यान, शुकशेपाख्यान च्यवन मुकन्या आख्यान, एवं सौपर्णाख्यान के वैदिक एवं महाभारतीय स्वरूपों का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।

इस प्रकार मूलभूत वैदिक संकेतों, प्रेरणाओं तथा विवरणों को लेकर कालक्रम में महाभारतकार ने उनका स्पष्टीकरण किया है । इसी बात का अध्ययन यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । इस क्रम में ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा सूत्र ग्रन्थों को भी अवलोकित किया गया है ।

वेद से चलकर महाभारत में आने पर वैदिक सन्दर्भों के कलेवर और मन्तव्य में जो कुछ परिवर्तन हुए हैं उसके पीछे सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा कलात्मक कारणों का भी अन्वीक्षा किया गया है। इस विधि से चलकर महाभारतीय सन्दर्भ कहाँ तक व्याख्यात हो सके हैं इसका नीर-क्षीर विवेक सुधीजन ही कर सकेंगे।

प्रस्तुत शोधकार्य का पूर्णता के अवसर पर दैव यदि सहायक हों तो महान दुर्योगों में भी कार्य पूर्ण होता है। श्रेष्ठ गुस्वर प्रो० सत्यप्रकाश सिंह जी के वैदुष्यपूर्ण निर्देशन में इस शोधकार्य को करने के अतिरिक्त उनकी सत्सङ्गति में मैंने जितना कुछ सीखा वह संभवतः मेरे पूर्वजन्म के सत्कर्मों के फलस्वरूप ही संभव हुआ। पूजनीय पिताजी व माँ एवं आदरणीय भाईसाहब व भाभीजी ने मुझे जितना स्नेहपूर्ण सहयोग दिया निरन्तर मेरा उत्साहवर्धन किया उसके लिये मैं उनकी हृदय से आभारी हूँ। पूजनीय श्वशुर जी, सासजी, ज्येष्ठ श्री एवं जेठानी जी एवं अन्य परिवारीजनों ने मुझे अप्रत्यक्ष रूप से जो स्नेहपूर्ण प्रोत्साहन व सहयोग दिया उसके लिये मैं उनको कृतज्ञ हूँ। पतिदेव डा० महेशचन्द्र शर्मा जी ने निरन्तर धैर्यपूर्वक मुझे सहयोग तो दिया ही साथ ही मेरा मार्गदर्शन भी किया, उनके देवत्व व्यवहार ने मुझे शोधकार्य की व्यस्तता के क्षणों में निरन्तर प्रोत्साहित किया। पुत्र हिमांशु ने मेरे व्यस्त क्षणों में मेरे द्वारा उपेक्षित होते हुए भी अपनी किलकारियों से मेरा संबल बढ़ाया।

प्रस्तुत शोधकार्य के सम्पादन में मौलाना आजाद पुस्तकालय तथा विभागीय सेमिनार के अधिकारियों के प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने यथावसर पुस्तकें सुलभ कराकर मुझे लाभान्वित किया।

इनके अतिरिक्त मैं उन सभी विभागीय व्यक्तियों एवं मित्रों को धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने मेरी शोधावधि में मुझे सहयोग प्रदान किया।

दिनांक: 30.11.93

विद्वदजन कृपाकांक्षी  
रेनू रानी शर्मा  
॥श्रीमती रेनू रानी शर्मा॥

## विषयानुक्रमिका

## पृष्ठ संख्या

भूमिका	
1. महर्षि व्यास की वेदज्ञता एवं वेदों का संहितीकरण	1 -12
1.1 वेदों का अपहरण-नाश-ह्रास	3
1.2 महर्षि व्यास द्वारा वेदों का संहितीकरण	7
2. महाभारत में वेदाध्ययन का स्वरूप	13-40
2.1 वेदोत्पत्ति सम्बन्धी सन्दर्भ	13
2.2 वेद की प्रामाणिकता	17
2.3 वेद एवं वेदाध्ययन का महत्त्व	18
2.3.1 स्वाध्याय की प्रारम्भिक आयु	25
2.3.2 वेदाध्ययन के अधिकारी	22
2.3.3 वेदाध्ययन के अनधिकारी	32
2.3.4 अनध्याय काल	33
2.4. वेदाध्यापन	35
2.4.1 समावर्तन	39
3. यज्ञ प्रक्रिया	41-83
3.1 यज्ञ का महत्त्व-वैदिक एवं महाभारतीय विवरण	41 -
3.2 यज्ञों की सृष्टि	43
3.3 सृष्टि यज्ञ	45
3.4 यज्ञों का वर्गीकरण	46
3.5 महाभारत में वर्णित प्रमुख यज्ञ एवं तद्विषयक वैदिक सन्दर्भ	48
3.5.1 अग्नि होत्र	48
3.5.2 क्षी-पौर्णमास	50
3.5.3 पिण्डपितृयज्ञ	51
3.5.4 अश्वमेधयज्ञ	53
3.5.5 व-यमहायज्ञ	59



3. 6	ऋत्विज	62
3. 7	यज्ञ में दक्षिणा का महत्त्व	64
3. 8	यज्ञों द्वारा कामनापूर्ति	65
3. 8. 1	यज्ञों द्वारा स्वर्गप्राप्ति	67
3. 9	यज्ञिय वेदि	68
3. 10	यज्ञ में हिंसा का निषेध	69
3. 11	यज्ञों का आध्यात्मिककरण	71
3. 12. 1	यज्ञों का मानसिक अनुष्ठान	73
3. 12. 2	तपयज्ञ	74
3. 12. 3	ज्ञानयज्ञ	77
3. 12. 4	आत्मयज्ञ	80
4.	सृष्टि प्रक्रिया	84-111
4. 1	वेद एवं महाभारत में सृष्टि प्रक्रिया	85
4. 1. 2	पुरुष सूक्त में सृष्टि रचना	85
4. 1. 3	मुण्डकोपनिषद् का पौष्ट्यवाद	89
4. 1. 4	श्वेताश्वेतर उपनिषद् का शैव पौष्ट्यवाद	90
4. 1. 5	महाभारत में शैव पौष्ट्यवाद	91
4. 2	हिरण्यगर्भ सूक्त में सृष्टि सन्दर्भ	93
4. 3	नासदीय सूक्त में सृष्टि सन्दर्भ	95
4. 4	छान्दोग्य उपनिषद् का आकाशमूलक सृष्टि सिद्धान्त	98
4. 5	सांख्य का सृष्टिक्रम	100
4. 5. 1	स्थूल शरीर, लिङ्ग, शरीर	102
4. 5. 2	दैव सृष्टि, तिर्यक सृष्टि	103
4. 5. 3	महाभारत में सांख्य का सृष्टिक्रम	104
4. 5. 4	उपनिषदों में सांख्य वर्णित सृष्टि-क्रम	105
4. 5. 5	महाभारत में वर्णित वेद-उपनिषद् एवं सांख्य सृष्टि प्रक्रिया का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन	107

5.	वर्णाश्रम व्यवस्था	112-161
5.1	वर्ण व्यवस्था	112
5.1.2	वेदकालीन ब्राह्मण	117
5.1.3	महाभारतकालीन ब्राह्मण	122
5.2	वेदकालीन क्षत्रिय	127
5.2.1	महाभारतकालीन क्षत्रिय	130
5.2.2	वेद एवं महाभारतकालीन ब्राह्मण क्षत्रिय प्रतिस्पर्धा	133
5.3	वेद एवं महाभारतकालीन वैश्य वर्ण	138
5.4	वेद एवं महाभारतकालीन शूद्र वर्ण	141
5.5	आश्रम व्यवस्था	148
5.5.1	वेद में आश्रम व्यवस्था	149
5.5.2	महाभारतकालीन आश्रम व्यवस्था	153
5.6.1	ब्रह्मचर्याश्रम, रत्नातक	153-156
5.6.2	गृहस्थाश्रम	156
5.6.3	वानप्रस्थाश्रम	159
5.6.4	संन्यासाश्रम	160
6.	वैदिक आख्यान	162-212
6.1	इन्द्र आख्यान - वैदिक विवरण	162
6.1.2	महाभारत के अनुसार इन्द्र-वृत्र आख्यान	165
6.1.3	महाभारतकार द्वारा वैदिक आख्यान में की गयी नवीन उद्भावनाएँ एवं उनका प्रयोजन	167
6.2	अवतार विषयक आख्यान	174
6.2.1	वैवस्वत मनु एवं मत्स्यावतार सम्बन्धी आख्यान--- वैदिक विवरण	175
6.2.2	महाभारतकार द्वारा आख्यान में किये गये परिवर्तन एवं उनके प्रयोजन	176

6.3.1.	वराहवतार आख्यान—संहिता सम्बन्धी विवरण	179
6.3.2	ब्राह्मणों में प्राप्त विवरण	181
6.3.3	महाभारतकार द्वारा वैदिक आख्यान में किये गये परिवर्तन एवं उनके प्रयोजन	182
6.4.1	वामनावतार का आख्यान—संहिता सम्बन्धी विवरण	184
6.4.2	ब्राह्मणों में प्राप्त विवरण	185
6.4.3	महाभारतकार द्वारा वैदिक आख्यान में किये गये परिवर्तन एवं उनके प्रयोजन	186
6.5.1	व्यवन-सुकन्या आख्यान-संहिताओं में प्राप्त विवरण	188
6.5.2	ब्राह्मण ग्रन्थों में आख्यान का रूप	189
6.5.3	शतस्य ब्राह्मण में वर्णित आख्यान की मुख्य मुख्य बातें तथा ऋग्वेद से उनका अन्तर	190
6.5.4	महाभारत में आख्यान का रूप	192
6.5.5	वैदिक आख्यान पर महाभारतकार द्वारा की गई नवीन उद्भावनाओं का प्रयोजन	192
6.6.1	तौषणीयान संहिताओं में प्राप्त विवरण	195
6.6.2	महाभारत में तौषणीयान	196
6.6.3	महाभारतकार द्वारा वैदिक तौषणीयान में किये गये परिवर्तन एवं उनके प्रयोजन	197
6.7.1	नाचिकेतोपाख्यान-संहिताओं में प्राप्त विवरण	201
6.7.2	ब्राह्मणों में प्राप्त विवरण	203
6.7.3	महाभारत में नाचिकेतोपाख्यान	204
6.7.4	महाभारतकार द्वारा मूल कथानक में किये गये परिवर्तन एवं उनके प्रयोजन	204
6.8.1	शुनःशेषाख्यान-संहिताओं में प्राप्त विवरण	207
6.8.2	महाभारत में शुनःशेषाख्यान	209
6.8.3	महाभारतकार द्वारा शुनःशेषाख्यान के वैदिक रूप में किये गये परिवर्तन एवं प्रयोजन	210
7.	उपसंहार	213-219
	सहायक ग्रन्थ सूची	220-226

प्रथम अध्याय

महर्षि व्यास की वेदज्ञता एवं वेदों का संहितोक्तरण

## महर्षि व्यास की वेदज्ञता एवं वेदों का संहिताकरण

वेद शब्द की व्युत्पत्ति पर विभिन्न विद्वानों ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। विद् धातु से करण और अधिकरण कारक में व्याकरण §पाणिनि§ के "हलश्च" सूत्र से घ प्रत्यय करने से वेद शब्द बनता है। धातु पाठ में विद् धातु चार अर्थों में मिलती है। ज्ञान अर्थ में, सत्ता अर्थ में, लाभ अर्थ में तथा विचारण अर्थ में। अतः जिसके द्वारा अथवा जिसमें सब मनुष्य समग्र सत्य विद्याओं को जानते हैं प्राप्त करते हैं, विचार करते हैं, विद्वान् होते हैं वह वेद है<sup>1</sup>। वेद में जिस प्रकार वेद अथवा वेदार्थक ब्रह्म, वाक् आदि पदों का प्रयोग किया गया है उससे प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में वेद एक ही था। बाद में यज्ञादि कार्यों को सहजता से सम्पन्न करने की दृष्टि से इसके चार भाग हुए। ऋग्वेद में मात्र एक स्थान पर पुष्प सूक्त में "सर्वहुत यज्ञ में ऋचाओं-सामों-यजुषों तथा छन्दों के उत्पन्न होने की बात आयी है"<sup>2</sup>। यहाँ अलग वैदिक संहिताओं का उल्लेख नहीं है। अतः ये विभिन्न प्रकार के मन्त्र हो सकते हैं। क्योंकि इन मन्त्र समूहों के अध्ययन द्वारा विद्वान् ऋषियों ने समग्र विद्याओं को जाना, ज्ञान प्राप्त किया, विचार किया तथा विद्वान् हुए, अतः इन मन्त्र समूहों का नाम वेद पड़ा। प्राचीन काल में वेद का पठन-पाठन गुरु शिष्य परम्परा में श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा सम्पन्न होता था। अतः लेखन शैली के अभाव में वैदिक मन्त्रों का संहिताबद्ध होना संभव ही नहीं था। जैसा कि महाभारत में कहा गया है कि सत्ययुग में सभी द्विज ऋचाओं, सामों और यजुषों में भेद दृष्टि न रखते हुए राग-द्वेष को मन से हटाकर तपस्या का आश्रय लेते थे<sup>3</sup>। शल्यपर्व में कुमार कार्तिक्य के जातकमौदि संस्कार देवगुरु बृहस्पति के द्वारा किये जाते समय चार स्वस्मों में अभिव्यक्त होने वाला वेद

1. ऋग्वेद भाष्य भूमिका पृ० 25 §वेदों में भारतीय संस्कृति --पं० आद्यादत्त ठाकुर, पृ. 4§

2. तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचुः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दासि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्माद जायत ॥ ऋ० 10. 90. 9 ॥

3. अपृथग्दर्शना सर्वे सामसु यजुः सु च ।

उनकी सेवा में उपस्थित हुआ<sup>1</sup> ।

ऐसा प्रतीत होता है कि वेदव्यास के द्वारा जो वेद परम्परा के माध्यम से प्राप्त हुआ था वह अन्योन्य मिश्रित था चूँकि इतस्ततः विक्षिप्त विभिन्न वेदग्रन्थों का समाहार कर उन्होंने याज्ञिक क्रिया की दृष्टि से चार भागों में उपलब्ध वेद को विभक्त किया था अतः व्यासलब्ध वेद का विशेषण "एक" देना ही ठीक था । एक का तात्पर्य है अनेक अवयवों का अवयवी<sup>2</sup> । एक वेद का चतुष्पाद विशेषण भी सर्वथा सार्थक है क्योंकि चारों प्रकार के मन्त्र ऋगादि तीन तथा अभिचार बहुल अथर्व मन्त्र उस समाहृत वेद में विद्यमान थे । चतुष्पाद की व्याख्या में श्रीधर ने भी "चतुर्वेद समूह इत्य" ही कहा है । वेद का यह एकत्व औपचारिक है । वेद की एकात्मकता याज्ञिक क्रिया में परस्पर सापेक्षता को लक्ष्य कर बुद्धि के द्वारा कल्पित की जाती है । लेकिन वस्तुतः स्थिति ऐसी नहीं है । वेद एवं महाभारत में तृष्टिकाल में ही वेद के चातुर्विध्य का उल्लेख मिलता है । याज्ञिकों की वास्तविक दृष्टि में चार वेद वस्तुतः पृथक्-पृथक् हैं क्योंकि यज्ञ में वेद-भेद से क्रिया भेद स्वीकृत होते हैं । वेदानुसार ऋत्विजों की पृथक्-पृथक् स्थिति भी मान्य है । आरम्भकाल से ही वेद में चार प्रकार के मन्त्र थे अतएव आय वेद चतुष्पाद है । वस्तुतः त्रेतायुगीन संहिता प्रणयन के पहले मन्त्र इतस्ततः विक्षिप्त थे, उनका संकलन नहीं हुआ था । वेद नामक एक व्यवस्थित ग्रन्थ के रूप में मन्त्रों का अध्ययन-अध्यापन नहीं होता था । इस अवस्था को लक्ष्य कर वनपर्व में "न सामर्ग्यजुवेदार्थ" कहा गया है । उस समय वेदों का संकलन नहीं हुआ था । अतः वह अवस्था एक वेदात्मक थी ऐसा गौण दृष्टि से कहा जा सकता है । वस्तुतः प्रचलित वेद संहिताओं के

1. वैदश्चैनं चतुर्भूतिरूपतस्ये कृताञ्जलि ।। म.६.१० १. ५५. २१

2. आघोवेदश्चतुष्पादः ऋग्नि पु० १५०. २४, विष्णु पु० ३. ४. ११

पहले भी वेद संहितारैं थीं । प्रचलित ऋग्वेद के पहले भी सामादि की प्रतिदि हो चुकी थी यह निश्चित है । वैदिक ग्रन्थों में भी "वेदाः" यह बहुवचनान्त पद मिलते हैं<sup>1</sup> । अतएव अनेक वेद अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे हैं यह सुप्रमाणित है ।

### वेदों का अपहरण -नाश-ह्रास

वेद की परम्परा चिरकाल से ही परिवर्तित होती हुयी चली आ रही है और कभी-कभी वेद परम्परा की स्थिति नष्टप्राय हो जाती है जिसका उल्लेख महाभारत में स्थान स्थान पर किया गया है । शान्तिपर्व में वेदों के स्वाध्याय एवं यज्ञादि के लोप का कारण सतयुग के प्रारम्भ में मनुष्य की धार्मिक प्रवृत्ति में ह्रास तथा काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि दोषों की प्रबलता को बताया गया है । देवताओं की प्रार्थना पर यहाँ ब्रह्माजी एक नीतिशास्त्र का निर्माण करते हैं जिसके आधार पर मनुष्य लोक में धर्म और वेद की पुनर्स्थापना होती है<sup>2</sup> ।

शान्तिपर्व में ही अन्यत्र वर्णन किया गया है कि सतयुग से कलि तक किस प्रकार मनुष्य की आयु में ह्रास के साथ-साथ वेदाध्ययन एवं वैदिक क्रियाओं का क्रमशः ह्रास होते हुए लोप हुआ<sup>3</sup> । शान्तिपर्व में ही मधुकैटभ कर्तृक वेदापहरण और भगवान् हयग्रीवकर्तृक वेदोद्धार की घटना इस विषय का प्रमुख उदाहरण है । यहाँ भगवान् श्री हरि के हयग्रीव विग्रह के विषय में कहा गया है कि पुनः प्रवृत्ति धर्म का प्रचार करने के लिये ही उन्होंने उस शरीर को प्रकट किया था<sup>4</sup> ।

1. यस्मिन् वेदाः विहिताः विश्वस्था {अथर्व 4/35/6} लोका वेदा सप्तर्षय {अथर्व 19.9.12} वेदेभ्यः {तै0सं0 7/5/11/2} सर्वा च वेदान् {गोप्यब्रा01/1/16}
2. भगवन् नरलोकस्थं गृह्णन् ब्रह्म तनातनम्  
लोभमोहादिभिर्भाविततो नो भयमाविशत् ॥ महै0 12.58.24 ॥
3. संरोधादायुषस्त्वेते व्यत्यन्ते द्वापरे युगे ॥ महै0 12.238.14
4. तौ दानवौ हरिर्हत्वा कृत्वा हयशिरस्तनुम् ।  
पुनः प्रवृत्तिधर्मार्थं तामेव विदधे तनुम् ॥ 12.347.74

वेदापहरण सम्बन्धी कथाओं के अध्ययन से प्रतीत होता है कि वेद एवं वैदिक धर्म के प्रचलन में और वैदिक प्रवचन धारा में बीच-बीच में अनेक बाधाएँ उत्पन्न हुयी थीं। इन बाधाओं के कारण कुछ वेदांशों का विपर्यास और लोप भी हुआ था। असुरों द्वारा वेदापहरण से प्रतीत होता है अत्याचारी और तामस प्रकृतियुक्त वेदविरोधी सम्प्रदायों के द्वारा ही वैदिक धर्म में बल्लभा उत्पन्न की गयी थी जिससे वैदिक धर्म बहुत कुछ भ्रष्ट भी हुआ था। भीषण बाधाओं के रहते हुए भी वैदिक धर्म की जो धारा अंशतः प्रचलित रही है यज्ञेश्वर विष्णु की कृपा से ही ऐसा सम्भव हो सका है। अतः विष्णु या उनके मत्स्य दृग्गोच आदि किसी दिव्य रूप को ही वेदोद्धारक के रूप में चित्रित किया है। शान्ति पर्व में ही कहा गया है कि जब भी वेद का नाश होता है तब भगवान विष्णु उसका पुनरानयन करते हैं<sup>1</sup>। यहीं यह भी कहा गया है कि "जैसे अरणि प्रज्वलित अग्नि को प्रकट करती है उसी प्रकार देवकी देवी ने इस भूतल पर रहने वाले ब्राह्मणों, वेदों और यज्ञों की रक्षा के लिये उन भगवान को वसुदेव जी के तेज से प्रकट किया था<sup>2</sup>।

दर्शन ग्रन्थों में भी प्रलयकाल में वेदनाश और उसके बाद वेद सम्प्रदाय प्रवर्तन का उल्लेख मिलता है<sup>3</sup>। अयं शाखाभेदो विच्छेदे पुनः पुनः भवति इति आगमः। यह भट्टहरि वाक्य भी वेद की प्रवाहनित्यता को ही लक्ष्य करता है<sup>4</sup> ऐसे उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि वेद के अङ्गविशेषों के लोप तथा वेद सम्प्रदाय का उच्छेद चिरकाल से होता आ रहा है पुराणों में जो "प्रतिमन्वन्तरं चैव श्रुतिरन्या विधियते"

1. यदा वेद श्रुतिर्नष्टा मया प्रत्याहृता पुनः ॥ महट्ट १२. ३३. १०५

2. यं देवं देवकी देवी वसुदेवादजीजनत् ।

धौमस्य ब्रह्मणो गुप्त्यै दीप्तमग्निमिवारणि ॥ महट्ट १२. ३३. १०५

3. न्यायभाष्य तात्पर्यटीका २/१-६७

4. वाक्यपदीय १/६ की हरिटीका

५. मत्स्य पुराण १५५/५८, वायु पुराण ५९/५६



कहा गया है उसका भी यही अभिप्राय है कि यथाकाल वेद के लोप और नूतन वेदांश के निर्माण होने के कारण वेद में कुछ न कुछ पार्थक्य आ जाता है । विभिन्न मन्वन्तरों में व्याप्तों के वेदविभाग आदि उल्लेखों से भी यह अनुमानित होता है कि चिरकाल से वेद कोई अपरिवर्तनीय शब्दराशि की तरह विद्यमान नहीं है बल्कि उसमें नाना प्रकार के परिवर्तन होते आ रहे हैं ।

भारतीय आचार्यों को यह ज्ञात था कि केवल वेद ही नहीं बल्कि सभी धर्म या शास्त्र सम्प्रदाय कालावच्छिन्न होते हैं उदाहरणार्थ नारायणीय उपाख्यान में नारायणीय धर्म के बहुधा लोप होने का उल्लेख मिलता है<sup>1</sup> । श्रीमद् भगवद्गीता में भी योग की कालनष्टता कही गयी है<sup>2</sup> । अतः वेद सम्प्रदाय या श्रौतधर्म का भी यथाकाल नाश होता है और पुनः उपयुक्त निमित्त से उसका प्रादुर्भाव होता है । यह मत भारतीय दर्शन परम्परा में सर्वथा अनुमत है ।

महाभारत में उल्लिखित रकार्णवावस्था में या प्रलयान्तर सृष्टिकाल में असुरों द्वारा वेदावहरण की कथा से प्रतीत होता है कि महाभारतकार समझे थे कि सृष्टि के आरम्भ से ही वेद का प्रवर्तन होता है और वेदारम्भ काल से ही वेदविरोधी सम्प्रदाय सक्रिय रूप से वेद का नाश और अपहरण करना चाहते हैं । वैदिक धर्म के विरोधी चिरकाल से ही हैं । वैदिक ग्रन्थों में भी असुरों को प्राजापत्य ऋषिपति से जात<sup>3</sup> कहा गया है<sup>3</sup> । असुर कर्तृक वेद के अपहरण का वर्णन करना महाभारतकार की दृष्टि में उचित ही है ।

वेदोद्धार कर्ता के रूप में विष्णुरूप मत्स्य और हयग्रीव का मुख्यतः उल्लेख है । विष्णु सत्त्वगुण अधोष्ठित देव हैं । पालन-रक्षण क्रिया विष्णु ही

1. गुणैश्च तययोगमुपैति शीघ्र कालो यथार्तावृत्तसम्प्रयुक्तः । महो 12. 347. 95

2. एवं परंपरा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।

त कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ गीता 4. 2 ।

3. शतपथ ब्राह्मण 1. 7. 2. 22

करते हैं। अतः उन्हीं के द्वारा वेद रक्षण रूप कार्य सम्पन्न होता हुआ दिखाया गया है। यह भी कहा जा सकता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में "यज्ञो वै विष्णुः" कहा गया<sup>1</sup> है यज्ञ प्रतिपादक वेद की रक्षा के लिये विष्णु का चेष्टा करना महा-भारतकार की दृष्टि में समीचीन है। मत्स्य की आदिम अवतार के रूप में प्रायः माना जाता है। अतः प्रलयकाल में वेदों का रक्षण-कार्य मत्स्य के द्वारा ही किया जाता है<sup>2</sup>। हयग्रीव का आविर्भाव सृष्टिकाल में घटित होता हुआ बताया गया है<sup>3</sup>। इससे प्रतीत होता है कि चाहे प्रलय हो या सृष्टिरचना, वेदों की रक्षा हर हालत में की जाती थी तथा इन अवस्थाओं में विष्णु जैसी देवी शक्ति ही इस कार्य को निर्विघ्न सम्पन्न करने में सक्षम थी।

कहीं-कहीं अनावृष्टि आदि को भी वेदों के स्वाध्याय के ह्रास एवं विस्मरण के कारण रूप में उल्लिखित किया गया है। द्वादश वर्षीय दीर्घकालिक अनावृष्टि के कारण सभी श्रेष्ठ ऋषिजनों को भूख पीड़ित होकर स्वाध्याय के अभाव में वेदों का विस्मरण हो जाता है। तब सारस्वती देवी की आज्ञा से सारस्वत ऋषि देवी प्रदत्त भक्तियों से देवताओं, पितरों तथा स्वयं को तृप्त करते हुए वेदाध्ययन नियमित रूप से करके वेदों की रक्षा करते हैं। अनावृष्टि समाप्त होने पर अन्य ऋषिगण भी महर्षि सारस्वत से वेदों का उपदेश पाकर पुनः धर्म का अनुष्ठान करने लगे<sup>4</sup>। पद्म पुराण 1/43-45 में भी आङ्गिरस पुत्र सारस्वत के द्वारा वेद के अध्यापन का प्रसङ्ग है। यहाँ भी "येन यत् पूर्वमभ्यस्तं तस्य तद् समुपस्थितं" कहा गया है<sup>5</sup> इससे भी सिद्ध होता है कि वेद का सम्प्रदाय विच्छिन्न होता हुआ भी

1. शतपथ 1/1/2/13

2. महत् 3. 187. 12-32

3. महत् 12/347

4. शल्प 52. 41 --52

5. पद्म पुराण 1/39/45

बहुत कुछ अविकृत रूप से चला आ रहा है ।

### महर्षि व्यास द्वारा वेदों का संहिताकरण

महाभारत में महर्षि व्यास को वेदों के संहननकर्ता के रूप में उपस्थित किया गया है । आदिपुस्तक नारायण के स्वस्व भूत पूर्व पुस्तक नारायण की छोटी पीढ़ी में महर्षि व्यास का जन्म हुआ<sup>1</sup> । आदि पर्व में कहा गया है कि वसिष्ठ के पुत्र पराशर तथा पराशर पुत्र कृष्ण द्वैपायन व्यास थे<sup>2</sup> । शान्तिपर्व में कहा गया है कि सातवें कल्प में सातवीं बार भगवान् नारायण ने अपने नाभि-कमल से ब्रह्माजी को उत्पन्न करके उन्हें जड़चेतन सहित नाना प्रकार की सृष्टि करने का आज्ञा दिया । साथ ही साक्षात् मूर्तिमती बुद्धि को योगशक्ति से सम्पन्न कर सृष्टि रूप अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिये ब्रह्मा जी के भीतर प्रविष्ट करा कर उन्हें सृष्टिविषयक बुद्धि से सम्पन्न किया । ब्रह्माजी द्वारा सृष्टिकार्य सम्पन्न करने पर जब भगवान् नारायण ने पृथ्वी को दानवी वृत्ति वाले लोगों से अत्यधिक पीड़ित होते देखा तो मन ही मन अवतार धारण कर पृथ्वी को पापियों के भार से मुक्त करने का विचार बनाया । तब उन्होंने "भोः" शब्द से समस्त जिज्ञाओं को प्रतिध्वनित करते हुए सरस्वती वाणी का उच्चारण किया । इससे वहाँ सरस्वत का आविर्भाव हुआ<sup>3</sup> । भगवान् आदि पुस्तक नारायण की आज्ञा से अवान्तरतमा वेदों की व्याख्या के लिये ऋक्-साम-यजुष आदि श्रुतियों का पृथक् पृथक् सङ्ग्रह करते हैं<sup>4</sup> । उनके इस कार्य से तथा उनके द्वारा की गयी तपस्या, यम, नियम और संयम से सन्तुष्ट होकर श्री हरि उन्हें सभी मन्वन्तरों में धर्म का प्रवर्तक होने का वरदान देते हैं<sup>5</sup> । दापर एवं कलियुग के सन्धिकाल में महर्षि वसिष्ठ के

1. आदि० ११.८.१०

2. वही, 57. 20

3. सरस्वतीमुच्चवार- - - - - वाक्सम्भवः प्रभुः ॥ शान्ति० 349. 39

4. भूतभक्ष्यभविष्यज्ञ- - - - - एतद् वचनं मुने ॥ वही 349. 40-42

5. तपसा च सुतप्तेन- - - - - स्वमेव प्रवर्तकः ॥ वही 349. 43

वंशज पराशर नाम के अत्यन्त यशस्वी ऋषि के पुत्र रूप में सत्यवती नामक कुमारी कन्या के गर्भ से जन्म लेकर वे पुनः वेद का विभाग करने का वरदान भी देते हैं<sup>1</sup> ।

शान्तिपर्व में वर्णित अपान्तरतमा विषयक इस आख्यान का शांथपर्व में वर्णित ब्रह्मर्षि सारस्वत के आख्यान में सीधा सम्बन्ध प्रतीत होता है । संभवतः वहाँ वर्णित सारस्वत ऋषि शान्तिपर्व में वर्णित सारस्वती पुत्र सारस्वत अपान्तरतमा ही है जो भीष्म अनावृष्टि में भी दैवी शक्ति सम्पन्न होकर वेदों की रक्षा का कार्य करते हैं तथा अनावृष्टि स्वयं ब्रह्माजी के द्वारा सम्पादित वह कार्य है जिसके द्वारा वे पृथ्वी को पापियों के भार से मुक्त करना चाहते थे । ऐसी दीर्घकालीन अनावृष्टि में तपोबल सम्पन्न मनुष्य ही जीवित रह जाये होंगे । पापियों का तो स्वयं ही सर्वनाश हो गया होगा । यही सारस्वत अपान्तरतमा भविष्य में महर्षि पराशर के तेज से उत्पन्न होकर कृष्ण द्वैपायन व्यास के रूप में वेद का विभाग भी करते हैं ।

इसी विषय में आचार्य शाङ्खर अपने वेदान्तसूत्र शाङ्खर भाष्य में लिखते हैं कि अपान्तरतमा नाम का वेदाचार्य और प्राचीन ऋषि ही कलि द्वापर की सन्धि में विष्णु की आज्ञा से कृष्ण द्वैपायन के रूप में उत्पन्न हुआ<sup>2</sup> ।

अहिंसेय संहिता के अनुसार वाक् का पुत्र पाच्याय जिसका दूसरा नाम अपान्तरतमा था, कालक्रम में विपर्यय होने से त्रेता युग के आरम्भ में विष्णु की आज्ञा से अपान्तरतमा, कपिल और हिरण्यगर्भ ने क्रमशः ऋक्, यजुष, साम, सांख्य व योग आदि का विभाग किया<sup>3</sup> ।

महर्षि व्यास के वेदज्ञ होने का प्रमाण शान्तिपर्व के उस श्लोक में मिलता है जहाँ कहा गया है कि शुक्रदेव जी के जन्म लेते ही रहस्य और सङ्ग्रह संहिता

1. यं मानसं वै- - - - तपसो निवातः ।। वहीशान्ति0 349. 49-50

2. दृष्टव्य ब्र0 सू0 4

3.

वेद उसी प्रकार उनकी सेवा में उपस्थित हो गये जिस प्रकार वे उनके पिता वेद-  
व्यास की सेवा में उपस्थित हुए थे<sup>1</sup> । शान्तिपर्व में ही "वेदार्थकृतुर्व्यासस्य"  
पद के द्वारा महर्षि व्यास की वेदज्ञता को दर्शाया गया है । महर्षि व्यास न  
केवल वेद अपितु वेदार्थ को भी सम्यक् रूप से जानने वाले थे<sup>2</sup> ।

पूर्वोक्त उद्धरणों में महर्षि वेदव्यास कृत जिस वेद विभाग की चर्चा  
की गयी है उसके विषय में शान्तिपर्व में कहा गया है कि त्रेता एवं कलियुग के  
सन्धिकाल में सत्यवतीनन्दन व्यास ने अपने चार शिष्यों वैशम्पायन, पौल, सुमन्तु  
एवं जैमिनी तथा अपने पुत्र शुक्रदेव जी को वेदों की विधिवत् शिक्षा दी<sup>3</sup> । उनके  
वे चारों शिष्य महर्षि व्यास की आज्ञा पाकर वेदों के अनेक विभाग करके उनका  
प्रचार करते हैं । गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों के यज्ञादि वैदिक  
कर्मकाण्डों का प्रचार-प्रसार करते हैं<sup>4</sup> ।

महाभारत में दिये गये सभी उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि  
इस मन्वन्तर में प्रचलित वैदिक शाखाओं का आरम्भ कृष्ण द्वैपायन व्यास से ही  
माना गया है । महोदर तथा भट्टभास्कर आदि आचार्य व्यास से ही इस युग  
की वेद-परम्परा का आरम्भ मङ्गनते हैं<sup>4</sup> । व्यास से पहले वेदों की कोई सुप्रचलित  
व्यवस्थित परम्परा नहीं थी । वेद इतस्ततः विकीर्ण थे । महर्षि व्यास ने ही  
प्रचलित वेदांशों का संकलन कर वेदों को याज्ञिक कर्मानुसार व्यवस्थित रूप दिया ।  
व्यास के बाद उनके शिष्य क्रमशः अधीत शाखाओं का प्रवचन करते रहे जिससे अनेक

1. उत्पन्न मात्रं तं वेदाः - - - - यथास्य पितरं तथा ॥ शान्ति० 325-22

2. शान्ति० 207-25

3. अवतीर्य महो ते य चातुहोत्रमकल्पयन्- - - ॥ 12. 323. 8 ॥

4. माध्यन्दिनसंहिता भाष्यारम्भ, तैत्तिरीय संहिता भाष्यारम्भ

शाखाएँ बनती गयीं । यही कारण है कि वेद की शाखाओं की संख्या में मतभेद पाये जाते हैं । सभी शाखाएँ यदि एक साथ बनी होतीं तो शाखा संख्या में मतभेद नहीं होते । प्रधानशाखा, अप्रधानशाखा, मूलशाखा इत्यादि शब्दों का व्यवहार ही प्रमाणित करता है कि प्रचलित शाखाएँ क्रमशः बनी हैं ।

पृथक्-पृथक् प्रणयन होने के बाद उन मन्त्रों का संकलन कर चार वेदों के रूप में विभाग कब किया गया था इसका निर्णय करना अत्यन्त दुष्ट है । चार ऋत्विजों के विभिन्न कर्मों का उल्लेख 10/61/11 में मिलता है<sup>1</sup> । अतः ऋग्वेद प्रणयन के भी बहुत पहले से यह चतुर्धा विभाग चला आ रहा है । मन्त्र संकलन के समय में याज्ञिक क्रिया की सुविधा की दृष्टि से मन्त्रों का चतुर्धा वर्गीकरण किया गया था । इतना ही इस विषय में कहा जा सकता है । महाभारत में यह कहा गया है कि प्रति मन्वन्तर में व्यास द्वारा वेद का चतुर्धावर्गीकरण किया जाता है । यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्य है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि वेद का चतुर्धा विभाग भी चिरकाल से कुछ न कुछ बदलता आया है । वस्तुतः वर्तमान मन्वन्तर में वेद का विभाग करने वाले कृष्ण द्वैपायन व्यास से पहले जो व्यास थे उनके द्वारा किस रूप में वेद का चतुर्धा विभाग किया गया था यह अज्ञात है, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि विभिन्न व्यासों के द्वारा विभिन्न कालों में जो विभाग किये गये थे वह समान नहीं थे । वेद की परम्परा चिरकाल से ही युगभेदानुसारी परिवर्तित होती चली आ रही है । जिन महापुरुषों के द्वारा नष्टप्राय विशीर्ण वेदधारा का कालोपयोगी परिवर्तन कर पुनः व्यवस्थित रीति से प्रवर्तन किया जाता है वे व्यास पदवाच्य होते हैं । यही कारण है कि महाभारत एवं पुराणों में वेद-विभाजक अनेक व्यासों के उल्लेख मिलते हैं । वर्तमान

1. श्रुया त्वुः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायुत्रं त्वौ गायति शक्वरीषु ।

ब्रह्मा त्वो वदति जातविषां युज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥ ऋ0।0. 72. 11

व्यास से पहले अन्य व्यास थे और उनके द्वारा भी वेद प्रवचन किया गया था । इस विषय में साक्षात् प्रमाण भी है । ऋष्यातीय शाखा नामों में ऐतरेय, शांखायन आदि नाम नहीं मिलते पर इन नामों की शाखाएँ आज भी प्रचलित हैं। यह तथ्य सिद्ध करता है कि विभिन्न कालों में वेद विभाग भी अनेक प्रकार किये गये हैं । वेद के अनेक अंश विभिन्न कालों में बने हैं । वेद में ही इसका संकेत है । क्योंकि प्रारम्भ से ही वेद अनुष्ठिति के रूप में रहा है अतः विभिन्न परम्पराओं में वेदवाक्यों में पाठान्तर हो जाना सर्वथा सम्भव है। उसके साथ नवीन मन्त्रों का संयोजन, अनावश्यक मन्त्रों का वर्जन, अस्पष्ट पद के स्थान में स्पष्टार्थक पद का स्थापन मन्त्र संहनन के कुछ काल बाद ही शाखा प्रणयन भी स्वतः ही हो जाता था । वर्तमान शाखा-विभाग के पहले कितनी बार शाखाओं का प्रणयन हुआ होगा, इसका वस्तुतः निर्णय नहीं हो सकता । इस मन्वन्तर में प्रचलित शाखाओं का आरम्भ कृष्णद्वैपायन व्यास से ही महाभारत में माना गया है । ब्रह्मसूत्र अणुभाष्य में स्कन्दपुराण के वचन से यह दिखाया गया है कि वेदों के उच्छेद होने पर व्यास रूपी विष्णु के द्वारा वेदों का उद्धार किया गया था<sup>1</sup> ।

व्यास के द्वारा वेद-विभाग के विषय में एक जटिल प्रश्न उपस्थित होता है कि इसके सम्बन्ध में कोई भी उल्लेख वैदिक संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, निरुक्त, कल्प और पूर्वोत्तर मीमांसा में नहीं मिलता । महर्षि व्यास का नाम सामविधान ब्राह्मण के वंश प्रकरण में तथा तैत्तिरीय आरण्यक में मिलता है<sup>2</sup> । पर यहाँ शाखा कर्तृत्व का प्रसङ्ग नहीं है । यदि व्यास के द्वारा ही वेद विभाग किया गया होता तो मुण्डक और बृहदारण्यक सङ्ग्राह प्राचीन ग्रन्थों में चारों वेदों का स्पष्ट उल्लेख न होता<sup>3</sup> । महाभारत में इस प्रश्न का समाधान भी किया गया है ।

1. ब्रह्मसूत्र 1.1.98

2. तै० अ० 1/9/2

3. मुण्डक उप० 1/1/5, बृहदारण्यक 2/4/10

अर्थात् कृष्ण द्वैपायन व्यास के पहले भी कई बार वेद के विभाग किये गये हैं ।  
 वस्तुतः व्यास के समय वेद अव्यवस्थित और उत्सन्नप्राय स्थिति में था । और  
 व्यास ने याज्ञिक प्रक्रिया की दृष्टि से वेद का सुविभाजन किया था । वेद  
 विभाग दो प्रकार के हैं । प्रथम एक वेद का चार भागों में विभाजन तथा द्वितीय  
 प्रत्येक वेद का शाखा भेद । वेद के चतुर्धा विभाजन का मुख्य कारण याज्ञिक  
 कर्म का निष्पादन है । शाखाभेद का मुख्य कारण यद्यपि पुत्र्यों का अल्प मेध्यत्व,  
 क्षीणायुक्तत्व आदि कहे गये हैं तथापि भेद का मुख्य कारण देशकाल भेद से याज्ञिक  
 प्रयोग और उच्चारणादि में परिवर्तन है । अग्नि शब्दार्थ "नु" का किसी किसी  
 वैदिक सम्प्रदाय में "णु" वर्णवत् उच्चारण किया जाता है । यह भर्तृहरिकृत  
 महाभाष्य टीका से ज्ञात होता है।

ऋक्, यजुष, साम की संहिताओं का संहनन श्रुतर्षियों द्वारा किया गया  
 है । संहिताओं के इस प्रकार प्रवचन होने के कारण इनमें परस्पर समान अंश भी हैं  
 और कुछ असमान अंश भी ।

-----

१. काशी से प्रकाशित दीपिकांश- पृ० ॥



# द्वितीय अध्याय

## महाभारत में वेदाध्ययन का स्वरूप

# द्वितीय अध्याय

## महाभारत में वेदाध्ययन का स्वरूप

## महाभारत में वेदाध्ययन का स्वरूप

### वेदोत्पत्ति सम्बन्धी सन्दर्भ

वेद आयों का आदि धर्मग्रन्थ है अति प्राचीन काल से ही विद्वानों द्वारा वेदों के रचनाकाल एवं रचनाकार के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। महाभारतकार वेदों की उत्पत्ति के विषय में चर्चा करते समय अपने मतानुसार वेदों को अपौरुषेय वर्णित करते हैं। इसी श्रृंखला में शान्तिपर्व में कहा गया है कि "तपस्वी, ऋषिर्वाणु, वेद एवं विज्ञान रूप दृष्टि वाले ऋषि वेद को नित्य ज्ञान सम्पन्न परमेश्वर की निःश्वासभूत वाणी मानते हैं।"। अर्थात् वेद किन्हीं विशेष ऋषियों द्वारा सोच विचार कर लिखी गयी रचना नहीं अपितु वह तो साक्षात् ब्रह्मा जी के निःश्वास हैं और श्वास चाहे मनुष्य के हों अथवा ईश्वर के सोच समझ कर नहीं आती, वह तो ब्रह्माजी के ही निःश्वास थे जो वाणी स्वरूप हुए और ऋषियों ने उनका साक्षात्कार किया और वेदों की उत्पत्ति हो सकी। महाभारत में ही अन्यत्र तपःशक्ति सम्पन्न ब्रह्मा जी की प्रथमोक्त वाणी को ही वेद कहा गया है<sup>2</sup>। भीष्म पर्व में वेद को ब्रह्मपद से अभिहित करते हुए उसे अक्षर से उत्पन्न बताया गया है<sup>3</sup>। साक्षात् परमेश्वर के निःश्वासभूत वेद के विषय में विपरीत वचन कहना अथवा सुनना उचित नहीं समझा जाता था इसीलिये महर्षि कपिल स्युमरश्मि से कहते हैं कि उस परमेश्वर के निःश्वास से निःसृत वेदों के विषय में आप विपरीत वचन क्यों कह रहे हैं<sup>4</sup>।

वेद की नित्यता का प्रमाण तो स्वयं वेद में ही है जिसमें "नित्यसा वाचा"

1. तपस्विनो धृतिमन्तः - - - - व्याहृतं विदितात्मनः ॥ महेत १२-२६८-१० ॥

2. अनादि निधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ॥ महेत १२. २३२. २४ ॥

3. कर्म ब्रह्मोदभवं विद्मि ब्रह्माक्षर समुदभवम् ॥ महेत ६. ३. १५ ॥

4. तस्यैव गत तृष्णास्य - - - - निराम्भस्य सर्वतः ॥ महेत १२. २६८ ॥ ॥

अर्थात् नित्या वाक् पद का प्रयोग वेद मन्त्रों के लिये ही हुआ है<sup>1</sup>। तैत्तिरीय ब्राह्मण के ही एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि "वाणी ऽवेदस्यावाणी ऽ परमेश्वर का अविनाशी रूप यज्ञ का प्रथम निर्माण करने वाली, वेदों की माता तथा अमृत की नाभि है।"<sup>2</sup>

अनेक वैदिक मन्त्रों के अनुशीलन से यह प्रतीत होता है कि ऋषियों को अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त था तथा दैवी प्रतिमा के सहारे उन्होंने अपने प्रतिभ यक्ष से इन मन्त्रों का दर्शन किया। ऋग्वेद में वाक् की स्तुति करते हुए उसे ऋषियों में प्रवेश करते हुए दर्शाया गया है।<sup>3</sup> मन्त्रों में ही वैदिक वाणी की नित्यता के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।<sup>4</sup> यास्क भी साक्षात्कार धर्म वालों को ही ऋषि स्वीकार करते हैं<sup>5</sup>। इसलिये इन ऋषियों को मन्त्रों का दृष्टा होना ही न्यायसंगत है, कर्ता होना नहीं। "शास्त्र्योनित्वात्" सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने ब्रह्म को वेद की योनि अर्थात् कारण अवश्य माना है<sup>5</sup>, परन्तु यह कारणाता ग्रन्थ कर्तृता के रूप में प्रकट नहीं होती। पुस्त्य निःश्वास के समान ही ऋग्वेदादि भी बिना किसी प्रयत्न के स्वतः ही आदि पुस्त्य से उत्पन्न माने गये हैं। वेद की उत्पत्ति में उस ब्रह्म का कोई प्रयत्न नहीं है, वेद नित्य हैं। महाभारत वनपर्व में भी व्यास जी का यह वचन नितान्त माननीय है कि "युग के अन्त में वेदों का अन्तर्धान हो जाता है। सृष्टि के आदि में स्वयंभू के द्वारा अनुशासित महर्षि लोगों ने उन्हीं वेदों को इतिहास के साथ अपनी तपस्या के बल पर प्राप्त किया<sup>6</sup>"। इस वचन से स्पष्ट है

1. तस्मै नूनमभियवे वाचा विस्म नित्यया ।

वृष्णे योदस्व सृष्टिदृतिम् ॥ अ० ८. 75. 6 ॥

2. वागक्षरं प्रथमजा अतस्य ॥ वेदानां माता मृतस्य नाभिः ॥ तै० ब्रा० 2. ४. 1 ।

3. यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम् ॥ अ० 10. 71. 3

4. वाचा विरूप नित्यया ॥ अ० ८. 75. 6 ॥

5. साक्षात्कृत धर्माणाः ऋषयो बभूवुः ॥

6. दृष्टव्यं ब्र० सू० 1. 1. 2 पर शांकर भाष्य ॥

कि वेद नित्य हैं, प्रलय में उसका केवल तिरोधान होता है तथा सृष्टि के आरम्भ में महर्षियों को तपोबल से पुनः उसके दर्शन हो जाते हैं ।

ऋग्वेद दशम मण्डल के पुस्त्य सूक्त में सहस्रशीर्षा, सहस्रबाहु एवं सहस्राक्ष आदि पुस्त्य के द्वारा सृष्टि रचना की कामना से किये गये सर्वहुत यज्ञ से अयाओं, सामों, छन्दों एवं यजुषों की उत्पत्ति की बात कही गयी है जिससे वेद मन्त्रों की अलौकिक उत्पत्ति के सिद्धान्त की पुष्टि होती है, यहाँ अयः सामानि तथा यजुः पदों के द्वारा ऋग्वेद सामवेद तथा यजुर्वेद सम्बन्धी मन्त्रों का उल्लेख किया गया है यह तथ्य अपने आप में पूर्णतः स्पष्ट है किन्तु यहाँ वर्णित "छन्दान्ति" पद विद्वानों के लिये विशेष चर्चा का विषय रहा है । आचार्य सत्यव्रत सामश्रयी इस विषय में कहते हैं कि "सामवेद के अङ्ग मन्त्र ऋग्वेद से उद्धृत नहीं हैं अपितु यहाँ "छन्द" पद से सभी वैदिकों को सामवेद की अयाओं का ही ग्रहण झूट होना चाहिये, क्योंकि साममूलक छन्द भी पहले पृथक् रूप से हो उद्धृत हुये थे । सामवेद, आर्चिक ग्रन्थ और उसके मन्त्र छन्द हैं । पाणिनि ने इस ओर विशेष रूप से इंगित किया है---"तो स्यादिरिति छन्दसः प्रगाथेषु" । इसके उदाहरण हैं---

"पंक्तिरादिरस्येति पांक्तः प्रगाथः" आदि । प्रगाथ केवल सामवेद में ही दिखाई देते हैं न कि अन्यत्र, सामवेद के ताण्ड्य महाब्राह्मणा में उनका विधान हुआ है । और क्योंकि साममूलक मन्त्रों का बहुत समय से छन्द नाम है इसलिये सामगान करने वाले "छन्दोगा" कहलाते हैं । कहीं भी किसी ने उन्हें अग्गा नहीं कहा । साम-वेदीय ब्राह्मणा और उपनिषदें छान्दोग्य कही जाती हैं । "छन्दोगौक्थिक" सूत्र में पाणिनी ने इसकी व्युत्पत्ति भी दी है<sup>2</sup> । तात्पर्य यह है कि जब अचार्य प्रादुर्भूत

1. तस्मापज्ञात् सर्वहुत अयुः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माजुस्तस्माद जायत ॥ अ० 10. 90. 9 ॥

2. आचार्य सत्यव्रत सामश्रयी ---श्रयी परिचय; अनु० डा० ओमप्रकाश पाण्डेय, पृ० सं० 43

हुयों तभी साम, साममूलक छन्द और यजुष भी उत्पन्न हुए । इनका उद्गम स्थान भी एक ही है । उपर्युक्त मन्त्र में सबकी एक ही साथ उत्पत्ति कही गयी है । एक अथर्ववेदीय मन्त्र में ऋचाओं, सामों, छन्दों और यजुषों को एक साथ उत्पत्ति को घोषित करते हुए "सह" शब्द भी आया है ।<sup>1</sup>

ऋषियों के अनुसार वेद अपौरुषेय हैं । ज्ञान का प्रादुर्भाव परमेश्वर से ही हुआ । इसी लिये उसे वेदान्त शास्त्र में "शास्त्रयोनि" और योगशास्त्र में "पूर्वेषामपि गुरुः" अर्थात् वेदों का भी प्रकाशक और पूर्वजों का भी गुरु कहा गया है । निरुक्तकार ने भी ऋषियों को "साक्षात्कृतधर्माणाः" अर्थात् ज्ञान को ईश्वर द्वारा साक्षात् करने वाला कहा है । बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि कहते हैं कि ये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद परमात्मा के ही निःश्वास हैं ।<sup>2</sup> वेदमन्त्रों को अक्षर से उत्पन्न मानते हुए वेद में ही कहा गया है कि "ऋचाँ परम अविनाशी शब्दस्य अक्षर में ठहरी है जिनमें देवता अर्थात् शब्द के विषय {अर्थ} ठहरते हैं । जो उस अक्षरार्थ को नहीं जानता वह ऋचाओं से क्या लाभ प्राप्त करेगा ।"<sup>3</sup> इसी मन्त्र पर पतंजलि मुनि ने कहा है कि "वाणी का विषय वर्णज्ञान है जहाँ ब्रह्म मौजूद है । इसका अभिप्राय यही है कि बिना अक्षरार्थ के वेद का ज्ञान नहीं हो सकता ।"<sup>4</sup>

1. ऋचः सामानि छन्दासि पुराणां यजुषा सह ।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः ॥ अथर्व० १७. ७. २८ ॥

2. अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसित मेतत् ।

यद्ग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो धर्वा रसः ॥

3. ऋचो अक्षरे परमे ष्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषदुः ।

यस्तन्नवेद किमुवा करिष्यति य इतदिदुस्त इमेतमासते ॥ श्व० १. १६४. ३९ ॥

4. वर्णज्ञान वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते ।

तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थं वोपदिश्यते ॥ महाभाष्य १. १२ ॥

## वेद की प्रामाणिकता

महाभारतकार ने वेदों की प्रामाणिकता का प्रतिपादन करते हुए उसे "शब्दब्रह्म"<sup>1</sup> एवं "इत पृथ्वी का ब्रह्म"<sup>2</sup> नामों से अभिहित किया है। वैदिक धर्म एवं मान्यतारों प्रत्येक आस्तिक मनुष्य के द्वारा मान्य होती थीं। इसी लिये तो श्री कृष्ण शरशय्या पर लेटे हुए भीष्म से कहते हैं कि "आप पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर के प्रश्न करने पर जो कुछ कहेंगे वह वेद के सिद्धान्त की भाँति इस भूतल पर मान्य होगा।"<sup>3</sup>

वेद-प्रमाण को सर्वोपरि मानने का कारण वेद को ईश्वर का स्वस्व, ईश्वरीय वाणी अथवा ईश्वरीय निःश्वास मानना है। ईश्वर सर्वज्ञ एवं ज्ञानमय है उसी ईश्वरीय ज्ञान की उद्भूति श्रद्धियों के माध्यम से हुई है। अतः ईश्वरीय ज्ञान में किसी प्रकार के सन्देह अथवा भ्रम की आशंका नहीं हो सकती। जो लोग वेदों को श्रद्धि प्रणीत मानते हैं वे यह भी मानते हैं कि श्रद्धियों को वह ज्ञान ईश्वर की प्रेरणा से हुआ है। श्रद्धिगण ज्ञान के उत्पन्न करने वाले नहीं हैं। ईश्वर की प्रेरणा से अपने योगादि के द्वारा परिपूत चित्त में जिस ज्ञान का उन्हें साक्षात्कार हुआ उसे वे शब्द द्वारा प्रकाश में लाये हैं।

भर्तृहरि लिखते हैं कि "जिनका चित्त पवित्र है, जिन्हें दिव्य प्रकाश आविर्भूत हो गया है ऐसे श्रद्धियों का अतीत और अनागत का ज्ञान प्रत्यक्ष से अतिरिक्त नहीं होता। इन्द्रियों की शक्ति से परे अवेद्य साधारण रूप से न जानने योग्य ॥ भावों को जो आर्षेय दृष्टि से देखते हैं उनके वचन अनुमान के द्वारा बाधित नहीं होते"<sup>4</sup>। महर्षि दयानन्द ने वात्स्यायन भाष्य का उल्लेख करते हुए लिखा है

-----

1. वेदाः प्रमाणां लोकानां- - - - -शब्दब्रह्म परं च यत् ॥ शा० 270. ॥

2. भौमं ब्रह्म दिजश्रेष्ठा धारयन्ति समर्चिताः ॥ शा० 56. 26 ॥

3. वेद प्रवाद इव ते स्थास्यते वसुधा तले ॥ शा० 54. 29 ॥

4. आविर्भूत प्रकाशानाम्- - - - -नानुमानेन बाध्यते ॥ भर्तृहरि

“आप्त वह है जिसने धर्म का साक्षात्कार कर लिया है”<sup>1</sup>। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि श्रुति शब्द दृष्टि का समानार्थक माना गया है और वह प्रत्यक्ष ज्ञान का द्योतक है और इसी कारण वह स्वतः प्रमाण माना जाता है।

### वेद एवं वेदाध्ययन का महत्त्व

महाभारतकार व्यास ने जहाँ अपने ग्रन्थ वेद के गुप्ततम रहस्य की व्याख्या की है वहीं उन्होंने विभिन्न उद्धरणों का प्रयोग करते हुए वेद के महत्त्व का भी प्रतिपादन किया है। वेद की विशालता का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि वेदज्ञ पुरुष सभी विषयों को जानते हैं क्योंकि वेद में सभी विषय प्रतिष्ठित हैं। जो वस्तु वेद में है और जो नहीं है उन सबकी स्थिति वेद में बतायी गयी है<sup>2</sup>। अन्यत्र वे कहते हैं कि वर्षा द्वारा किये गये समस्त प्राणियों के पोषण के समान वेद प्रत्येक युग में सम्पूर्ण योगाङ्गों का पोषण करते हैं<sup>3</sup>।

महाभारतकार वेद के ब्राह्मण भाग को भी वेद के अन्तर्गत ही मानते हैं। इसी लिये वे जिस प्रकार वेद के महत्त्व को वर्णित करते हैं उसी प्रकार ब्राह्मण भाग के विधि वाक्यों के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिये बिना किसी अन्य का सहारा लिये मात्र वेद विधि का सहारा लेकर अकेले ही धर्म का आचरण करने की शिक्षा देते हैं<sup>4</sup>। साथ ही वे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चतुर्वर्ग की प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य से लेकर सन्यासाश्रम पर्यन्त वेद को महत्त्वपूर्ण वर्णित करते हैं तथा शब्दों में भी वैदिक मन्त्रों को श्रेष्ठ बताते हैं<sup>5</sup>।

1. आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा, यथादृष्टस्यार्थस्य, चित्प्रापयिष्या प्रयुक्त उपदेष्टा ॥  
अग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृ० 23

2. सर्वविदुर्वेदविदो वेदे सर्व प्रतिष्ठितम् ॥ शा० 270.43

3. यथा सर्वाणि भूतानि- - - -वेदो युगे युगे ॥ शा० 270.18

4. केवलं विधिमासाध सहायः किं करिष्यति ॥ शा० 193.32

5. शब्दानां प्रवरो मन्त्रो ॥ शा० 12.11 ॥

शास्त्रों में वेद को सम्पूर्ण धर्मों का मूल कहा गया है<sup>1</sup> । महाभारत के कवि की दृष्टि में भी वेद धर्म का ही प्रतिरूप है । लोक पितामह ब्रह्माजी ने ही सर्वप्रथम उत्पन्न होकर सृष्टि के प्रारम्भ में तपोबल से वेदों की रचना की जिसका प्रमुख ध्येय यही था कि वह आगे जिस मानवी सृष्टि की रचना करे वह धर्म का पालन करे एवं विचारों की सात्त्विकता में वृद्धि हो<sup>2</sup> । शिष्ट पुस्तकों के द्वारा वेदोक्त विधान को दृष्टिपथ में रखते हुए किया गया उपदेश ही असमर्थ पुस्तकों के द्वारा अनुकरणीय माना जाता था<sup>3</sup> । महाभारतकार वेदों के स्वाध्याय तथा यज्ञ आदि वैदिक कर्मों का लोप होना ही धर्म के विप्लव का सूचक मानते हैं<sup>4</sup> ।

वेदों को सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति एवं स्थिति का मूल बताते हुए महर्षि व्यास कहते हैं कि "धर्मयुक्त श्रेष्ठ ब्राह्मण वेदों का स्वाध्याय करते हैं वेदों से ही यज्ञ प्रगट हुआ है । यज्ञ देवताओं को तृप्त करता है । तृप्त हुए देवता इन्द्र से प्रजा के लिये प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं । इससे इन्द्र प्रजाजनों पर अनुग्रह करके समय पर वर्षा द्वारा खेती उपजा कर उन्हें अन्न देता है । समस्त प्राणियों के प्राण सदा अन्न पर ही टिके हुए हैं<sup>5</sup> । वेद की व्यापकता का प्रतिपादन करते हुए समस्त आगम शास्त्र और प्रवृत्तियों को वेद से ही उत्पन्न बताया गया है<sup>6</sup> ।

सायणा के शब्दों में वेद का वेदत्व यही है कि वह प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा अगम्य अथवा अबोध तत्त्वों का सुगमता से बोध कराता है । वेद का स्वस्व

1. वेदोऽखिलो धर्म मूलम् ॥ मनु० 2. 6 ॥

2. यश्च वेदः स वै धर्मो यश्च धर्मः स सत्पथः ॥ शा० 121. 57

3. यज्योपदिश्यते शिष्टैः- - - - -स धर्म इति निश्चयः ॥ शा० 59. 5 ॥

4. विप्लुते शरलोके वै- - - - -धर्मो नाशमयागसत् ॥ शा० 59. 21 ॥

5. धर्मयुक्ता द्विजश्रेष्ठा- - - - -नित्यमन्ने प्रतिष्ठिता ॥ शा० 120. 38 ॥

6. यानिहागमशास्त्राणि- - - - -प्रवृत्तानि यथाक्रमम् ॥ 13. 122. 4 ॥



यही है कि वह प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा जिस वस्तु का ज्ञान न हो सके उसका भी ज्ञान कराता है<sup>1</sup> । भारतीय विचार, भावना विश्वास और उसको अभिव्यक्त करने वाले साहित्य को भली भाँति समझने के लिये वेद एक मौलिक साधन है । मनु के अनुसार वेद पितृगण, देवता तथा मनुष्यों का सदा सर्वदा विद्यमान रहने वाला यज्ञ है ।

महाभारत में स्थान-स्थान पर वेद की श्रुतियों को भौतिक इच्छाओं की पूर्ति करने वाला बताया है तथा फल की इच्छा रखने वाले मनुष्य ही वेद के मन्त्रों का उच्चारण करते हैं लेकिन जो मनुष्य किसी फल की इच्छा न रखकर मात्र मुमुक्षु होते हैं उनके लिये भी वेद परब्रह्म की प्राप्ति का साधन बताये गये हैं । अतः वेदाध्ययन प्रत्येक मनुष्य का परमावश्यक कर्तव्य था । महाभारत में जहाँ एक ओर अद्वैत धर्म में निष्ठा रखने वालों के द्वारा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा सकाम इच्छित्यों को ज्ञान रूप तपस्या से भिन्न देखकर उन सबको त्याग कर ज्ञान रूप तपस्या में ही संलग्न होने की बात कही गयी है<sup>2</sup> वहीं दूसरी ओर शब्द ब्रह्म में पररंगत होकर परब्रह्म के तत्त्व का निश्चय कर ब्रह्मज्ञान में स्थित रहने वाले को ही ब्राह्मण कहा गया है<sup>3</sup> । उक्त तथ्यों का अभिप्राय यह है कि ऋक्, यजुः और सामवेद एवं सकाम यज्ञ यह सम्पूर्ण ज्ञान मिलकर भी ब्रह्मज्ञान भले ही न करा सके परन्तु ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के योग्य अवश्य बनाता है । जिसने वेदों का नियमित स्वाध्याय नहीं किया वह परब्रह्म की प्राप्ति नहीं कर सकता । संहिता का स्वाध्याय करने वाला द्विज परमेष्ठी ब्रह्मा को प्राप्त होता है<sup>4</sup> । जो वेदों और जानने योग्य परमात्मा को ठीक-ठीक जानता है उसी को वेदवेत्ता कहते हैं । अर्थात् वेदाध्ययन उसके जीवन

1. प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।

एनं पिन्दति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥ शान्ति ॥ १०. १०

2. पितृदेव मनुष्याणां- - - - -वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ मनु ॥ २. १५ ॥

3. य च वेदः स वै धर्मो यश्च धर्मः स तत्पथः ॥ शान्ति ॥ २१. ५७ ॥

4. यच्चोपदिश्यते शिष्टै- - - - -स धर्म इति निश्चयः ॥ शान्ति ॥ ५९. ५ ॥

5. विप्लुते नरलोके वै- - - - -धर्मो नाशमथागमत् ॥ शान्ति ॥ ५९. २१ ॥

का आवश्यक अङ्ग था<sup>1</sup> । प्रातः मध्याह्न व सायंकाल में अग्निहोत्र तो नियमित रूप से आवश्यक था ही इसके अतिरिक्त एक वर्ष, दो वर्ष या तीन वर्ष पर्यन्त होने वाले लम्बी अवधि के पशुयाग इत्यादि भी करवाये जाते थे तथा इन यज्ञों को अत्यन्त पुण्यफल दायक माना जाता था । इसी सम्बन्ध में कहा गया है कि जो ब्राह्मण वेद शास्त्रों के अनुसार यज्ञ का अनुष्ठान करता है उस पर पापों का आक्रमण नहीं हो सकता और न पाप उसे अपनी ओर खींच सकते हैं वह अपने किये हुए यज्ञों और उनमें उपयोगी पशुओं के साथ ऊपर के पुण्यलोकों में जाता है और स्वयं सब प्रकार के भोगों से तृप्त होकर दूसरों को भी तृप्त करता है<sup>2</sup>।

वेदाध्ययन करना ही मनुष्य के उत्थान तथा न करना ही मनुष्य के पतन का कारण होता है । वेद ही मनुष्य को पशुओं की कोटि से ऊपर उठाने वाले व मनुष्योचित आचरण की शिक्षा देने वाले होते हैं<sup>3</sup> । वेदाध्ययन को मात्र साहित्यिक नहीं अपितु महान् धार्मिक कृत्य माना जाता था और प्रमाद-रहित रहकर वेदाध्ययन करने वाले मनुष्यों के लिये स्वर्ग की प्राप्ति निश्चित थी<sup>4</sup> । संध्यावन्दन, गायत्री जप, इत्यादि के समान वेदाध्ययन को नित्यकर्म के भीतर परिगणित किया जाता था<sup>5</sup> । वेदों का स्वाध्याय, श्रवण, मनन-चिन्तन और वैदिक नियमों का पालन करने से ऋषि-ऋणा से उद्धार होता था जो कि मोक्ष प्राप्ति के लिये अति आवश्यक था<sup>6</sup> । वेदाध्ययन गुरु के सान्निध्य में रहकर ब्रह्मचर्यव्रत का

1. वेदा च वेदित यं च- - - - - अन्यो वातरेचकः ॥ शां० 260.42 ॥

2. न वै पापैर्ह्रियते कृष्यते वै- - - - -तर्पयते च कामैः ॥

3. कार्याकार्यमिदं चेति वाच्यावाच्यमिदं त्विति- - - - - ॥ मह० 3-145. 8 ॥

4. शतवर्ष जीवी यश्च- - - - - धृतराष्ट्रो न तत् ॥ मह० 3.102. 39 ॥

5. इतिहास पुराणानि दानं- - - - -संध्या समाहितः ॥ मह० 13.104. 39 ॥

6. विद्याभ्यास श्रवणाधारणेन ऋषयः- - - - -वात्स्यमानसमिति ॥ मह० 12.191. 9 ॥

पालन करते हुए किया जाता था<sup>1</sup>। गुरु के आश्रम के अतिरिक्त राजाश्रय में रहकर भी वेदाध्ययन किया जाता था<sup>2</sup>। प्रतिदिन प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले पंचमहायज्ञों {अध्वियज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, अतिथियज्ञ} में से अध्वियज्ञ का सम्पादन वेदों के स्वाध्याय से ही सम्भव था<sup>3</sup>। वेदों में अध्वियज्ञ को ब्रह्मयज्ञ भी कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि "स्वाध्याय ही ब्रह्मयज्ञ है। इस ब्रह्मयज्ञ की जुहुवाणी है, मन उपभूत है, यज्ञ ध्रुवा है, मेधा स्तुवा है, सत्य अवसृथ स्नान है, स्वर्गलोक इसका अन्त है। इस पृथ्वी को चाहे कितना ही धन से भरकर दक्षिणा में देकर इस लोक को जीते उतने से तिगुना या उससे भी अधिक अक्षय लोक को वह विद्वान् प्राप्त होता है जो स्वाध्याय करता है। अतः वह स्वाध्याय अवश्य करे<sup>4</sup>।" इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारतकार निराधार ही वेदाध्ययन के महत्त्व की चर्चा नहीं करते। वे वेदोक्त तथ्यों की प्रतिपहचान करते हुए इस बात की स्थापना करते हैं। शतपथ ब्राह्मण में ही कहा गया है कि "जल चलते हैं, आदित्य चलता है, चन्द्रमा चलता है, नक्षत्र चलते हैं। यदि एक ब्राह्मण किसी दिन स्वाध्याय न करे तो वह दिन ऐसा होता है जैसे उस दिन चलने वाले ये पदार्थ अचल हो जायें। इसलिये स्वाध्याय करना चाहिये। व्रत को जारी रखने के लिये एक अचा, एक यजुः, एक साम या एक गाथा या कुंवा {ब्राह्मण वाक्य} ही पढ़ लेना चाहिये<sup>5</sup>।

1. गुरुं यस्तु समाराध्य - - - - चास्यमानसमिति ॥ मETO 12.191.9 ॥

2. त्रयः शब्दाः न जीर्यन्ते दिलीपस्य निशेवने ।

स्वाध्यायघोषो ज्याघोषो दियतामिति वै त्रयः ॥ मETO 270.8 ॥

3. सदा यज्ञेन देवाश्च - - - भु-जीत नित्यशः ॥ अनुO 97.6 ॥

4. स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञस्तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेव

जुहुर्मन उपभृच्यध्रुवा मेधा स्तुव सत्यमभूथः - - - ॥ 5.6.1 ॥

5. यान्ति वा आपः एतपादित्य एति - - - वृत्त्याव्यवच्छेदाय ॥ 5.7.10 ॥

ब्रह्मयज्ञ के विषय में मनुस्मृति में कहा है कि "अध्यापनं ब्रह्मयज्ञ" अर्थात् पढ़ाना ही ब्रह्मयज्ञ है। द्विजों को चाहिये कि वे नित्य पढ़ायेँ, क्योंकि उन पर अध्विषा है। मनु कहते हैं जो नियत समय में विधि से एक वर्ष भी स्वाध्याय करता है उसको स्वाभाविक ही दूध, दही, घृत और मधु नित्य मिलते हैं<sup>1</sup>। शतपथ ब्राह्मणकार के अनुसार "जितना-जितना वह स्वाध्याय करता है उतना ही उसे यज्ञ का फल प्राप्त होता है। इसलिये वह स्वाध्याय अवश्य करे<sup>2</sup>। ऐतरेय ब्राह्मणकार स्वाध्याय को ही लोक परलोक का मार्ग, कर्तव्य कर्म, सत्य एवं ब्रह्म प्राप्ति का उपाय मानते हैं<sup>3</sup>। शतपथ ब्राह्मण का स्पष्ट कथन है कि धन से परिपूर्ण पृथ्वी का दान करने से जितना फल होता है, वेदों के अध्ययन से भी उतना ही फल मिलता है उतना ही नहीं प्रत्युत उससे भी बढ़कर अविनाशशाली अक्षय्य लोक को मनुष्य प्राप्त करता है। अतः वेदों का स्वाध्याय करना अत्यन्त आवश्यक तथा उपादेय है<sup>4</sup>।

वेदज्ञ की प्रशंसा करते हुए मनु कहते हैं कि वेदशास्त्र के तत्त्व को जानने वाला व्यक्ति जिस किसी आश्रम में निवास करता हुआ कार्य का सम्पादन करता है वह इसी लोक में रहते हुए भी ब्रह्म का साक्षात्कार करता है<sup>5</sup>। महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार षडङ्ग वेद का अध्ययन तथा ज्ञान प्रत्येक ब्राह्मण का आवश्यक कर्तव्य होना ही चाहिये<sup>6</sup>। जहाँ मनु वेदाध्यायी की प्रशंसा करते हैं वहाँ वेदान

1. यः स्वाध्यायमधीते बर्द- - - -पयोदधिघृतं मधु ॥ मनु0 2.107 ॥

2. श0 ब्रा0 1. 7. 2. 20

3. ऐ0 ब्रा0 1. 2. 5-89

4. यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं- - - - - तस्मात् स्वाध्यायो ध्येतव्यः ॥ शत0 ब्रा0 11. 5. 6. 1

5. वेदशास्त्रार्थं तत्त्वज्ञो- - - - - ब्रह्मभूयायकल्पते ॥ मनु0 12.102 ॥

6. ब्राह्मणो न निष्कारणो धर्मो षडङ्गो वेदो ध्येयो ज्ञेयश्च ॥

ध्यायी विप्र की कटुनिन्दा करते हुए कहते हैं कि जो द्विज वेद का बिना अध्ययन किये अन्य शास्त्रों में परिश्रम करता है वह जीवित दशा में वंश सहित शूद्रत्व को प्राप्त करता है। द्विज का द्विजत्व तो इसी में है कि वह गुरु के द्वारा उपनीत होकर वेद का अध्ययन करे<sup>1</sup>। शतपथ ब्राह्मणाकार वेदज्ञ मनुष्य को दिव्यत्व एवं देवत्व को प्राप्त हुआ मानते हैं<sup>2</sup>। ऋग्वेद में दार्शनिक रहस्यों को जानने वाले को पिता का भी पिता कहा गया है<sup>3</sup>। तैत्तिरीय संहिता मानव के जन्मजात तीन अणों में अक्षि-अणा से मुक्ति का उपाय विद्या प्राप्ति को ही बताता है<sup>4</sup>। शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय के महत्व को प्रमाणित करते हुए कहा गया है-----स्वाध्याय और प्रवचन करने से मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है, वह स्वतन्त्र बन जाता है। नित्य उसे धन की प्राप्ति होती है। वह सुख से सोता है वह अपना परम चिकित्सक है। उसे इन्द्रियों पर संयम होता है। उसकी प्रज्ञा बढ़ जाती है। उसे यश मिलता है। वह लोक को अभ्युद्य की ओर लगा खेता है। वह ज्ञान के द्वारा समाज के प्रति अपने ब्राह्मणोक्त उत्तरदायित्व को पूर्ण करता है। समाज अपनी आदरभावना से, दान से और सुरक्षा से उसे सन्तुष्ट करता है। विविध विषयों का अध्ययन करने वाले देवताओं को सन्तुष्ट करता है और देवता उनकी सभी कामनाएँ पूरी कर देते हैं<sup>5</sup>।

उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान का सर्वाधिक महत्व था। ब्रह्मज्ञान के द्वारा स्वयं ब्रह्मा बनना, अपने कुल की ब्रह्मज्ञता की प्रतिष्ठा करना, शोक को पार करना, पाप रहित होना, अमरता तथा गुहा ग्रन्थि से मुक्ति पाना सम्भव माना जाता था<sup>6</sup>।

1. योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र- - - - गच्छति सान्वयः ॥ मनु 2.168

2. विद्वानो हि देवाः ॥ शतपथ 3. 7. 3. 10 ॥

3. ऋ 1.164.16

4. तै 0 सं 6. 3. 105

5. शतपथ 11. 5. 7. 1--5

6. मुण्डकोपनिषद 3. 2. 9

अध्ययन एवं नैष्ठिक ब्रह्मचर्य को धर्म का प्रमुख अङ्ग माना जाता था<sup>1</sup> । विद्वान् के लिये अमरत्व अथवा स्वर्ग प्राप्ति तुल्य माना जाता था<sup>2</sup> । ब्रह्मचर्य को न अपनाने वाले को ब्रह्मबन्धु कहा जाता था<sup>3</sup> । विद्याविहीन नरक के अधिरे में गिरता था<sup>4</sup> ।

मनु के अनुसार वेद न जानने वाले एक सहस्र ब्राह्मणों को भोजन देने से अच्छा है केवल एक ही वेदज्ञ ब्राह्मण को खिलाना<sup>5</sup> । महाभारतकार भी इस मत का अनुमोदन करते हैं<sup>6</sup> ।

### स्वाध्याय की प्रारम्भिक आयु

वेद के स्वाध्याय का प्रारम्भ बालक के ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश के बाद से ही शुरू हो जाता था । कभी-कभी अध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व ब्रह्मचारी की बौद्धिक एवं शारीरिक क्षमताओं, सहनशीलता आदि की परीक्षा भी ली जाती थी । ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य बालकों के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश की आयु क्रमशः 8 वर्ष, 11 वर्ष तथा 12 वर्ष मानी जाती थी<sup>7</sup> । छान्दोग्य उपनिषद् 12 वर्ष की अवस्था से वैदिक साहित्य के अध्ययन का प्रारम्भ मानती है<sup>8</sup> । गोपथ ब्राह्मण के अनुसार 48 वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्याश्रम होना चाहिये तथा एक ही वेद को

1. छान्दोग्योपनिषद् 1.23.1

2. ईशावास्य 11

3. छान्दोग्य 6.1.1

4. बृहदारण्यक उप 4.4.11

5. मनु 3.131

6. महा ० शान्ति ० 205.15

7. मनु ० 2.36, 38

8. छा ० ३० & 1.1--2, छा ० ३० & 11.3

अभ्यासपूर्वक 12 वर्ष तक पढ़ना चाहिये । इस प्रकार चारों वेदों का अध्ययन करने वालों के लिये 48 वर्ष तक ब्रह्मचर्याश्रम में रहना आवश्यक था तथा एक वेद पढ़ने वालों के लिये बारह वर्ष का ही ब्रह्मचर्य पर्याप्त था<sup>1</sup>। वेदों के अध्ययन के क्रम से 12, 24, 36, 48 वर्ष तक ब्रह्मचर्य माना गया । छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार इन्द्र ने प्रजापति से 101 वर्षों तक शिक्षा ग्रहण की थी<sup>2</sup> । भरद्वाज ऋषि ने जीवन के तीन भाग अर्थात् 75 वर्षों तक वेदों का अध्ययन किया तथा चौथे भाग में भी वे ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक वेदों के स्वाध्याय में प्रवृत्त रहे<sup>3</sup>। छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतु के द्वारा बारह वर्षों में ही सभी वेदों के अध्ययन के प्रसङ्ग से प्रतीत होता है कि वैदिक काल के अन्तिम समय में ब्रह्मचारी स्नातक बारह वर्षों में ही वेदों में निष्णात हो जाते थे<sup>4</sup> ।

मनु के अनुसार 36 वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए तीनों वेदों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । वे ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ पाँच वर्ष से लेकर बारहवें वर्ष तक मानते हैं तथा पच्चीस वर्ष की आयु में स्नातक होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया जा सकता था<sup>5</sup> ।

महाभारतकार महर्षि ध्यात वेदाध्ययन प्रारम्भ करने का समय आठ वर्ष की आयु से मानते हैं<sup>6</sup> तथा पच्चीस वर्ष की आयु में वेदाध्यायी स्नातक की उपाधि प्राप्त करके गुरु को दक्षिणा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सकता था । इसका अभिप्राय यह नहीं की इस समय के बाद स्नातक का वेद से सम्बन्ध टूट जाता हो । वेदाध्ययन

1. गोपथ 2.5

2. छा० उ० 8.11.3

3. तै० ब्रा० 3.10.11

4. छा० उ० 6.1.2

5. मनु० 3.1, 4.1

6. ब्रह्मचारी व्रती नित्यं- - - - कुर्वन् वसेत् सदा ।। शां० 61.19

को तो चारों आश्रमों में अत्यन्त आवश्यक रूप से किया जाता था । गृहस्थों के लिये वेदों का स्वाध्याय उतना ही आवश्यक था जितना स्त्री-पुरुषों का भरण-पोषण<sup>1</sup> । वानप्रस्थाश्रम में भी आरण्यक शास्त्रों व उपनिषदों का अध्ययन आवश्यक रूप से किया जाता था ।

### वेदाध्ययन के अधिकारी

ऐतरेय आरण्यक में तीन प्रकार के विद्याधिकारी बताये गये हैं उत्तम, मध्यम और अधम । इनमें मोक्ष की इच्छा रखने वाले उत्तम प्रकार के तथा ब्रह्म विद्या की प्राप्ति के अधिकारी बताये गये हैं । हिरण्यगर्भ की प्राप्ति के द्वारा क्रमशः मुक्ति चाहने वाला मध्यम है तथा उसे प्राणाविद्या का अधिकारी बताया गया है । सन्तान एवं पशु आदि के लिये विद्या प्राप्ति के इच्छुक को अधम प्रकार का विद्याधिकारी बताया गया है तथा उसके लिये संहिता की उपासना बतायी गयी है<sup>2</sup>।

वेदाध्ययन के अधिकारी के सम्बन्ध में विचार करते हुए रुचि पर विशेष ध्यान दिया गया है । इस विषय में आचार्य सायणा का कथन है कि "प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणां के द्वारा जिस {अलौकिक} उपाय का बोध नहीं होता वह वेद के द्वारा जाना जाता है । यही वेद का वेदत्व है<sup>3</sup>।" इसके बाद वे कहते हैं कि वेद के इस उपाय रूपी विषय के प्रति जिज्ञासु व्यक्ति ही वेदाध्ययन का अधिकारी

1. भरणं पुत्रदाराणां- - - - -वदन्ति परमर्षयः ।। शान्ति 0 61.15

2. सामश्रमी सत्यव्रत, श्रयो परिचय, पेज 68

3. प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते ।

एनं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता ।।



है । निश्चित रूप से जिज्ञासु वही होगा जिसकी उसमें स्वाभाविक रुचि होगी ।

वेदाध्ययन गुरुकुल में रह कर किया जाता था । विद्यार्थी के शील, स्वभाव एवं चरित्र की परीक्षा लेने के उपरान्त ही गुरु द्वारा उसे अपना शिष्य बनाया जाता था । उपरान्त की योग्यता के मानदण्डों में मकुल, गोत्र, नाम आदि का अपना महत्त्व था, परन्तु सत्य को सर्वोपरि माना जाता था । सत्यकाम में विद्यार्थी बनने के लिये उत्साह तो था पर उसे अपने गोत्र का ज्ञान माता से पूछने पर भी न हो सका । आचार्य के पूछने पर सत्यकाम ने माता के तत्सम्बन्धी अज्ञान की चर्चा कर दी । आचार्य को विद्यार्थी के सत्य बोलने पर प्रसन्नता हुई तथा उन्होंने सत्यकाम को सत्यवादिता से ही उसके उत्तम गोत्र की सम्भावना को स्वीकार कर उससे कहा कि तुम सत्य से विचलित नहीं हुए अतः तुम ब्राह्मण से अतिरिक्त नहीं हो सकते, अतः मैं तुमको अपना शिष्य बनाऊँगा<sup>1</sup> । पिप्पलाद ने कौसल्य को प्राणा विद्या की शिक्षा के योग्य इसी कारण माना क्योंकि वह ब्रह्ममिषु था<sup>2</sup> । इसी प्रकार कठोपनिषद् के अनुसार आचार्य यम ने जब देख लिया कि नयिकेता लौकिक पदार्थों के प्रति पूर्णतः विरक्त हैं तथा ब्रह्मज्ञान प्राप्ति का अधिकारी होने योग्य है तभी वह ब्रह्मज्ञान विषयक व्याख्यान उसे देते हैं<sup>3</sup> ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का विद्याधिकार तो सर्वविदित है ही वैदिक युग के प्रारम्भ में आर्येत्तर जातियों को विद्याधिकारी माना जाता था । इसके दो उदाहरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । एक तो प्रजापति द्वारा इन्द्र के साथ विरोधन को भी अपने आचार्यत्व में 32 वर्षों के ब्रह्मचर्य के उपरान्त विद्या प्रदान करना<sup>4</sup> तथा शुक्राचार्य का असुरों का गुरु होना ।

1. छा० उ० ४. 7. 3

2. प्रश्न उ० 3. 2

3. कठ उ० 1. 20-29

4. छा० उ० ४. 1-5

मनुष्यमात्र का वेदाध्ययन में अधिकार वर्णित करते हुए यजुर्वेद में कहा गया है---“परमेश्वर कहता है कि जैसे मैं अपनी कल्याणकारिणी देववाणी का मनुष्यमात्र के लिये उपदेश करता हूँ वैसे ही तुम भी किया करो । मैंने ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों तथा अतिशूद्रों आदि सभी के लिये वेदों का प्रकाश किया है।” इस मान्यता को कुछ वैदिक उदाहरणों से भी बल मिलता है । वेद में कवच शैलूष आदि अनेक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के नाम मिलते हैं, जिन्होंने शूद्रकुल में उत्पन्न होकर ऋषित्व प्राप्त किया । ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण का रचयिता दासीपुत्र महोदास था । शूद्रों ब्राह्मणतामेति §मनु-10-65§ शूद्र की ब्राह्मणात्त्व प्राप्ति शास्त्र सम्मत है परन्तु ब्राह्मणात्त्व प्राप्ति वेदज्ञान के बिना संभव नहीं । अतः वेदों के अध्ययन में सबका अधिकार स्वतः सिद्ध है ।

वैदिक युग में ज्ञान प्राप्ति में रुचि रखने वाली स्त्रियों को विद्या प्राप्ति का अधिकार प्राप्त था । स्त्रियाँ भी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए सभी प्रकार की शिक्षाएँ ग्रहण करती थीं । पूर्वकाल में स्त्रियों का उपनयन संस्कार होता था और वे गुरुजनों से वेदों का विधिवत् अध्ययन करती थीं । स्त्रियों के उपनयन में स्वयं वेद का प्रमाण भी है । उपनयन के साथ ही यज्ञ में स्वतः अधिकार हो जाता है । श्रौतसूत्र में लिखा है “इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्” अर्थात् इस मन्त्र को पत्नी पढ़े । मन्त्र का पाठ भी तत्पर होना चाहिये । यह तभी सम्भव है जब स्त्रियाँ भी वेदज्ञ अर्थात् वेदाध्ययन को हों । तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा आ वलायन श्रौतसूत्र में भी कुछ इसी तरह की बात कही गयी है । पत्नी द्वारा मन्त्र पाठ तभी सम्भव है जब वह वेदाध्ययन में पारङ्गत हो । मन्त्र पाठ हमेशा विद्वानों से ही कराये जाते थे । इस प्रकार पुंस्त्रियों व स्त्रियों के अध्ययन के विषयों में किसी प्रकार की विषमता नहीं थी । वैदिक युग में अनेक ऋषिकाएँ वैदिक मन्त्रों को द्रष्टा तथा ब्रह्मवादिनी हुयीं ।

इनमें से लोपामुद्रा, विश्ववारा, आत्रेयी, अपाला तथा काक्षीवती, घोषा, रोशा, रोमशा आग्रणी आदि प्रमुख हैं। अथर्ववेद में स्त्रियों के ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता के विषय में कहा है कि ब्रह्मचर्य से ही कन्या युवा पति प्राप्त करती हैं<sup>1</sup>। उपनिषदों में कई दार्शनिक स्त्रियों की उच्चकोटि की विद्वत्ता का परिचय मिलता है। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ब्रह्मज्ञान के द्वारा अमर पद प्राप्त करना चाहती थी। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को सर्वोच्च ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दी<sup>2</sup>। गार्गी भी प्रख्यात दार्शनिक महिला थीं। उसने जनक की परिषद् में याज्ञवल्क्य से दर्शन सम्बन्धी रहस्यमय समस्याओं का समाधान पूछा था,<sup>3</sup> यही कारण है कि आश्वलायन गृह्यसूत्र में मैत्रेयी तथा गार्गी को प्रातः स्मरणीय माना गया है<sup>4</sup>।

महाभारतकालीन समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य सभी को वेदाध्ययन का समान अधिकार प्राप्त था, लेकिन वेद परम्परा की रक्षा करना, वेदों का अध्ययन-अध्यापन, वेदोक्त संस्कार एवं यज्ञ यागादि कराना ब्राह्मणों का कर्तव्य होने के साथ-साथ जीविका का साधन भी था। अतः उनके लिये वह अन्य वर्णों की अपेक्षा उतना ही महत्वपूर्ण भी था। वेदों का स्वाध्याय तथा तदनुसार विभिन्न राजोचित यज्ञों का अनुष्ठान प्रत्येक राजा का कर्तव्य था<sup>5</sup>। महर्षि व्यास के अनुसार "राजा को चाहिये कि पहले वह धर्माचरण पूर्वक वेदों और राजशास्त्रों का अध्ययन करे फिर सन्तानोत्पादनादि कर्म करके यज्ञ में सोमरस का सेवन करे, समस्त प्रजाओं का धर्मानुसार पालन करके राजसूय अश्वमेध तथा दूसरे-दूसरे यज्ञों का अनुष्ठान करे<sup>6</sup>।"

1. अथर्व० 9. 51. 8।

2. बृहदारण्यक 2. 4. 3

3. बृहदारण्यक 5. 15

4. आश्वलायन गृ० सू० 34. 4

5. वेदानधीत्य धर्मेण- - - - - सोम निषेव्य च ॥ शान्ति० 67. 76

6. पालयित्वा प्रजाः सर्वा- - - - - -मखानन्यास्तथैव च ॥

वेदाध्ययन करने वाला राजा ही प्रजा का पालन व रक्षा धर्मपूर्वक कर सकता है, क्योंकि राजा द्वारा रक्षित होकर ही प्रजा धर्म पालन में समर्थ हो सकती थी। अन्यथा धर्म का ह्रास होना व फलस्वरूप देवी आपदाओं का आना कोई बड़ी बात नहीं समझी जाती थी<sup>1</sup>।

वेदाध्ययन सम्पन्न मनुष्यों की लुटेरों इत्यादि से सुरक्षा के अतिरिक्त उनके धार्मिक कृत्यों के लिये पर्याप्त धन की व्यवस्था करना भी राजा का कर्तव्य होता था। इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए एक श्लोक में कहा गया है कि सम्पूर्ण वेदों और उपनिषदों का पारङ्ग. त विद्वान यदि यज्ञ करने वाला हो तथा उसका धन चोर चुरा ले गये हों तो राजा का कर्तव्य है कि उसे आचार्य की दक्षिणा देने, पितरों का श्राद्ध करने तथा वेदशास्त्रों का स्वाध्याय करने के लिये धन दे<sup>2</sup>। क्षत्रिय जाति के लिये वेदाध्ययन आवश्यक तो था किन्तु प्रायः वह ब्रह्मचर्याश्रम तक ही सीमित रह जाता था, क्योंकि क्षत्रिय राजा के जीवन में अन्य बहुत से कर्तव्य पालन तथा जिम्मेदारियाँ होती थीं। अतः वेदाध्ययन जैसे धार्मिक कृत्य को न कर पाने वालों को वह अनेक विधियों से बढ़ावा देता था। सम्भवतः इसी लिये महा-भारतकार कहते हैं--जो लोग वेद विद्या के अध्ययन-अध्यापन में अथवा वेदोक्त यज्ञ यागादि कर्मों में बाधा पहुँचाते हैं वे डकैत हैं, उन डाकुओं का वध करने के लिये ही ब्रह्माजी ने क्षत्रिय जाति की सृष्टि की है<sup>3</sup>। वेदों के स्वाध्याय तथा वेदाध्ययन करने वाले मनुष्यों के भरण-पोषण एवं रक्षा के कार्य के अतिरिक्त वेदोक्त नियमों के पालन का एक क्षत्रिय को पूरा अधिकार प्राप्त था और यह उसके लिये पुण्यफलदायक होता था। इसी लिये कहा गया है कि "पितृयज्ञों द्वारा विधिपूर्वक पितरों का, देवयज्ञों द्वारा देवताओं का तथा वेदों के स्वाध्याय द्वारा ऋषियों का यत्नपूर्वक भली भाँति पूजन करके अन्तकाल आने पर जो क्षत्रिय दूसरे आश्रमों को ग्रहण करने की इच्छा

1. न ब्रह्मचारी चरणादपेतो - - - - - दुःसहाश्चाविशान्तिः ॥ शान्तिः ०

2. हृतार्थो यक्ष्यमाणश्च - - - - - स्वाध्यायार्थमथापि च ॥ शान्तिः १६५.१ ॥

3. तस्यां प्रवर्तमानायां - - - - - क्षत्रमथासृजत् ॥ शान्तिः ० ८९.८ ॥

रखता है वह क्रमशः आश्रमों को अपनाकर परमसिद्धि को प्राप्त करता है<sup>1</sup> ।

महाभारत में वैश्य वर्ण को भी वेदाध्ययन का अधिकारी बताया गया है । परन्तु एक वैश्य के जीवन में वेदाध्ययन का स्थान गौण था<sup>2</sup> । व्यापार, पशुपालन, खेती आदि कार्यों को करने से पूर्व वैश्य के लिये वेदाध्ययन करना आवश्यक था ताकि इन सभी कार्यों को करते समय वह वेद विहित धर्म का पालन करे । कुछ ऐसा ही इस श्लोक में कहा गया है कि "जो वेदाध्ययन से सम्पन्न होकर व्यापार, पशु-पालन तथा खेती का काम करके अन्न संग्रह को रुचि रखता है वह वैश्य कहलाता है"<sup>3</sup> ।

### वेदाध्ययन के अनधिकारी

श्वेताश्वेतर उपनिषद् में ब्रह्मज्ञान के अयोग्य व्यक्तियों का विवरण देते हुए कहा है---जिसका अन्तःकरण विषय-वासना से शून्य होकर सर्वथा शान्त न हो गया हो, जो अपना पुत्र न हो तथा जो अपना शिष्य न हो ऐसे मनुष्य को इस रहस्य का उपदेश नहीं देना चाहिये<sup>4</sup> क्योंकि पुत्र और शिष्य को अधिकारी बनाना पिता और गुरु का ही काम है । अतः वह पहले से ही अधिकारी हो यह नियम नहीं है ।

महाभारतकार महर्षि व्यास भी समावर्तन के समय अपने शिष्यों को यही उपदेश देते हैं कि वेद का विस्तार करो । जिसका मन वश में न हो जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन न करता हो तथा जो शिष्यभाव से पढ़ने<sup>5</sup> न आया हो उसे

1. अर्चयित्वा प्रवर्तमानायां- - - - -क्षत्रमथासृजत् ।। शान्ति० ८९. ८ ।।

2. वृद्ध्या कृषिवणिक्त्वेन- - - - -गणितं महत् ।। शान्ति० ६१. ९ ।।

3. वाणिज्या पशुरक्षा- - - - -स वैश्य संज्ञितः ।। शान्ति० १९९. ६ ।।

4. श्वेताश्वेतर उ० ६. २१-२३ ।

5. मत्त० १२. ३०८-३१

वेद नहीं पढ़ाना चाहिये<sup>1</sup> । अन्यत्र वे कहते हैं जो मनुष्य वेद में श्रद्धा रखने वाला न हो उसे इस उत्तम ज्ञान का उपदेश नहीं करना चाहिये<sup>2</sup> ।

महाभारतकार शूद्रों के वेदाध्ययन में अनधिकार को वर्णित करते हुए कहते हैं---ब्राह्मण लोग गाँव के बीच में उच्च स्वर से वेदपाठ करके शूद्रों को सुनाने लगे तथा राजा व्यावसायिक दृष्टि से धर्म को देखने लगे इससे पहले ही मैं परलोक में चला जाऊँ<sup>3</sup> । अनधिकारी को उपदेश देने के विषय में एक शूद्र और तपस्वी ब्राह्मण का उल्लेख हुआ है जिसके अनुसार शूद्र तो तपस्या के बल पर राजा के घर जन्म लेता है जबकि उस शूद्र को उपदेश देने वाला तपस्वी ब्राह्मण उसी राजा के पुरोहित के घर में जन्म लेता है ।

#### अनध्याय काल

वैदिक युग में अध्ययन काल के मध्य अनध्याय या अवकाश के अवसर आते रहते थे । शतपथ ब्राह्मण में अनध्याय के अनेकों अवसरों का उल्लेख किया गया है । अनध्याय का अर्थ अध्ययन का पूर्णविराम नहीं होता था । केवल नवीन पाठ की छुट्टी रहती थी । पूर्वाधीत पाठ की आवृत्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता था । मेघ गरजने, बिजली के चमकने, वज्रपात, अंधड़, तूफान, भूचाल प्रभृति बाधाओं के अवसर वेदाध्ययन बन्द करने के सूचक होते थे<sup>4</sup> । अनध्याय की चर्चा गृह्य तथा धर्म सूत्रों तथा उत्तरकालिक स्मृतियों में विस्तार से की गई है<sup>5</sup> । अनध्याय के अवसरों पर अध्ययन करने से अनेक प्रकार के अनिष्ट हो सकते थे यथा, अष्टमी में अध्ययन करने

1. म० 10 । 2. 308-31

2. वही । 2. 308 32

3. वही । 2. 199. 10

4. आपस्तम्ब ध० सू० 1. 4. 12. 3 ।।

5. अ० ध० सू० 1. 3. 9. 4-1. 3. 11, मनु० 4. 102-128

से गुरु, चतुर्दशी में शिष्य तथा 15 वीं तिथि में विद्या का नाश होता है। तिथियों में प्रतिपदा, अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या में नित्य अनध्याय रहता था। मेघ की गरज, वर्षा, बिजली की चमक जैसे अवसरों पर तीन दिन का अनध्याय रहता था<sup>1</sup>। वेदों के उत्सर्जन, उपाकरणा, गुरुजनों की मृत्यु, अष्टका, भाई-भतीजे की मृत्यु पर भी तीन दिन का अनध्याय रहता था। माता पिता की मृत्यु पर बारह दिन के अनध्याय का विधान है<sup>2</sup>। उपाकर्मोपरान्त एक मास तक रात्रि के प्रथम प्रहर में वेदाध्ययन का निषेध है। अनध्याय के नियम केवल वैदिक मन्त्रों से ही सम्बन्ध रखते हैं, इनका व्याकरणा, निरुक्त आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है।<sup>3</sup>

महाभारतकार यद्यपि अतिविस्तार से अनध्याय सम्बन्धी नियमों की चर्चा नहीं करते तथापि अनध्याय काल में अध्ययन-अध्यापन के विरोध में वे कहते हैं कि जो द्विज अनध्याय काल में भी अध्ययन करता है उसके वैदिक ज्ञान और आयु का नाश हो जाता है। अतः सावधान पुंस्त्र को निषिद्ध समय में वेदों का अध्ययन नहीं करना चाहिये<sup>4</sup>। एक श्लोक में कहा गया है कि जो अनध्याय के अवसर पर स्वाध्याय नहीं करते और तपस्या में ही लगे रहते हैं वे उत्तम तपस्वी ब्राह्मण दुस्तर विपत्तियों से छुटकारा पा जाते हैं<sup>5</sup>। महाभारतकाल में वेदाध्ययन प्रतिदिन निश्चित समय पर किया जाता था किन्तु शास्त्रोक्त नियमाबुसार कोई-कोई दिन अथवा समय अनध्याय के भी होते थे।

महाभारत शान्तिपर्व में इस विषय में एक उद्धरण के द्वारा कहा गया है कि महर्षि व्यास एक बार पुत्र शुक्रदेव जो के साथ वेदों का स्वाध्याय कर रहे थे

1. अ० ध० सू० 1. 3. 11. 23

2. अ० ध० सू० 1. 3. 10. 4

3. अ० ध० सू० 1. 4. 12. 9, मनु० 2. 10. 5

4. यज्ञानध्याय काले पि- - - -नाधीयीत कदाचन ॥ अनुशा० 104-74

5. अनध्यायेषु ये विप्राः- - - -दुर्गण्यतितरन्ति ॥ शान्ति 110-13 ॥

तो वायुवेग से आँधी आने पर महर्षि व्यास शुक्रदेव जी को स्वाध्याय से रोक देते हैं तथा कहते हैं कि यह आँधी भगवान् विष्णु का निःश्वास है, जब कभी यह निःश्वास वेग से निकल पड़ता है उस समय सारा जगत् व्यथित हो उठता है । वेद भी भगवान् का निःश्वास है । उस समय वेदपाठ करने पर वायु को वायु से भय प्राप्त होता है और उस वेद को भी पीड़ा होती है । इसीलिये ब्रह्मवेत्ता पुण्य प्रचण्ड वायु चलने पर वेद पाठ नहीं करते<sup>1</sup> ।

### वेदाध्यापन

वेद के अर्थ का व वेद में निहित परम सत्य ब्रह्म का ज्ञान तभी संभव है जबकि वेद के रहस्यों को जानने वाला श्रेष्ठ आचार्य उसका ज्ञान कराये । ऋग्वेद में सर्वप्रथम इन्द्र और अग्नि को आचार्य रूप में प्रकल्पित किया गया है<sup>2</sup> । ऋग्वैदिक धारणा के अनुसार आचार्य अंगिरा के रूप में अग्नि का ही अवतार हुआ था<sup>3</sup> । इन्द्र और अग्नि का आचार्य वर्ग में अग्रगण्य होना ही आचार्यात्त्व के महत्त्व को प्रदर्शित करता है । वेद युगीन आचार्यों का वेद मन्त्रों का छुट्टा, सृष्टा एवं प्रवर्तक होना ही उनकी अपरिमित विद्वत्ता का परिचायक है । वेदयुगीन ऋषि परम्परा में वेदज्ञ आचार्य अपने योग्य पुत्रों व शिष्यों को उत्तम ज्ञान प्रदान करते थे जिसके द्वारा योग्यता प्राप्त करने पर वे अपने प्रयत्नों से ज्ञान का संवर्धन करते थे । अथर्ववेद के अनुसार "उपनयन संस्कार के अवसर पर आचार्य शिष्य को गर्भ में धारण करता है और तीन रात्रि तक उदर में उसका भरण-पोषण करके चौथे दिन उसको जन्म देता है<sup>4</sup> ।" शिक्षण के क्षेत्र में आचार्य सभी विद्यार्थियों का पिता माना जाता था<sup>5</sup>

1. शान्ति 0 325. 15-30

2. ऋ 0 1. 165. 9, 4. 20. 8

3. ऋ 0 1. 74. 5

4. आचार्य उपनयमानो- - - - -दृष्टुमभि संयति देवाः ॥ अथर्व 1. 5. 3 ॥

5. मनु 0 2. 146



वेदकालीन अध्यापक का उद्देश्य अध्यापन कार्य के द्वारा धनोपार्जन नहीं होता था न ही शिष्य आचार्य को नियमित धन देने के लिये बाध्य होता था। यह सब शिष्य की इच्छा व सामर्थ्य पर निर्भर करता था। तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली में समावर्तन संस्कार के अवसर पर आचार्य कहते हैं कि हम आचार्यों के जो सुचरित हों वे ही तुम्हारे लिये अनुकरणीय हैं, अन्य नहीं। जो हमसे श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं उनको तुम्हें आसन देना चाहिये<sup>1</sup>। इससे तत्कालीन आचार्य की विनयशीलता एवं सत्यनिष्ठता का परिचय मिलता है। शिक्षावल्ली में ही आचार्य अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि इन्द्र मेरी मेधा का संवर्धन करें, मैं अमरता धारण करूँ, मेरा शरीर अतिशय कर्मनिष्ठ बने, मेरी जिह्वा मधुरतम वाणी बोले, मैं कानों से अतिशय सुन सकूँ, मेरे द्वारा अर्जित ज्ञान का इन्द्र संरक्षण करें, मेरे पास वस्त्र, गौ, अन्न, पान आदि की सतत प्रचुरता रहे, मेरे पास ऊन वाले पशुओं की सुश्रीकता रहे<sup>2</sup>। कठोपनिषद् का यम-नचिकेता संवाद उपनिषद्-युगीन गुरु-शिष्य परम्परा में निहित उदात्तता का परिचय देता है। नचिकेता का आचार्य एवं विद्या दोनों के प्रति समानभावेन निष्ठावान् होना तथा यम का कठोर परीक्षाओं द्वारा नचिकेता उसे आत्मज्ञान प्रदान करना<sup>3</sup> अपने आप में अनुकरणीय है।

महाभारतकार के अनुसार "जो उपनयन संस्कार कराकर कल्प और रहस्यों सहित वेदों का नित्य अध्ययन कराता है उसे उपाध्याय कहते हैं<sup>4</sup>"। एक अन्य श्लोक में कहा गया है कि जो षडङ्ग युक्त वेदों को पढ़ाकर वैदिक वृत्तों की शिक्षा देता है और मन्त्रार्थों की व्याख्या करता है वह आचार्य कहलाता है<sup>5</sup>। किसी

1. तै० उ० शिक्षावल्ली ॥ ।

2. तै० उ० शिक्षावल्ली, अनु० 4 ।

3. कठ० उ० यम-नचिकेता संवाद १.१.९ ।

4. कृत्वोनयनं वेदान् - - - स योषाध्यायउच्यते ॥ १४. ९. २ ॥

5. साङ्ग. त्रय वेदानध्याप्य- - - - आचार्य सो भिधीयते ॥ १४. ९. ३ ॥

भी ब्राह्मण के अध्ययन व विद्वता का परिचायक उसका वेदज्ञान था न कि आयु । जो विद्वान् ब्राह्मण वेदाध्यापन करा सके, वेद के रहस्यों को अपने शिष्यों के समक्ष स्पष्ट कर सके वही श्रेष्ठ माना जाता था । महाभारत में प्रायः प्रश्नोत्तर शैली के द्वारा वेदाध्यापन कार्य हुआ है । शिष्यों का प्रश्न पूछना तथा आचार्य का पिता की भाँति उत्तर में व्याख्यान देना यही उनकी शिक्षा पद्धति थी ।

महाभारतकार ब्रह्मचारी के आचार-व्यवहार को चार चरणों में विभक्त करते हैं---प्रथमतः --आचार्य का नित्य अभिवादन तथा पवित्र और प्रमाद-रहित होकर मान और रोष को त्याग देना द्वितीय--मन, वचन, कर्म तथा प्राणा और धन से भी आचार्य का प्रिय करना चाहिये । तृतीय--आचार्य के उपकार का सदैव ध्यान रखते हुए और अपने संवर्धन के लिये आचार्य का उपकार मानते हुए विद्यार्थी का प्रसन्न मन से आचार्य का सम्मान करना । समावर्तन के समय आचार्य का प्रत्युपकार करना और तब भी यह न समझना कि मैं कुछ कर रहा हूँ, चतुर्थ चरण है । संध्या, स्नान, जप, होम, स्वाध्याय एवं अतिथिपूजन---ब्रह्मचारी के लिये ये छः कर्म नियत किये गये थे । आचार्य के खाने-पीने, उठने-बैठने, या सोने के पश्चात् ही वह स्वयं खाता-पीता, उठता-बैठता या सोता था<sup>1</sup> । महाभारत में कुछ शिष्यों की कर्तव्य परायणता का उल्लेख मिलता है जिनमें आरुणि, उपमन्यु, वेद तथा उतङ्ग का नाम उल्लेखनीय है<sup>2</sup> ।

वेदों का प्रवचन करना वेदों की रक्षा के साधनों में से एक था जिससे लेखन कला के अभाव में भी गुरु-शिष्य, प्रशिष्य परम्परा द्वारा वेदों को जीवित रखा जा सकता था और यह कार्य विशाल वैदिक साहित्य को कण्ठाग्र करके ही सम्भव हो सकता था । वेदाध्यापन को धार्मिक कृत्य समझा जाता था । एक श्लोक में कहा गया है कि जो ब्राह्मण अपने शिष्य को धर्मानुकूल ब्राह्मी सरस्वती {वेदवाणी} का

1. महर्षि शान्तिपर्व 61. 21, 234-22 ।

2. महर्षि आदिपर्व 3. 33. 59, 3. 19. 24

आश्वमेधिकपर्व 55. 15-16 ।

उपदेश करता है वह भूमिदान और गोदान के समान फल का भागी होता है<sup>1</sup> ।  
यहाँ "ब्रूयात" पद से स्पष्ट है कि महाभारतकाल में भी वेदाध्यापन मौखिक रूप से ही कराया जाता था ।

वेदों का प्रवचन करना तथा उस प्रवचन को ग्रहण करना, दोनों ही कार्य धर्मपूर्वक किये जाते थे । इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए अनुशासन पर्व में एक आख्यान में कहा गया है कि बारह वर्षीय अकाल में जब सभी ऋषि-मुनि एवं सामान्य जन अभावों के आधिक्य से पीड़ित होने लगे, प्रत्येक व्यक्तित्व किसी प्रकार जीवन धारण करने के उपाय में लगा रहता था और उचित खान-पान न मिलने से शारीरिक व मानसिक चिन्ता व कमजोरी के कारण स्मरणा-शक्ति पर भी उसका प्रभाव पड़ा और वेदाध्ययन लुप्त सा होने लगा ऐसे समय में सारस्वत ऋषि ने सरस्वती नदी के तट पर रहकर सरस्वती नदी द्वारा दी गई मछलियों को अपनी जीविकोपार्जन का साधन बनाकर बारह वर्षों तक वेदाध्ययन किया और अकाल समाप्त होने पर जब जन-जीवन सामान्य हुआ तब अन्य ऋषि-मुनियों को जो कि आयु में उनसे बहुत बड़े-बड़े थे वेदाध्ययन कराया । तब वहाँ उन मुनियों ने कहा "वत्स ! तुम तो अभी बालक हो । हम तुम्हारे शिष्य कैसे हो सकते हैं ।" तब सारस्वत ने उन मुनियों से कहा कि मेरा धर्म नष्ट न हो इसलिये मैं आप लोगों को शिष्य बनाना चाहता हूँ क्योंकि जो अधर्मपूर्वक वेदमन्त्रों का प्रवचन करता है तथा जो अधर्मपूर्वक उन वेदमन्त्रों को ग्रहण करता है वे दोनों ही शीघ्र ही नावस्था को प्राप्त हो जाते हैं<sup>2</sup> । सारस्वत की यह बात सुनकर उस समय साठ हजार मुनियों ने स्वाध्याय के निमित्त ब्रह्मर्षि सारस्वत की शिष्यता ग्रहण की<sup>3</sup> ।

1. यो ब्रूयाच्चापि- - - -तुल्यं सफलमश्नुते ॥ अनुशा० 69.5 ॥

2. महे० 9.51.48-49 ॥

3. महे० 9.51.50-51 ॥

### समावर्तन

अध्ययन समाप्त हो जाने पर कुछ युवक आचार्य की अनुमति से घर लौट आते थे । समावर्तन का तात्पर्य है लौटना । इस अवसर पर ब्रह्मचारी का सांस्कारिक स्नान, प्रसाधनकर्म व अलंकरण होता था । स्नान को अतिशय महत्त्व देने के कारण ही ब्रह्मचारी को स्नातक कहा जाता था । शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्मचारी के उच्च पद की प्रतिष्ठा करते हुए कहा गया है कि उसे भिक्षा नहीं माँगनी चाहिये<sup>1</sup> । स्नातक आचार्य का आश्रम छोड़ते समय उसके प्रति अपनी कृतज्ञता की भावना को अभिव्यक्त करते हुए कहता था --आप हमारे पिता हैं जो अविद्या के दूसरे पार मुखे तैरा कर ले जा रहे हैं । आप परमर्षि को नमस्कार है<sup>2</sup> । "

तैत्तिरीय उपनिषद् में समावर्तन संस्कार के अवसर पर आचार्य द्वारा किये हुए उपदेश का सारांश इस प्रकार है--सच बोलो, धर्म का आचरण करो । स्वाध्याय के प्रति असावधान न हो । आचार्य के लिये प्रिय धन लाओ । अपनी वंश-परम्परा की प्रतिष्ठा रखो । सत्य, धर्म, भूति, स्वाध्याय, प्रवचन, देव और पितृकार्य से प्रमाद न करो, माता-पिता, आचार्य और अतिथि को देव मानकर उनका सम्मान करो । निर्दोष काम करो । विपरीत कार्य मत करो । हमारे अच्छे कार्यों को अपनाओ, उनके विपरीत कार्यों को नहीं । जो ब्राह्मण हमसे श्रेष्ठ हों उनके लिये आसन दो । श्रद्धापूर्वक दान दो, बिना श्रद्धा के नहीं । श्री, ह्री, भय और स्नेहपूर्वक दान दो । यदि अपने कर्तव्य पथ के सम्बन्ध में कोई सन्देह हो तो आसपास के जो श्रेष्ठ ब्राह्मण हों, जो विनयी कर्तव्यपरायण और धर्मनिष्ठ हों उनकी आचार पध्ति के अनुरूप आचरण करो । यही आदेश है, उपदेश है, वेद का उपनिषद् है । यही अनुशासन है, यही उपासना है<sup>3</sup> ।

1. शतपथ 11. 3. 7

2. प्रश्नोपनिषद् 6. 8 ।

3. तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावली, अनु० 11 ।

महाभारत में व्यास के द्वारा दिया हुआ समावर्तन सम्बन्धी उपदेश मिलता है। उन्होंने शिष्यों से कहा---“तुम लोग वेद का विस्तार करो। तुम्हारे प्रयास से सभी अपनी कठिनाइयों से पार हो जायें। सभी कल्याण का अनुभव करें। ब्राह्मण हो जायें। विद्यार्थियों को आगे रखकर सभी वर्ण के लोगों को शिक्षा दो। वेद का अध्ययन करते रहना। यही महान् कर्म है। सदा शिष्यों का उपकार करना।” शिष्यों ने आचार्य को विश्वास दिलाया “आपकी इच्छानुसार वेदों का प्रचार करने के लिये ही हम लोग जा रहे हैं।”

समावर्तन के अवसर पर शिष्य द्वारा आचार्य को उनको इच्छानुसार दक्षिणा दी जाती थी। प्रायः स्नातक उदार राजाओं के पास दक्षिणा के धन के लिये जाते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद एवं महाभारतकालीन शिक्षक, शिष्यार्थी एवं शिक्षण-पद्धति तीनों ही उत्कृष्ट कोटि के थे। ऊँच-नीच के भेद-भाव, निंकुष्ट राजनीति एवं वैमनस्य के लिये उस वातावरण में कोई स्थान नहीं था। “वसुधैव कुटुम्बकम्” की भावना से अनुप्रेरित होकर गुरु एवं शिष्य दोनों का ही एकमात्र उद्देश्य निरन्तर ज्ञान प्राप्त करना एवं उसका योग्य समाज में प्रचार-प्रसार करना था। यही कारण है कि वैदिक युग में आज तक के विशालतम तथा सर्वश्रेष्ठ साहित्य का सृजन संभव हुआ तथा उसे हजारों वर्षों तक मात्र स्मृति-परम्परा द्वारा सुरक्षित रखा जा सका।

---

1. महा० शान्ति० 314, 315

तृतीय अध्याय  
यज्ञ - प्रक्रिया

## यज्ञ प्रक्रिया

### यज्ञ का महत्त्व-- वैदिक एवं महाभारतीय विवरण

वैदिक धर्म के तीन प्रमुख पक्ष हैं-- देवता, यज्ञ तथा दार्शनिक चिन्तन । इनमें देवताओं का ही प्राधान्य है । ऋग्वेद संहिता के अधिकांश सूक्तों में देवताओं को प्रसन्न करने के लिये स्तुति परक श्लोक ही संगृहीत हैं । इन्हीं देवताओं को प्रसन्न करने के लिये यज्ञ भी किये जाते थे । यजुर्वेद तथा ब्राह्मणों में यज्ञ संस्था का साम्राज्य है । उस युग के धार्मिक विश्वासों के अनुसार यज्ञ ही वह परम शक्तिमान् साधन था जिसके द्वारा देवता भी वशीभूत किये जा सकते थे । अग्नि में देवताओं के निमित्त जो हविष्य रूपी द्रव्य होम किया जाता था । वही यज्ञ था । वस्तुतः प्राचीन भारत में यज्ञ व्यवस्था एक वितरणा प्रणाली का ही अपरनाम था । चातुर्मास्य आदि ऋतुयज्ञों के विधान से यह तथ्य कुछ-कुछ स्पष्ट एवं सिद्ध होता है । नवशात्येष्टि यज्ञ एक कृषि यज्ञ था जिसमें नवान्न के भक्षणा का विधान था । गीता के विवरण से ही यही भाव प्रकट होता है कि यज्ञ एक वितरणा व्यवस्था का नाम था । "तृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ने श्रुति के द्वारा प्रतिपादित यज्ञों के साथ ब्राह्मण आदि वर्णों की उत्पत्ति कर उनसे कहा कि तुम लोग श्रौत तथा स्मार्त यज्ञों का अनुष्ठान कर देवताओं को प्रसन्न करो । देवताओं की प्रसन्नता के लिए किया गया यज्ञ तुम्हारे लिये अभीष्ट फलदायक हो<sup>1</sup> । " यज्ञ धातु के तीन अर्थ लगाये गये हैं--देवपूजा, सङ्गतिकरणा, दान । ये तीनों ही कार्य एक प्रकार से सामाजिक वितरणा व्यवस्था के प्रधान अंग थे । वैश्य व शूद्र अन्न उत्पन्न करते थे उसी प्रकार अन्य

---

1. सहयज्ञाः प्रजाः तृष्ट्वा -----वो तृष्ट्वष्ट कामधुक् । गीता 3/10

लोग यज्ञ भाग प्राप्त करते थे ।

सभी वेदों में यज्ञ का स्वरूप एवं महत्त्व पदे-पदे प्रतिपादित किया गया है । जन्म से लेकर स्वर्गलोक गमन तक विभिन्न अवसरों पर मनुष्यों को यज्ञ रूपी उत्सवों में ही संस्कृत किया जाता था । सभी वेद यज्ञ की आवश्यकता व अपरिहार्यता को स्पष्ट शब्दों में प्रकट करते हैं । अथर्ववेद में "अयं यज्ञो भुवनस्य नामिः" <sup>1</sup> कहकर यज्ञ का महत्त्व स्वीकार किया गया है । ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में भी कहा गया है कि संसार की उत्पत्ति यज्ञ से हुयी वही संसार का प्रथम धर्म भी था <sup>1</sup> । यजुर्वेद में भी यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कर्म के रूप में माना गया है । वहाँ यज्ञ को प्रजापति एवं विष्णु कहा गया है ।

आचार्य सायणा ने वेद का प्रमुख प्रतिपाद विषय यज्ञ को ही स्वीकार किया है । चारों वेद संहिताओं का संकलन ही यज्ञ के स्वरूप व क्रियाओं के सम्पादन हेतु किया गया यजुर्वेद तथा ब्राह्मणों में यज्ञ संस्था का साम्राज्य है तथा उसके नाना अनुष्ठानों का अत्यन्त सूक्ष्म वर्णन है ।

महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि महाभारत का र महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास भी वेदोत्तरकालीन यज्ञ प्रक्रिया से सुपरिचित थे जो अब तक एक संस्था का रूप धारण करके अत्यन्त विस्तार प्राप्त कर चुकी थी । शान्तिपर्व में कहा गया है कि तीनों लोकों में यज्ञ के समान कुछ भी नहीं है, इसलिये मनुष्य को दोषदृष्टि का परित्याग करके शास्त्रीय विधि का आश्रय ले अपनी शक्ति और इच्छा के अनुसार श्रद्धापूर्वक यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये <sup>2</sup> यहाँ तीनों लोकों में यज्ञ के महत्त्व को दर्शाते हुये अन्य जिन दो बातों पर विशेष बल दिया गया है वे हैं यज्ञ का सम्पूर्ण शास्त्रीय विधि से सम्पन्न होना तथा जो भी कार्य सम्पन्न हो रहा हो उसमें यज्ञकर्ता की सच्ची श्रद्धा होना । श्रद्धा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि "जिन दम्मी पुरुषों के यज्ञ श्रद्धा आदि दोषों के कारण यज्ञ कहलाने योग्य नहीं रह जाते वे न तो मानसिक यज्ञ के

1. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।।

2. न हि यज्ञ समं किंचित् -----श्रद्धापविश्रमाश्रित्य । मेट02. 60. 54



अधिकारी हैं और न क्रियात्मक यज्ञ के ही । श्रद्धालु पुरुष तो घी, दूध, दही और पूर्णाहुति से ही पूर्ण करते हैं । श्रद्धालुओं में जो असमर्थ हैं उनका यज्ञ गाय अपनी पूँछ के बालों के स्पर्श से, श्रद्धालु से व पैरों की धूल से ही पूर्ण हो जाता है<sup>1</sup> । श्रद्धा, संयम, शुद्धचित्त तथा यज्ञ के प्रति कर्तव्यपरायणता आवश्यक शर्तें थीं । सम्पूर्ण धर्मों का उद्देश्य यज्ञ में प्रतिष्ठित माना गया है ।

### यज्ञों की सृष्टि

यज्ञों की सृष्टि के सन्दर्भ में महाभारत में कहा है कि "तत्पुण बीत जाने पर देवताओं ने विधिपूर्वक भगवान का यजन करने की इच्छा से वैदिक प्रमाणा के अनुसार यज्ञ की कल्पना की<sup>2</sup> । तत्पश्चात् उन्होंने यज्ञ के साधनों हविष्यों, यज्ञ भाग के अधिकारी देवताओं और यज्ञोपयोगी द्रव्यों की कल्पना की<sup>3</sup> । उपर्युक्त तथ्य से प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में देवताओं का स्तवन स्तुतियों द्वारा ही किया जाता था । ऋग्वेद के स्तुति प्रधान होने से इस तथ्य की पुष्टि होती है । यज्ञों द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने की परम्परा का विकास वेदोत्तर काल में ही हुआ । यही समय था जब यज्ञों द्वारा देवताओं के यजन की परम्परा विकसित हुयी तथा यज्ञ-प्रधान यजुष्य नामक मन्त्रों का संकलन यजुर्वेद में किया गया यहाँ विधि" पद से ब्राह्मणाग्रन्थों को उपलब्ध किया गया है । वेद में जिस यज्ञ-प्रक्रिया का संक्षेप में उल्लेख मात्र हुआ है ब्राह्मणाग्रन्थ उसी यज्ञ-प्रक्रिया की व्याख्या करके उसे विस्तार प्रदान करते हैं । यजुर्वेद में यज्ञ में देवताओं के आह्वान के लिए गाये जाने वाले स्तुति परक मन्त्रों की प्रधानता है । वहाँ किसी व्यवस्थित याज्ञिक प्रक्रिया के दर्शन नहीं होते । ब्राह्मणाग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के यज्ञों को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करके उसमें की जाने वाली प्रत्येक क्रिया को विधिपूर्वक सम्पन्न करने के लिए नियम बनाये गये । यज्ञ के साधनों हविष्यों, यज्ञभाग के

1. उत यज्ञा उता यज्ञा -----सम्भरत्येव गौर्मखम् ॥ श्रुत 0363. 40

2. ततो देवयुगे व्यतीते----यष्टुमी प्तवः ॥ मह 010. 18. 1

3. कल्प मासुरथ ---यज्ञियं द्रव्यमेव च ॥ मह 010. 18. 2

अधिकारी देवताओं और यज्ञोपयोगी द्रव्यों का विस्तृत विवेचन कल्पसूत्रों में किया गया है । जिनकी रचना ब्राह्मण ग्रन्थों के उपरान्त की गयी । महाभारत के उपयुक्त द्वितीय श्लोक में उसी स्थिति की चर्चा की गयी है । यज्ञ के पात्रों की शुद्धि यज्ञ सम्बन्धी सामग्रियों के संग्रह तथा यज्ञों के वैकल्पिक विधानों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये पूर्वकाल में कल्पशास्त्र का निर्माण किया गया ।<sup>1</sup>

प्रारम्भिक वैदिक काल में यज्ञ अभी तक बन्धन रहित भक्तिपरक कर्म था जो किसी विशेषाधिकार प्राप्त पुरोहित वर्ग के सुपुर्द नहीं था न उसके छोटे-छोटे व्योरे के लिए कोई विशेष नियम बनाये गये थे । यज्ञकर्ता यजमान की स्वतंत्र भावनाओं के ऊपर आश्रित होते थे और उनमें ऋग्वेद तथा सामवेद के मन्त्रों का ही उच्चारण रहता था जिससे कि यजमान का मुख, हाथों से देवताओं के निमित्त हृदय की भावनाओं से प्रेरित होकर आहुति देते समय बन्द न हो । ज्यों-ज्यों समय बीतता गया कर्मकाण्ड ने भी अधिकाधिक औपचारिक रूप धारण कर लिया और अन्त में सर्वथा निर्दिष्ट एवं सूक्ष्म रूप में यजमान के क्षणा-क्षणा के व्यापार को प्रकट करने वाले मन्त्र भी स्थिर कर दिये गये जो व्याख्या करने, क्षमा प्रार्थना करने एवं आशीर्वाद देने के संकेत रूप से ही प्रकट किये जाने लगे । इन यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रों के संग्रह का नाम ही यजुर्वेद हुआ जिसका यज्ञ धातु से यज्ञ करना अर्थ होता है ।<sup>2</sup>

महाभारतकार कहते हैं कि "वेदों के ब्राह्मणभाग से यज्ञ का प्राकट्य हुआ यह यज्ञ ब्राह्मणों को ही अर्पित किया जाता है यज्ञ के पीछे सारा जगत् और जगत् के पीछे सदा यज्ञ लगा रहता है ।"<sup>2</sup>

1. यज्ञपात्र पवित्रार्थ-----पुराकल्प प्रकीर्तित ।। मत्तो 14. 92

2. ब्राह्मण प्रभवो यज्ञो-----यज्ञश्चानु जगत् सदा ।। शां 12. 268. 34

### सृष्टि यज्ञ

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में यज्ञपुरुष द्वारा सम्पादित किये गये यज्ञ द्वारा विशाङ्क रूपी ब्रह्माण्ड एवं सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का उल्लेख है। यज्ञ का तुल्यवस्थित एवं वैज्ञानिक रूप सर्वप्रथम पुरुष सूक्त में वर्णित हुआ। वहाँ इस यज्ञ विधि को प्रथम धर्म कहा गया है तथा परवर्ती वैदिक युग में प्रचलित समस्त यज्ञ विधियों का मूलभूत आधार भी वही सृष्टि यज्ञ रहा। यदि हम यज्ञों का वैज्ञानिक दृष्टि से परीक्षा करें तो पायेंगे कि समस्त यज्ञ विधियों को सम्पादित करने में एक तथ्य सामान्य है, वह ये कि अग्नि में जिसे आज्य की आहुति दी जाती है वह आकाश में जाने पर सघन हो जाता है तथा उस चिकनाई को आणशाल्य जलों द्वारा आत्मसात् न किये जाने के कारण उससे टकराकर जल वर्षा करते हैं वर्षा से अन्न पैदा होता है जो समस्त जीवधारियों की रक्षा करते हैं।

पुरुष सूक्त में वर्णित यही वह प्रथम धर्म है जिसका पालन प्रत्येक मनुष्य को यज्ञों का सम्पादन करके करना चाहिये। धर्म शाब्द धृ धातुज है जिसका अर्थ है धारण करना। वेद में यज्ञ को ही प्रथम धर्म बताते हुए कहा गया है कि देवताओं ने यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ किया, वे प्रथम धर्म थे। ऐसा यज्ञ करके वे देव महिमा सम्पन्न हुये और उस नाक लोक के निवासी बने जहाँ पूर्व साध्य और देव विद्यमान थे। वेद में यज्ञाग्नि को प्रथम धर्मों के अनुसार प्रज्वलित बताते हुये कहा गया है कि "विश्व भर में वरणीय यह अग्नि प्रथम धर्मों के अनुसार प्रज्वलित की गयी है और समिधा आदि के द्वारा भली भाँति बढ़ रही है। इस केशाङ्गज्वालाएँ प्रदीप्त हैं घी के द्वारा चमकी हुई यह पवित्र करने वाली सुन्दर यज्ञाग्नि देवताओं के यजन के लिये है।"

यहाँ वर्णित प्रथम धर्म से अभिप्राय उस शाश्वत अथवा प्रथम धर्म से है जो सम्पूर्ण सृष्टि का आधार बना था। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में जिस सर्वहूत यज्ञ की चर्चा की गई है वही प्रथम यज्ञ रूप धर्म को सनातन, इसलिये कहा

जाता है क्योंकि यह निरन्तर गतिशील है । वही यज्ञ जो सृष्टि के आदिकाल में यज्ञ के द्वारा सम्पन्न किया गया था और वह यज्ञ का सूक्ष्म रूप था अपने स्थूल रूप में विभिन्न भौतिक पदार्थों को लेकर मरणधर्मा मनुष्यों द्वारा सम्पन्न किया जाता है । जो याज्ञिक यज्ञ रूपी श्रृंखला को आगे ले जाने वाले होते हैं उनके सम्बन्ध में श्रुति कहती है "तुम बलवान् हो तुम अपने बल से सुन्दर हो । तुम्हारा स्तोम सुन्दर है तुम सुन्दर देवलोक को जाओ । तुमने सुन्दर प्रथम धर्म का पालन किया है तुम सुन्दर देवों व सत्पों को प्राप्त करो" ।

यज्ञ रूपी प्रथम एवं सनातन धर्म का पालन निर्विघ्न सम्पन्न कराने में अग्नि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । उनको अनुशांता करते हुए यहाँ सनातन धर्मों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "धारणा करने वाले मार्गों में जाने के लिए अत्यन्त गतिशील वैश्वानर के लिए अत्यन्त रमणीय स्त्रोत गाये जा रहे हैं । यह अमृताग्नि वैश्वानर देवों की सेवा करता है इसीलिये सनातन धर्म दूषित नहीं हो पाते वे ज्यों के त्यों निर्मल बने रहते हैं ।

अग्निहोत्र द्वा-पौर्णमास, अश्वमेध, राजसूय चातुर्मास्य आदि यज्ञों में भी इसी सनातन धर्म की स्थिति है ये उस प्रथम धर्म के सृष्टा सर्वहृतयज्ञ की अनुकृति मात्र है जिनके सहारे यह यज्ञ परम्परा प्रलयकाल तक निर्बाध गति से चलती रहती है तथा अग्नि सृष्टि में आदि पुरुष द्वारा सम्पादित सर्वहृतयज्ञ से पुनः प्रारम्भ होती है ।

### यज्ञों का वर्गीकरण

उत्तर वैदिक काल में यज्ञ संस्था अपने चरमोत्कर्ष पर थी । यही वह समय था जब यज्ञों की संख्या में वृद्धि एवं विस्तार हुआ तथा उनका वर्गीकरण भी स्थूल रूप से किया गया । मूलतः दो प्रकार के यज्ञ माने गये, श्रौत्ययज्ञ तथा स्मार्त यज्ञ । श्रौत्ययज्ञों के अन्तर्गत दृविर्यज्ञ एवं सोमयज्ञ इन दो प्रकार के यज्ञों का

1. वाज्यसि वा जिनना - - - - - देवात्सुवितो नुपतम् ॥ ४08. 15. 7 ॥

2. वैश्वानराय पृथुमाज से - - - - - सनातन दुदूषत् ॥ ४03. 3. 1.

समावेश हुआ। हविर्यज्ञ के अन्तर्गत अग्निहोत्र, द्वा-पूर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयण निरुद्ध पशुबन्ध, सौत्रामणि तथा पिण्डपितृ यज्ञ माने गये। सोमयज्ञ के अन्तर्गत अग्निहोम, उक्थ्य, षोडशी, बाजपेय, अतिरात्र, राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञों को रखा गया।

स्मार्तयज्ञ में किये जाने वाले यज्ञों को पाकयज्ञ भी कहा जाता था। इसके अन्तर्गत बलिवैश्वदेव, प चमहायज्ञ आदि दैनिक यज्ञों को रखा गया।

महाभारत में विभिन्न प्रकार के यज्ञों का वर्णन कहीं संक्षेप में, कहीं थोड़े विस्तार के साथ किया गया है। विशेष रूप से शान्तिपर्व में वैदिक, लौकिक एवं मानसिक यज्ञों के अनुष्ठान का वर्णन मिलता है। वैदिक यज्ञों के अन्तर्गत अग्निहोत्र द्वा-पौर्णमास, चातुर्मास्य, उक्थ्य, सौत्रामणि सवमेध, राजसूय, बाजपेय और अश्वमेध का उल्लेख हुआ है। लौकिक यज्ञों में जनमेजय का नागयज्ञ प चमहायज्ञ का प्रमुखता से वर्णन है। महाभारत में एक नितान्त नवीन यज्ञ-परम्परा विकसित होती दिखाई देती है। इस यज्ञ-परम्परा का निर्वाह करने वाले लोग औपनैषदिक विचारों से प्रभावित प्रतीत होते हैं। इसमें विभिन्न प्रकार के मानसिक यज्ञों का अनुष्ठान किया गया है जिसके अन्तर्गत आत्मयज्ञ, वाग्यज्ञ, जपयज्ञ मनोयज्ञ, मानस यज्ञ, कर्मयज्ञ, प्रवर्तक यज्ञ और निवर्तक यज्ञ का उल्लेख प्रमुख रूप से किया गया है।

महाभारतकालीन समाज में भिन्न-भिन्न देवताओं से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय भी अस्तित्व में आये तथा उन्होंने अपनी अलग-अलग यज्ञ-विधियाँ विकसित कीं। इन विधियों में उनके अपने-अपने आराध्यदेव का स्तवन किया जाता था। इनमें ब्रह्मयज्ञ, वैष्णवयज्ञ तथा रुद्रयज्ञ प्रमुख हैं। यज्ञ के सम्बन्ध में श्रुति में मिलता है "यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म" कर्म रूप इस यज्ञ का व्यापक प्रयोग पाया जाता है। भगवद्गीता चतुर्थ अध्याय में तेरह प्रकार के यज्ञों का उल्लेख किया गया है यथा----ब्रह्मार्पण यज्ञ, दैवयज्ञ, ब्रह्माग्नियज्ञ, योग यज्ञ, संयमाग्नियज्ञ, इन्द्रियाग्नियज्ञ, योगाग्नियज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, प्राणायामयज्ञ प्राणायज्ञ। वहीं यह भी कहा गया है कि इस प्रकार बहुत तरह के यज्ञ वितत् हैं। उन सबको कर्मजन्य समझो इस प्रकार जान लेने से मुक्त हो जाओगे।

## महाभारत में वर्णित हविर्यज्ञ एवं तद्विषयक वैदिक सन्दर्भ

### अग्निहोत्र

मैत्रायणी संहिता में अग्निहोत्र को प्रजाओं की सृष्टि कहा गया है<sup>1</sup> अर्थात् इससे प्रजाओं की उत्पत्ति होती है। प्रजापति ने अग्नि में दी गई तेरह आहुतियों द्वारा क्रमशः सात ग्राम्य पशुओं और छः ऋतुओं को उत्पन्न किया था<sup>2</sup>। उसी अग्नि को उसका भागधेय देकर प्रसन्न करने के लिये यह होम किया जाता है<sup>3</sup>। इस होम के अनुष्ठान से समृद्धि की प्राप्ति भी होती है<sup>4</sup>। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इसका अनुष्ठान प्रजा को उत्पन्न करता है<sup>5</sup> विजयी बनता है तथा लोकों को प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त अग्निहोत्री को मृत्यु के बाद भी अग्नि नष्ट नहीं करता अपितु माता-पिता के समान उसको नया जन्म देता है<sup>5</sup>। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार होम द्वारा ही अङ्गिरसों ने औषधियों को और प्रजापति ने अग्नि वायु तथा आदित्य को उत्पन्न किया था। इन तीनों देवों ने क्रमशः प्राण शरीर और आँखों के लिये आहुति देकर एक गाय को जन्म दिया<sup>7</sup>। यही गाय अग्निहोत्र है इसके देवता अग्नि, सूर्य तथा प्रजापति हैं। हवि के लिये दूर्ध्वं पयस् का ही विधान है<sup>8</sup>।

1. मै० सं० 1. 8. 4

2. मै० सं० 1. 8. 1-2, कठ० सं० 6. 2, तै० सं० 2. 1. 2. 4

3. मै० सं० 1. 8. 1

4. मै० सं० 1. 8. 7, कठ० सं० 6. 6, तै० सं० 2. 1. 9

5. श० ब्र० 2. 2. 4. 18

6. श० ब्र० 2. 2. 4. 7-8

7. तै० सं० 2. 1. 1

8. तै० सं० 2. 1. 6

अग्निहोत्र प्रतिदिन प्रातः और सांय अग्नि की उपासना है जिसमें मुख्यतः दूध तथा गौणातः यवागू तण्डुल दधि और घृत की आहुति दी जाती थी । इसका उद्देश्य उदीयमान सूर्य की सहायता करना माना गया है<sup>1</sup>। सूर्य के विषय में यह विश्वास था कि यह शाम को अग्नि में समाहित हो जाता है<sup>2</sup>।

महाभारत में कहा गया है कि विधिवत् होम करने पर अग्नि आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक इन तीन प्रकार के दुःखों से यजमान की रक्षा करता है । इसीलिये इस कर्म को वेद में अग्निहोत्र कहा गया है<sup>3</sup> यहाँ ब्रह्माजी को सर्वप्रथम अग्निहोत्र का सृष्टा माना गया है साथ ही वेद एवं अग्निहोत्र को स्वतः उत्पन्न भी माना गया है<sup>4</sup> । जितना आवश्यक वेदाध्ययन है उतना ही आवश्यक वेदाध्ययन करके अग्निहोत्र करना है जिसने अग्निहोत्र नहीं किया उसका वेदाध्ययन भी निष्फल है । महाभारतकार के अनुसार तीनों वेदों के मन्त्रों के संयोग से अग्निहोत्र की प्रवृत्ति होती है । ऋक्, यजुः, साम के पवित्र मन्त्रों तथा मीमांसा सूत्रों के द्वारा अग्निहोत्र का प्रतिपादन किया जाता है<sup>5</sup> । सब प्रकार के रस, घी आदि स्निग्ध पदार्थ, सुगन्धित द्रव्य, रत्न, मणि, सुवर्ण और लोहा इन सबकी उत्पत्ति अग्निहोत्र के लिये ही है<sup>6</sup> ।

अग्निहोत्र सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिये आयुर्वेद, धनुर्वेद, मीमांसा, न्यायशास्त्र और धर्मशास्त्र का निर्माण किया गया है<sup>7</sup> । छन्द, शिक्षा, व्याकरणा,

1. रिलीजन एण्ड ज़िलॉसोफी ऑफ दी वेदा उपनिषद्स पेज 318

2. शिओ ब्राटो २.२५.१-२

3. आध्यात्मिकं आधिदैवमाधिभौतिकमेव च- - - -॥ महो 14  
यस्माद वै त्रायते दुःखाद् यजमानं हुतो नलः ॥ वही

4. तदग्निहोत्रं सृष्टं वै ब्रह्मणा लोककृत्तृणा- - - -॥ वही

5. त्रिवेद मन्त्र संयोगादग्निहोत्रं प्रवर्तते- - - -॥ वही

6. रसा स्नेहास्तथा गन्धा- - - ह्यग्निहोत्रकृते भवन् ॥ वही

7. आयुर्वेदो धनुर्वेदो मीमांसा न्यायविस्तरः- - - -॥ वही

ज्योतिष, और निरुक्त, इतिहास, पुराणा, गाथा, उपनिषद् और अथर्ववेद के कर्म भी अग्निहोत्र के लिये ही हैं<sup>1</sup> । अग्निहोत्र का फल बताते हुए विशेषतः ब्राह्मण के सन्दर्भ में कहा गया है कि विधिपूर्वक अग्निहोत्र को शुश्रूषा करने वाले ब्राह्मण के द्वारा किये जाने वाले दान होम यज्ञ और अध्यापन आदि कर्म पूर्ण हो जाते हैं<sup>2</sup> स्वयं भगवान् श्री हरि यहाँ कहते हैं कि मेरे द्वारा आदित्य में स्थापित किये हुए संसार के पुण्य तथा अग्निहोत्रियों के सुकृत को सदस्त्रांशु सूर्य धारण करते हैं<sup>3</sup> अतः जो द्विज परदेश में न रहते हों और उर्ध्वगति प्राप्त करना चाहते हों उन्हें प्रतिदिन विधिपूर्वक अग्निहोत्र करना चाहिये<sup>4</sup> । अग्निहोत्र को अपनी आत्मा के समान समझकर उसका अपमान अथवा त्याग नहीं करना चाहिये<sup>5</sup> । जो बाल्यकाल से ही अग्निहोत्र का सेवन करते हैं प्रातःकाल स्नानादि से निवृत्त होकर विधिवत् अग्निहोत्र का सेवन करते हैं वे इस संसार में न आने के लिये सूर्यमण्डल को भेदकर मेरे परमधाम को प्राप्त होते हैं<sup>6</sup> ।

#### दर्श-पौर्णमास

दर्श-पौर्णमास समस्त इष्टियों को प्रकृति है इनमें दर्शोष्टि अमावस्या के दिन तथा पूर्णमासेष्टि पूर्णिमा के दिन सम्पन्न किये जाते थे । इस दिन चन्द्रमा पूर्ण होता है इसलिये इसे पूर्णमास कहते हैं । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार दर्शयज्ञ के सम्पादन से चन्द्रमा के पुनः उदय एवं वृद्धि में सहायता मिलती है<sup>7</sup> । महाभारत

- 
1. शिक्षा छन्द च कल्प च- - - - -अग्निहोत्रकृतेकृतम् ॥ महेतो ॥ 4
  2. यथोक्तमग्निहोत्राणां- - - - -दत्तमध्यापितं भवेत् ॥ महेतो
  3. मयास्थापितमादित्ये- - - - -सुकृतं ह्यग्निहोत्रिणां ॥ वही
  4. तस्माद् प्रोषितैर्नित्यं - - - - -इच्छन्ति ये गतिम् ॥ वही
  5. आत्मवन्नावमन्तव्यमग्निहोत्रं- - - - - ॥ वही
  6. बालाहिताग्नयो ये - - - - - ॥ वही
  7. दर्शपूर्णमासाविशिटानां प्रकृतिं ॥ आपस्तम्ब श्रौ० 24. 3. 32



में इस यज्ञ के विषय में मात्र इतना कहा गया है कि "वर्षा-पौर्णमास, अग्निहोत्र तथा यातुर्मास्य के अन्तर्गत सनातन धर्म की स्थिति होती है अतः सुद्धिमान पुरुषों को इनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये"¹ ।

यहाँ सनातन धर्म से अभिप्राय शाश्वत अथवा प्रथम धर्म से है जिसका उल्लेख ऋग्वैदिक पुरुष सूक्त में सर्वप्रथम हुआ है तथा वहाँ सहस्र शीर्षा पुरुष के द्वारा किये गये आत्मयज्ञ अथवा सर्वहुत यज्ञ को प्रथमधर्म मानते हुए सम्पूर्ण सृष्टि का उत्पत्ति कर्ता वर्णित किया गया है ।

### पिण्ड-पितृयज्ञ

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अमावस्या के अपराह्न में द्यौषिट यज्ञ से पूर्व पिण्ड-पितृयज्ञ किया जाता है²। इस यज्ञ के लिये पौर्णमास यज्ञवत् पात्र सप्ताद आदि कर्म होते हैं । सारतण्डुल के अपक्व श्रपणा से दक्षिणाग्नि में प्रक्षेपा के द्वारा यज्ञ किया जाता है । सोम, यम और अग्नि के लिये तीन आहुतियाँ दी जाती हैं । आपस्तम्ब के मत में यम आहुति का विधान नहीं है । "न यमाय जुहोतीत्येके" । इसके मूल में यह भावना हो सकती है कि यम {वैवस्वत} भारत-वासियों का पितर नहीं था वह पारस्य देश का राजा था³ । भारतवर्ष में श्राद्ध कल्प का प्रवर्तन वैवस्वत मनु ने किया था । कृष्ण यजुर्वेद के द्वितीय अध्याय के 29वें मन्त्र में पिण्ड-पितृ-यज्ञ का विवरण इस प्रकार दिया गया है---इस मन्त्र में नमः शब्द के बार-बार प्रयोग से यह ज्ञात होता है कि यह शब्द सुन्दर होगुणों का प्रतीक तथा सत्कार एवं सिद्धि दायक है । जैसे वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरद-हेमन्त-शिशिर यह षड्भूतुरै रस प्रदान करने वाली, अन्नदात्री और कठोरता व क्रोध प्रदान करने वाली हैं वैसे ही पितृ भी अनेक विद्याओं के उपदेश से मनुष्यों को निरन्तर सुख देते हैं । इससे मनुष्यों को चाहिये कि पितरों से उत्तमोत्तम गुणों को ग्रहण

1. वर्षा च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः ।

यातुर्मास्यानि वैवांसंस्तेषु धर्मः सनातनः ॥ शा० २६९. २० ॥

2. पूवीद्वै देवाना- - - - पिण्डपितृणामिति ॥ श० ब्रा० २/४/२/८

3. "मनुरेवस्मिल्लोके यमो मुस्मिन् " ॥ मै० सं० १. ६. ३२ ॥

करके सन्तोषपूर्वक उनके द्वारा प्रदत्त विद्याओं को निरन्तर ग्रहणा करे<sup>1</sup> । विद्वानों को चाहिये कि कुमार तथा कुमारिकाओं को ब्रह्मविद्या का ज्ञान कराएँ । विद्यार्थी ब्रह्मविद्या को इस प्रकार ग्रहणा करें जिस प्रकार गर्भ को स्त्रियाँ धारणा करती हैं । जैसे गर्भ के बीच देह की वृद्धि होती है उसी प्रकार विद्वान् गुरु भी शिष्य को धर्म एवं वेदों के द्वारा ब्रह्मज्ञान का सद उपदेश करे । विद्या से युक्त होकर योग, प्राणायाम-साधना से तत्त्वमसि को प्राप्त करके सदैव कैवल्यता में लीन रहे । इस प्रकार का यज्ञानुष्ठान करना चाहिये<sup>2</sup> ।

पिण्ड-पितृ यज्ञ अथवा पितृमेध यज्ञ का वर्णन महाभारत में विस्तार से किया गया है । महाभारत शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान में वराह गोविन्द को इस यज्ञ का प्रवर्तक माना गया है । जिसके अनुसार पृथ्वी का उद्धार करने के पश्चात् दिन के मध्य भाग में भगवान् वराह ने अपनी दाढ़ों में लगी हथो मिटटी के तीन पिण्ड बनाये । पृथ्वी पर कुशा बिछा कर उन कुशाओं के ऊपर वे पिण्ड रख दिये । इसके बाद उन्होंने अपनेही उद्देश्य से उन पिण्डों पर विधिपूर्वक पितृपूजन का कार्य सम्पन्न किया<sup>3</sup> । यहाँ श्रुति का सन्दर्भ देते हुए यह भी कहा गया है कि देवताओं ने पुत्रों का पूजन किया । इस श्रुति के सम्बन्ध में यह कथा प्रचलित है कि एक समय देवता दीर्घकाल तक असुरों के साथ युद्ध में लगे रहे अतः उन्हें वेदज्ञान विस्मृत हो गया फिर उनके पुत्रों ने ही उन्हें वेद श्रुतियों को पढ़ाया । इसीलिये वे मन्त्रदाता पुत्र पितृभाव को प्राप्त हुये ।

अनुशासन पर्व में पिण्ड-पितृयज्ञ में विहित तीन पिण्डों में से एक को जल में डालने एक को यज्ञकूर्त्ता की पत्नी द्वारा पुत्र प्राप्ति की इच्छा से भक्षणा करने तथा तीसरे व अन्तिम पिण्ड को अग्नि में होम करने की बात कही गयी है । ये तीनों पिण्ड किसी न किसी रूप में देवताओं तथा पितरों को सन्तुष्ट करते हैं । महाभारत में पिण्ड-पितृ-यज्ञ का अपरनाम श्राद्ध भी बताया गया है । श्राद्ध का

1. नमो वः पितरो - - - - पितरो वासः ॥ कृ०य जु० २. ३२

2. आपन्न पितरो - - - - पुरुषोऽसत् ॥ कृ०य जुः २. ३३

3. स्थापयित्वा तु धरणी - - - - पितॄन् स्रे यथाविधि ॥ शान्० ३४५ १३-१५

प्रवर्तन भारतवर्ष में वैवस्वत मनु ने किया अतः वे श्राद्धदेव कहलाये ऐसा हरिवंश पुराण में वर्णित है ।

### अश्वमेध यज्ञ

अश्वमेध यज्ञ लोकों को जीतने और सब कामनाओं को वशावर्ती करने के इच्छुक राजा द्वारा किया जाता था<sup>1</sup>। कात्यायन श्रौतसूत्र इस यज्ञ को प्रत्येक राजा के लिये अनुष्ठेय मानता है। किन्तु आपस्तम्ब के मत में केवल एक क्षत्र सार्वभौम सम्राट ही इस यज्ञ को करने का अधिकारी है<sup>2</sup>। महाभारत में भी महाराज युधिष्ठिर पृथ्वीलोक के तत्कालीन समस्त राजाओं पर विजय प्राप्त कर चुकने के उपरान्त ही अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा लेते हैं। महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में अश्वमेध स्युज वैदिक विधि के अनुसार सम्पूर्ण क्रियात्मक वर्णन नहीं है अपितु कुछ ही क्रियाओं का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत यज्ञ विषयक वर्णन सम्राट के वैभव एवं प्रभूत धन सम्पदा के प्रदर्शन को ही प्रस्तुत करता है, जिससे प्रतीत होता है कि अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किसी छोटे या कमजोर राजा के करने योग्य नहीं था क्योंकि जैसा कि महाभारत में वर्णित है अश्वमेध यज्ञ की दक्षिणा के रूप में ब्राह्मणों को सम्पूर्ण पृथ्वी दान में दी जाती थी<sup>3</sup>। यदि कोई कमजोर राजा उस यज्ञ को प्रारम्भ करे तो किसी भी अपेक्षा कृत बलशाली ऐश्वर्यवान् राजा के द्वारा अश्व पकड़ कर यज्ञकर्त्ता राजा पर विजय प्राप्त कर ली जायेगी और यज्ञ बीच में ही छूट जाने का पाप भी उसे लगेगा। वेद में भी दुर्बल व्यक्ति द्वारा इस यज्ञ के अनुष्ठान का निषेध किया गया है<sup>4</sup>। यह यज्ञ राष्ट्र की उन्नति की कामना से किया जाता था<sup>5</sup>।

1. मा०श्रौ०सू० 9. 2. 1. 1

2. अ०प०सू० 2. 3. 2. 1

3. पृथिवी दक्षिणा यात्र विधि: प्रथमकल्पित: - - - -।। अश्व० 3. 17

4. श्रौ०ब्रा० 3. 1. 7. 3, तै०सं० 3. 8. 9

5. मै०सं० 3. 1. 2. 6, वा०स० 22. 22

राजा यजमान इस यज्ञ के अनुष्ठान का संकल्प करके फागुन मास की पूर्णिमा से एक दिन पूर्व उपवसथ और अश्वि वरणा आदि की सामान्य विधियों का यथापूर्व अनुष्ठान करता है। महाभारतकार चैत्रमास की पूर्णिमा के दिन इस यज्ञ की दीक्षा लिये जाने का निर्देश करते हैं तथा वर्षपर्यन्त समस्त पृथ्वी की प्रदक्षिणा करके विजयोपरान्त लौटने पर फाल्गुन मास की पूर्णिमा से यज्ञ सवन विधिपूर्वक प्रारम्भ करने का निर्देश करते हैं। यज्ञीय अश्व के पीछे विजययात्रा पर निकले अर्जुन जब समस्त पृथ्वी का भ्रमण करके हस्तिनापुर के समीपवर्ती राज्यों में पहुँच जाते हैं तथा उनके हस्तिनापुर पहुँचने व यज्ञारम्भ होने की तिथि में एक माह होश रह जाता है तब महाराज युधिष्ठिर भीम को यज्ञभूमि निर्माण कराने का आदेश देते हैं। भीम यज्ञकर्म में कुशल ब्राह्मणों के निर्देश एवं शिल्पकर्म में कुशल कारीगरों की सहायता से नगर से बाहर शालवृक्षों से घिरी हुयी भूमि को नपवाकर विधिपूर्वक यज्ञभूमि का निर्माण करवाते हैं<sup>2</sup>। अश्वमेधिक पर्व में जहाँ यज्ञ भूमि के अनेकों स्वर्णशिल महेलों, रत्नमण्डित यज्ञशाला तथा ब्राह्मणों आदि के निवासार्थ उत्तम भवनों के निर्माण का वर्णन है वहीं मैत्रायणी संहिता, शातपथ ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रन्थों में वेदि-निर्माण एवं ऊखा-निर्माण की बात कही गयी है।

मैत्रायणी संहिता में अग्निष्टोम यागविधि के सन्दर्भ में यज्ञशाला निर्माण का वर्णन है। तदनुसार गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय अग्नियों का आधान करके इसी अस्याधान स्थल को आसपास की भूमि सहित चारों ओर से आवृत कर "प्राचीनवंश" नामक यज्ञशाला का निर्माण किया जाता है। यह यज्ञशाला पूर्वामुखी, सामने से ऊँची और पीछे से नीची होती है और इसके चारों कोनों में सुराख रखते हुए प्रत्येक दिशा में एक एक द्वार होता है।

अश्वमेध यज्ञ का अग्नि वर्णन करते हुए महाभारतकार कहते हैं कि युधिष्ठिर के उस यज्ञ में जरायुज, स्वेदज, अण्डज, उघिज, पवतीय, तटीय, हिंसक अहिंसक सभी प्रकार के प्राणी एकत्रित थे। ये पशु पक्षियों का संग्रह संभवतः अश्वमेध यज्ञ के अन्तर्गत होने वाले पशुयाग के लिये किया गया था क्योंकि

1. उपस्थितश्च कालो यमभितो - - - -यज्ञवाटं यथाविधि ।। आश्व0 85. 8-12

2. प्रासादादात सम्बाध- - - -विधिवद्देमरत्नविभूषितम् ।। आश्व0 85. 20-25

मैत्रायणी संहिता में वर्णित अश्वमेध यज्ञ की प्रक्रिया के अन्तर्गत होने वाले पशु होम में यज्ञीय अश्व सहित तीन सौ ग्राम्य एवं आरण्य पशुओं को यूप में बाँधने का निर्देश है जिनमें से प्रधान अश्व एवं तीन प्राजापत्य पशु- अश्व, तूपर और गोमृग के अतिरिक्त अन्य सभी आरण्य एवं पशुयाग में न प्रयुक्त होने वाले ग्राम्य पशुओं को पर्याग्निकरण करके मुक्त कर दिया जाता था और मुख्य अश्व को तथा प्राजापति के तीन पशु अश्व, तूपर और गोमृग को चात्वाल में लाकर गला दबाकर इनका संज्ञपन किया जाता था<sup>1</sup>।

युधिष्ठिर द्वारा मुख्य यज्ञ की दीक्षा ग्रहणा करने के उपरान्त ब्राह्मण शिरोमणियों द्वारा प्रवर्ग्य क्रिया यथोचित रीति से सम्पन्न करके सोमाभिष्व करने तथा तीनों समय के तवन कर्म करने का उल्लेख है<sup>2</sup>। तैत्तिरीय संहिता में इसके स्थान पर अन्न होम का विधान है जिसमें रात्रिभर नौ प्रकार के अन्नों की घी के साथ आहुति देने का विधान है<sup>3</sup> मानव श्रौत सूत्र के अनुसार सोमयागों के अङ्गरूप से उपसद विधि से पूर्व प्रवर्ग्य याग का स्थान है<sup>4</sup>।

महाभारतकार यूप स्थापना के समय छः खेल के खैर व पलाशा के छः छः, देवदारु के दो व लसोड़े का एक यूप खड़े करवाने का उल्लेख करते हैं साथ ही यज्ञ की शोभा के लिये सुवर्णमय यूपों की स्थापना का वर्णन करते हैं<sup>5</sup>। मानव श्रौत सूत्र 2। यूपों की स्थापना का उल्लेख करता है जिनमें मध्यवर्ती अग्निष्ठ पूत दारु के और छः छः खदिर पलाशा या बिल्व के होते हैं<sup>6</sup>। सुवर्णमय यूपों का इस

1. इन ग्राम्य और आरण्य पशुओं का देवतानुसारो विस्तृत विवरण मै० सं० के क्रमशः 3. 13. 3-20 और 3. 14 में है।

2. दीक्षा विवेशा धर्मात्मा वाजिमेधाप्तये ततः ॥ अश्व 88-17 ॥

कृत्वा प्रवर्ग्य धर्माख्य - - - -राजस्तथेवाभिष्वं द्विजाः ॥ अश्व 88 2।

3. मा० श्रौ० सू० 9. 2. 2. 30 में 10। आहुतियों का निर्देश है।

4. मा० श्रौ० सू० 2. 2. 1। 4

5. तातो यूपोच्छ्रये प्राप्ते- - - -चैक याजकाः समकल्पयन् ॥ अश्व 88-27-28

6. मा० श्रौ० सू० 9. 2. 2. 19-22

यज्ञ प्रक्रिया में कहीं उल्लेख नहीं है जबकि महाभारतकार काष्ठमय यूपों के भी रत्नजटिल होने का उल्लेख करते हैं<sup>1</sup>।

महाभारतकार यज्ञ वेदी के लिये स्वर्णनिर्मित इष्टकाओं के चयन का उल्लेख करते हैं<sup>2</sup> परन्तु मैत्रायणी संहिता और मानव श्रौत सूत्र में सम्पूर्ण वेदी के स्वर्णनिर्मित होने का नहीं अपितु अग्निचितियाम की प्रथम चिति के सन्दर्भ में उत्तरवेदि पर एक हिरण्यइष्टका रखने का वर्णन है<sup>3</sup>। अश्वमेध कयज्ञ के सन्दर्भ में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। आश्वमेधिका पर्व में यज्ञ मण्डप में अग्नि चयनार्थ चार स्थानों का उल्लेख है जिसमें प्रत्येक की लम्बाई-चौड़ाई अठाइह हाथ की बताई गयी है तथा प्रत्येक वेदी का सुवर्णमय, पंख, गरुणाकृति और त्रिकोणाकार होना वर्णित है वैदिक ग्रन्थों में अश्वमेध यज्ञ के सन्दर्भ में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है कि अग्निचयन के लिये चार स्थानों का चयन किया जाये। अग्न्याधान के सन्दर्भ में मानव श्रौतसूत्र में गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि के आधान के लिये तीन स्थानों पर भूमि तैयार करने का उल्लेख है<sup>4</sup>। साथ ही अग्नि याग के सन्दर्भ में सात-पुरुष परिमाणा वाली तथा पक्षी के आकार की वेदि का विभिन्न शास्त्रीय नियमानुसार निर्माण का वर्णन है उर्ध्वबाहु पुरुष की उँचाई के परिमाणा को एक वेणु दण्ड से नापते हैं उस लम्बाई के वेणु से सात पुरुषों के परिमाणा की भूमि को पक्षी की आकृति के समान इस प्रकार नापा जाता है कि आत्मा अर्थात् मध्य भाग चार पुरुष परिमाणा, का दोनों पक्ष अर्थात् उत्तर दक्षिणा के भाग और पुच्छ अर्थात् पीछे का भाग एक-एक पुरुष परिमाणा का रहे। दोनों पक्षों के एक पुरुष परिमाणा में अरत्ति मात्र अर्थात् चौबीस अंगुल भूमि और बढ़ाई जाती है जो पक्षी के फैले हुए पंखों की प्रतीक है<sup>5</sup>।

1. शोभार्थ चापरान् यूपान् का चनान् भरतर्षभ ॥ आश्व 88-29 ॥

2. इष्टकाः का चनीशचात्र चयनार्थ कृता भवन् ॥ आश्व 88-31 ॥

3. मै०सं०के 2. 7. 15. 21 मन्त्रसे मा०श्रौ०सू०6. 1. 7. 7. 14 में हिरण्येष्टकाधान का निर्देश

4. मा०श्रौ०सू०1. 1. 1. 10, 1. 5. 2. 9

5. मैत्रायणी संहिता-पृ० 204

यहाँ महाभारतकार ने चारों वेदियों को अलग-अलग स्वर्णमय पंखयुक्त गहना के समान आकार वाली त्रिकोणाकार वर्णित किया है जबकि मानव श्रौत सूत्र सम्पूर्ण वेदि भूमि को एकमात्र विशाल पक्षी के आकार वाली वर्णित करते हुए उसी में चार स्थान विशेषों का उल्लेख आत्मा अथवा मध्यभाग, दक्षिणभाग, पश्चिमभाग तथा पुच्छ अथवा पीछे के भाग के रूप में करता है ।

महाभारतकार अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी वर्णन को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि शास्त्रोक्त विधि के अनुसार पशुओं को न्ययुक्त करके भिन्न-भिन्न देवताओं के उद्देश्य से पशु-पक्षी, शास्त्र कथित वृषभ और जलचर जन्तु इन सबका अग्नि स्थापन कर्म में याजकों ने उपयोग किया<sup>1</sup> ।

मानव श्रौतसूत्र में अग्नि चितियाग को प्रथम चिति में इष्टकाधान के अनन्तर कूर्माधान एवं पशुतिरों के आधान का उल्लेख हुआ है । इस प्रक्रिया में विविध इष्टकाओं के आधान के बाद एक जीवित कछुवे को मधुमिश्रित दही से तर करके स्वयमातृष्णा नामक इष्टका के आगे पश्चिमाभिमुख रखते हैं । इसके द्वारा जड़-श्मशान चिति को जीवनमय अश्मशान चिति बनाया जाता है<sup>2</sup> । इसके अनन्तर अन्य प्रक्रियाओं के बाद वेदी में पशुतिरों के आधान का भी उल्लेख है जिसमें अश्व वृषभ वृषा अज और पुस्त्य के पाँच तिरों को लेकर उनके छिद्रों मुख-नाक-कान आदि में मधुमिश्रित दही और सोने के टुकड़े भी डाले जाते हैं<sup>3</sup> ।

युधिष्ठिर के यज्ञ में अश्व की प्रधानता वाले तीन सौ पशुओं को यूपों में बाँधने के उपरान्त अन्यान्य पशुओं का विधिपूर्वक श्रपण करके उस अश्व का भी शास्त्रीय विधि से आलभन करने का उल्लेख है<sup>4</sup> । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सभी

1. ततो न्ययुक्ताः पशवो- - - - -तत्राग्निव्यकर्माणि ।। आ व 89. 33-34

2. मा० श्रौ० सू० 6. 1. 72, शोब्रा० 7. 5. 1. 32-33

3. मा० श्रौ० सू० 6. 1. 7. 9

4. यूपेषु न्ययता चासीत् पशूनां त्रिशती तथा ।। आश्व 88-34

श्रपयित्वा पशून्यन्यान- - - - -तं तुरङ्गं यथाशास्त्रं ।। आश्व 89. 1 ।।

तीन सौ पशुओं का विधिवत् पर्यग्निकरणा करके अश्व, तूपर, गोमृग इन प्राजापत्य पशुओं को यज्ञस्थल से हटा लिया जाता है अब मुख्य अश्व और प्राजापति के तीनों पशु--अश्व, गोमृग और तूपर को चात्वाला में लाकर गला दबाकर संज्ञपन किया जाता है । इस समय तीन आहुतियाँ दी जाती हैं<sup>1</sup> ।

याजकों द्वारा श्रपणा किये गये अश्व के समीप द्रौपदी को शास्त्रोक्त विधि से बिछाने की प्रक्रिया<sup>2</sup> मैत्रायणी संहिता में वर्णित राजमहिषी द्वारा अश्व संगमन क्रिया का ही प्रतिरूप है<sup>3</sup> । इसके बाद अश्व की चर्बी निकालकर उसका विधिपूर्वक श्रपणा करने का महाभारतीय उल्लेख मानव श्रौतसूत्र एवं शतपथ ब्राह्मण में वर्णित अश्वमेध याग एवं अग्निषोमीय पशुयाग की एक मुख्य क्रिया पशु वपाहोम का ही प्रतिरूप है इसमें यज्ञीय पशु की वपा को विभिन्न मन्त्रोच्चार पूर्वक की गई क्रियाओं द्वारा निकाल कर तथा पकाकर विभिन्न देवताओं के उद्देश्य से पुरोडाश तैयार करके हवि प्रदान की जाती है । इसके बाद यज्ञीय अश्व एवं तीन प्राजापत्य पशुओं के अंगों को क्रमशः पकाया जाता है । इस क्रिया का वर्णन महाभारत, शतपथ ब्राह्मण एवं मानव श्रौतसूत्र सभी में किया गया है<sup>4</sup> । महाभारतकार अश्व की वपा होम के अनन्तर चर्बी को गन्ध को यजमान पाण्डवों द्वारा पापों के नाश के लिये सूँघने का उल्लेख करते हैं । इसका वर्णन वेद में कहीं भी नहीं किया गया है ।

इस प्रकार मुख्य यज्ञ की समाप्ति पर युधिष्ठिर एक हजार करोड़ स्वर्ण मुद्रारै ब्राह्मणों को दक्षिणा में देकर व्यास जी को सम्पूर्ण पृथ्वीदान में दे देते हैं महर्षि व्यास सम्पूर्ण पृथ्वी को युधिष्ठिर के ही अधिकार में छोड़कर उसका मूल्य माँगते हैं तब युधिष्ठिर प्रत्येक ब्राह्मण को एक-एक करोड़ की तिगुनी दक्षिणा देते हैं व्यासजी उस समस्त स्वर्णराशि को लेकर ब्राह्मणों को दे देते हैं । ब्राह्मण

1. मा० श्रौ० सू० 1. 8. 3. 30

2. उपसवेश्यन राजंस्तृप्तां द्रुपदात्मजाग् ॥ आ व 89. 2

3. मा० श्रौ० सू० 9. 2. 4. 15-16



उसके चार भाग करके आपस में बाँट लेते हैं<sup>1</sup>। यज्ञशाला में बची हुयी सुवर्णराशि आभूषण बर्तन इटें तोरणा यूप आदि को भी युधिष्ठिर को आज्ञा से ब्राह्मण हो ले जाते हैं। उनके ले जाने से बची हुयी यज्ञ सामग्री को क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र ले जाते हैं<sup>2</sup>। युधिष्ठिर भाइयों सहित अवभृथ स्नान करते हैं<sup>3</sup>।

अश्वमेध यज्ञ की दक्षिणा में सम्पूर्ण पृथ्वी ब्राह्मणों को दान में देना<sup>4</sup>, यज्ञ से बची हुयी समस्त धनराशि का क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों द्वारा ले जाना तथा यजमान, राजा का यज्ञ के अन्त में अवभृथ स्नान करना<sup>5</sup> सभी तथ्य वैदिक हैं।

### प्रमुख स्मार्त यज्ञ

#### पञ्च महायज्ञ

प्राचीन समय में पञ्च महायज्ञ करना गृहस्थ का प्रधान कर्तव्य सम्झा जाता था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार महायज्ञ पाँच हैं----भूतयज्ञ, मनुष्य यज्ञ पितृयज्ञ देवयज्ञ एवं ब्रह्मयज्ञ<sup>6</sup>। तैत्तिरीय आरण्यक में इनके नाम व परिभाषाएँ इस प्रकार दी हैं----जब अग्नि में आहुति दी जाती है भले ही वह मात्र समिधा हो तो वह देवयज्ञ है। जब पितरों को स्वधा दी जाती है चाहे वह जल ही क्यों न हो तो वह पितृयज्ञ है जब जीवों को बलि दी जाती है तो वह भूतयज्ञ है जब ब्राह्मणों या अतिथियों को भोजन दिया जाता है तो वह मनुष्य यज्ञ है और जब स्वाध्याय किया

1. आश्व० पर्व० ४९. ७--२१

2. वही, ४. २४--२६

3. गत्वा त्ववभृथं राजा विपात्मा भ्रातृभिः सह ॥ आश्व ४९-३० ॥

4. शोब्रा० १३. १. ७. ३

5. मा० श्रौ० सू० १. २. ५. १ में मै०सं० के ३. १६. २ आप्री मन्त्रों का अभिषेक के बाद उच्चारण का उल्लेख।

6. शो ब्रा० ११. ५. ६. १

जाता है चाहे वह श्रवा हो तो भी वह ब्रह्मयज्ञ कहलाता है<sup>1</sup>। महाभारतकार कहते हैं कि "प्रतिदिन यज्ञहोम के द्वारा देवताओं का अतिथि सत्कार के द्वारा मनुष्यों का श्राद्ध तर्पण करके पितरों का तथा वेदों का नित्य स्वाध्याय करके श्रद्धियों का यथाविधि पूजन और सत्कार करना चाहिये। इसके बाद नित्य भोजन करना चाहिये"<sup>2</sup>। मनु के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ के घर में चूल्हा-चक्की-बुहारी-ईधन तथा जल का घड़ा ये तीन स्थान हैं जहाँ ज्ञात अज्ञात रूप से प्राणिहिंसा होती रहती है। इन पाँचों दोषों के परिहार के लिये इन पाँच महायज्ञों का विधान हुआ है<sup>3</sup>।

श्रग्वेद में सर्वप्रथम देवयज्ञ और पितृयज्ञ का उल्लेख मिलता है<sup>4</sup>।

#### देवयज्ञ

देवयज्ञ का सम्पादन अग्नि में समिधा डालने से होता है<sup>5</sup>। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार देवता का नाम लेकर "स्वाहा" शब्द के उच्चारण के साथ अग्नि में हवि या कम से कम एक समिधा डालना देवयज्ञ है<sup>6</sup>।

#### पितृयज्ञ

यह शब्द श्रग्वेद में उल्लिखित है<sup>7</sup> किन्तु वहाँ इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। मनु के अनुसार पितृयज्ञ तीन प्रकार से सम्पादित होता है---तर्पण द्वारा,<sup>8</sup> बलिहरण द्वारा,<sup>9</sup> - -जिसमें बलि का शेषांश पितरों को दिया जाता है, प्रतिदिन श्राद्ध द्वारा<sup>10</sup>

1. तै0 अ0 11.10

2. सदा यज्ञेन देवाश्च, सदा तिथ्येन मानुषाः ।

छन्दत य तथा नित्यर्महान् भु जीत नित्यशः ॥ मह0 13. 97. 6

3. प चसूना गृहस्थस्य- - - - गृहमेधिनाम् ॥ मनु0 3. 68. 69 ॥

4. श्र0 7. 6. 9

5. तै0 अ0 2.10

6. अ0 ध0 सू0 1. 4. 13. 1

7. श्र0 7. 6. 22. 9

8. मनु0 3.10, 283

9. वही, 3. 91

10. मनु0 3. 82-83

जिसमें कम से कम एक ब्राह्मण को खिलाया जाता है ।

### ब्रह्मयज्ञ

ब्रह्मयज्ञ का प्राचीनतम उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में मिलता है<sup>1</sup>। इसमें उल्लेख है कि ब्रह्मयज्ञ प्रत्येक दिन किया जाने वाला वेदाध्ययन है । इनमें वेद के अतिरिक्त वेदांग, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास पुराण, गाथाएँ और नाराशंसी विशेष उल्लेखनीय है । इस यज्ञ से प्रसन्न होकर देव मनुष्यों को दीर्घायु दीप्ति, सम्पत्ति, यज्ञ, आध्यात्मिक उच्चता तथा भोजन प्रदान करते हैं । इसमें मनुष्य को एकान्त स्थान में स्वाध्याय करना चाहिये । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ऋक् का अध्ययन देवताओं के लिये पयः की आहुति है, यजुष का आज्याहुति, साम का सोम आहुति, अधर्वाङ्गि रस का भेद आहुति तथा विद्या वाकोवाक् इतिहास, पुराण, नाराशंसी गाथाओं का अध्ययन देवताओं के लिये मधु की आहुति है । आपस्तम्ब धर्मसूत्र तथा शांख्यायन गृहसूत्र में भी इसका वर्णन है ।

### अतिथियज्ञ

इसे नु यज्ञ अथवा मनुष्य यज्ञ भी कहा गया है<sup>2</sup>। ऋग्वेद में यज्ञ भी करने वाले को घर का अतिथि कहा गया है<sup>3</sup> । अथर्ववेद में अतिथि सत्कार की प्रशंसा की गई है<sup>4</sup> । तैत्तिरीय संहिता के अनुसार जब अतिथि का पदार्पण होता है तब उसे आतिथ्य दिया जाता है<sup>5</sup> । तैत्तिरीय ब्राह्मण<sup>6</sup> और शतपथ ब्राह्मण<sup>7</sup>

1. शो ब्रा० 11. 5. 6. 3. -8

2. मनु० 3. 70

3. ऋ० 1. 73. 1, 5. 1. 8-9

4. अ० वे० 9. 6

5. तै० सं० 1. 2. 10. 1

6. तै० ब्रा० 2. 1. 3

7. शो ब्रा० 2. 1. 4. 2

से विदित होता है कि उसके सत्कार के लिये विशेष भोजन बनाया जाता था । आपस्तम्ब<sup>1</sup> के मतानुसार अतिथि सत्कार के द्वारा मनुष्य को स्वर्ग प्राप्त होता है । महाभारत में भी अनेक स्थानों पर अतिथि सत्कार पर बल दिया गया है ।

### भूतयज्ञ

घर में प्रतिदिन पकाये जाने वाले अन्न में से भूतों के लिये बलि निकालने को भूतयज्ञ कहा जाता था । भारतीय विचारधारा के अनुसार मनुष्य को प्राणि-मात्र का हित अथवा परोपकार करना चाहिये । यह यज्ञ इसी भावना का प्रतीक है । भूतयज्ञ में बलि अग्नि को न देकर पृथ्वी पर दी जाती है । आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार<sup>2</sup> कुत्तों एवं चाण्डालों को वैश्वदेव का पक्वान्न देना चाहिये । मनु के अनुसार उसे बहुत सावधानी तथा धीरे से कुत्तों, चाण्डालों, जातिच्युतों, कोढ़ पीड़ितों, कौओं, कीड़े मकोड़ों को बलि के रूप में देना चाहिये<sup>3</sup> ।

### श्रुत्विज

यज्ञ में चार श्रुत्विज चार भिन्न भिन्न दिशाओं में बैठते हैं । प्रमुख होता या यजमान पश्चिम में पूर्वाभिमुख, अध्वर्यु उत्तर में दक्षिणाभिमुख, उद्गाता पूर्व में पश्चिमाभिमुख, ब्रह्मा दक्षिण में उत्तराभिमुख होकर बैठता है । इन चारों का सम्बन्ध प्रमुख रूप से क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के साथ है । अथर्ववेदी ब्रह्मा समस्त यज्ञ का निरीक्षक होता है । अतः उसे चारों वेदों का ज्ञाता होना चाहिये जिससे वह अन्य श्रुत्विजों के द्वारा की गयी भूलों का परिमार्जन कर सके । ऋग्वेद के एक मन्त्र में इन होताओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि "ऋग्वेदी होता स्तुतियों का पोषण करता हुआ पुष्ट होकर बैठता है । सामवेदी उद्गाता शक्वरी साम द्वारा सामगान करता है । अथर्ववेदी ब्रह्मा सम्पूर्ण विद्या

1. अ० ५० सू० 2. 3. 6. 6

2. वही, 2. 4. 9-5

3. मनु 3. 87-93

का व्याख्यान करता है और अध्वर्यु यजुर्वेदी यज्ञ की नाप जोख करता है । यज्ञवेदी का निर्माण और समिधा सामग्री आदि के चयन में लीन रहता है<sup>1</sup> ।

अथर्ववेदी ब्रह्मा एक प्रकार से निरीक्षक या अधीक्षक है जब कोई त्रुटि हो जाती है तो उच्चस्वर से ओङ्म का उच्चारण करता हुआ अग्नि में प्राजापत्य आहुति डालता है । यज्ञ में कोई त्रुटि न होने पाये, इसलिये यज्ञ के समय हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं<sup>2</sup> "हे सुभग, शोभन एवं यजनीय । समग्र ऐश्वर्यों के भण्डार हम जो अग्नि में आहुतियाँ दे रहे हैं वे हमारे लिये और विश्वभर के लिये कल्याणकारिणी हो । हमारा दान भी मंगलकारक हो । हमारा यह अध्वर ऋषिंसा व कुटिलता से विरहित यह यज्ञ सबका हित साधन करे । हमारी प्रशस्तियाँ और स्तुतियाँ ईश्वर को और गुणाकीर्तन देवों को मंगलमय हों" । यह प्रार्थना यज्ञ सम्बन्धी न्यूनताओं की पूर्ति के लिये की गयी है । यज्ञ में त्रिषट्कृत आहुति प्रायश्चित्त आहुति कहलाती है । उसका भी उद्देश्य यज्ञकर्म में अज्ञानवश जो आधिक्य अथवा न्यूनता रह जाती है उसका प्रायश्चित्त करना है ।

शान्तिपर्व में जब युधिष्ठिर पितामह भीष्म से पूछते हैं कि ऋत्विजों की उत्पत्ति किस निमित्त से हुयी है । उनके स्वभाव कैसे कैसे होने चाहिये तथा वे किस किस प्रकार के होते हैं । तब पितामह भीष्म बताते हैं "जो ब्राह्मण छन्दः शास्त्र, "ऋक्" साम और यजुः तीनों वेद तथा ऋषियों के रचे हुए स्मृति और दर्शन शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं वे ही ऋत्विज होने योग्य हैं, उन ऋत्विजों का मुख्य आचार है राजा के लिये शान्ति पौष्टिक आदि कर्मों का अनुष्ठान<sup>3</sup> । "जो सदा एकमात्र यजमान के ही हित में तत्पर रहने वाले, धीर प्रियवादी, एक दूसरे के

1. ऋचां त्व पोषमास्ते पुष्वान्, गायत्रं त्वो गायति श क्वरीषु ।

ब्रह्मा त्वो वदति जातविषां यजस्य मात्रां विमिमीत उत्त्व ॥ श्व0 1. 71 ॥

2. भद्रा नो अग्नि राहुतो, भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः, भद्रा उत प्रशस्तयः ॥

3. प्रतिकर्म पराचार- - - - -दिजानां श्रुतमेव च ॥ शान्ति0 79-2 ॥

सुहृद तथा सब ओर समान दृष्टि रखने वाले हैं, वे ही श्रुतिज्ञ होने योग्य हैं<sup>1</sup> । जिनमें क्रूरता का सर्वथा अभाव है, जो सत्यभाषण करने वाले और सरल हैं, जो ब्याज नहीं लेते तथा जिनमें द्रोह और अभिमान का अभाव है, जिनमें लज्जा, सहनशीलता, इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रह आदि गुण देखे जाते हैं, वे ही पुरोहित कहलाते हैं<sup>2</sup> । जो बुद्धिमान सत्य को धारणा करने वाला, इन्द्रिय संयमी, किसी भी प्राणी की हिंसा न करने वाला तथा राम द्वेष आदि दोषों से दूर रहने वाला है, जिसके शास्त्रज्ञान, सदाचार और कुल ये तीनों अत्यन्त शुद्ध व निर्दोष हैं जो अहिंसक और ज्ञान विज्ञान से तृप्त है वही ब्रह्मा के आसन पर बैठने का अधिकारी है<sup>3</sup> । यहाँ पितामह भीष्म देवी सम्पदायुक्त होताओं के यज्ञ सम्बन्धी उपकरणों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि "उनके सहायक चित्त ही स्त्रुक् हैं, चित्त ही आज्य है और उत्तम ज्ञान ही पवित्री है<sup>4</sup> ।

यहाँ श्रुतिज्ञों के जिन गुणों का वर्णन किया गया है उनसे प्रतीत होता है कि उनका पूर्णतः सदाचार युक्त एवं सद्गुणों से सम्पन्न होना परम आवश्यक था । सम्पूर्ण वेद-वेदाङ्ग, स्मृति तथा धर्मशास्त्र का ज्ञान तभी सार्थक हो सकता है जब व्यक्ति को उसका अहंकार न हो तथा क्रोध न हो । यद्यपि श्रुतिज्ञ अपने शास्त्रज्ञान के बल पर यजमान का अहित भी कर सकता था तथापि उसे सदैव यजमान के लिये शान्ति-पौष्टिक कर्म करने के लिये ही कहा गया है ।

यज्ञ में दक्षिणा का महत्त्व

---

यज्ञ के सम्बन्ध में दिया गया दान "दक्षिणा" कहलाता है । यह दक्षिणा रूपी दान उन श्रुतिज्ञों तथा पुरोहितों का दिया जाता है जो यज्ञकर्ता

---

1. ये त्वेकरत्यो नित्यं- - - -समन्तात् समदर्शिनः ॥ शान्ति० 79.3 ॥

2. अनुशंसया सत्यवाक्या- - - -ह्रींस्तितीक्षादमः शमः ॥ शक्ति० 79.4 ॥

3. धीमान् सत्यधृतिदान्तो- - - -स ब्रह्मासनमर्हति ॥ शान्ति० 79.5 ॥

4. निबोधदेव होतृणां विधानं- - - -पवित्रं ज्ञानमुत्तमम् ॥ शा० 79.20 ॥

का यज्ञ सम्पन्न करते हैं । यज्ञ अपने आप में एक विस्तृत एवं सूक्ष्म प्रक्रिया को समेटे हुए है । यज्ञ चाहे किसी भी प्रकार का हो उसको सम्पूर्ण विधि-विधान पूर्वक सम्पन्न करने के लिए योग्य वेद वेदाङ्गविद ब्राह्मणों का होना प्रामाण्यपूर्ण है । यजमान स्वयं अपने बल पर भौतिक द्रव्यमय यज्ञों का सम्पादन नहीं कर सकता । ब्राह्मण ऋत्विजों को सम्मिलित घेष्टाओं द्वारा यजमान का यज्ञकर्म पूर्णता को प्राप्त होता है । यज्ञ को यह पूर्णता यज्ञकर्त्ता यजमान की अपनी निधि नहीं बन सकती जब तक उन ऋत्विजों को उनके द्वारा किये गये श्रम का पूरा पूरा मूल्य न दे दिया जाय । ऋत्विजों को यह दान चाहे जिस भी रूप में दिया जाय वह यज्ञकर्त्ता को यज्ञ के सम्पूर्ण फल की प्राप्ति करा देता है । "दक्षिणा" के बिना यज्ञकर्म पूरा नहीं होता वह हत रहता है । इसीलिये कहा गया है कि "हतोयज्ञस्वदक्षिणा" । दक्षिणा के द्वारा ही यजमान ऋत्विजों के द्वारा किये गये कर्मों को खरीद लेता है । अतः वह स्वयं ऋत्विजों के समान हो जाता है । इस आशय से ऋग्वेद में दक्षिणा नाम की श्रद्धा कहती है "जो मुख्य यजमान दक्षिणा के द्वारा ऋत्विगादि की आराधना करता है वही श्रद्धा ब्रह्मा आदि है दक्षिणा दान के द्वारा सम्पूर्ण यज्ञ कर्म उसके हो जाते हैं ।" दक्षिणा की प्रधानता बताने के लिए ही उसको यज्ञपत्नी भी कहा है "जिस प्रकार पुरुष बिना पत्नी अर्धमात्र रहती है उसी प्रकार यज्ञ भी दक्षिणा के बिना अपूर्ण रहता है तथा फलोत्पादान में असमर्थ रहता है ।"

#### यज्ञों द्वारा कामनापूर्ति

वेदों में यज्ञ जहाँ शाश्वत एवं सनातन धर्म के रूप में उभरा है वही इसका एक महत्वपूर्ण पक्ष कामनापूर्ति में सहायक के रूप में सामने आया है । वेद में न केवल मनुष्यों को यज्ञों द्वारा अपनी मनोकामनाएँ सिद्ध करने का उपदेश दिया गया है अपितु देवताओं द्वारा अनेक महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ यज्ञ की उपासना

-----  
1. तमेव श्रद्धा तमुब्रह्माणामाह्वयन्नन्यं सामममुष्य शासम् ।

त शुक्रस्य तन्वो वेद तित्त्रो यः दक्षिणाधारराध ॥ ऋ०।०.।०७६

द्वारा संभव हुयो है । इन्द्र द्वारा सौ यज्ञों का सम्पादन करके देवराज इन्द्र अथवा महेन्द्र पद को प्राप्ति इसका महत्त्वपूर्ण उदाहरण है । इससे भी रोचक बात वेदों में यह है कि वेद अथवा ब्राह्मणों में जहाँ कहीं भी सृष्टि रचना की बात आयी है कि वेद अथवा ब्राह्मणों में जहाँ कहीं भी सृष्टि रचना की बात आयी है चाहे वह सृष्टिः आपः अर्थात् जलों के द्वारा की जा रही हो चाहे वायु के द्वारा, सृष्टिकर्ता प्रजापति हो, हिरण्यगर्भ हो अथवा पवित्र पुरुष सूक्त में वर्णित आदि पुरुष सभी सर्वप्रथम सृष्टि रचना की कामना करते हैं तथा सभी किसी न किसी प्रकार के यज्ञों द्वारा ही अपनी इस कामना को कार्यरूप प्रदान कर पाते हैं<sup>1</sup> देवताओं एवं मनुष्यों द्वारा की गई पुत्र पौत्रादि की प्राप्ति, धनधान्य, सुख श्रेय, चतुर्वर्ग की प्राप्ति, त्रिविध तापों से छुटकारा, गोधन आदि बहुत से भौतिक पदार्थों की प्राप्ति से लेकर मोक्ष की प्राप्ति तक की कामनाओं का साधन यज्ञ के द्वारा ही किया जाता था ।

महाभारतकार यज्ञों द्वारा कामनापूर्ति यज्ञों द्वारा कामनापूर्ति के पक्ष पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जो हानि लाभ में समान भाव रखने वाले श्रद्धालु संयमी और शुद्ध चित्त वाले पुरुष हैं तथा यज्ञ को कर्तव्य समझ कर करते हैं उनका यज्ञ कभी असफल नहीं होता<sup>2</sup> । शान्तिपर्व में महर्षि कपिल से महर्षि त्यूमरश्मि कहते हैं कि अग्न्याधान तथा सोमेयाग करने से जो फलमिलता है और अन्यान्य महायज्ञों के अनुष्ठान से जिस फल की प्राप्ति होती है उसे आप जानते हैं<sup>3</sup> ।

इन श्लोकों में यज्ञ की आवश्यककृत्यता का निरूपण किया गया है कि यज्ञ यदि सम्पूर्ण श्रद्धा नियम-संयम के द्वारा किया जाय तो वह सम्पूर्ण हार्दिक इच्छाओं की पूर्ति अवश्य करता है ।

1. कामस्तदग्रे समवर्तताधि - - - - - हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ ऋ० १०. १२९. ४

2. समानां श्रद्धाना - - - - - न यज्ञो जातु नेष्यते ॥ मह० १२. २६४. ७ ।

3. अग्न्याधेयो यद् भवति - - - - - तद् भगवान् पुनः ॥ मह० १२. २६४. ३८



### यज्ञों द्वारा स्वर्गप्राप्ति

यज्ञों द्वारा न केवल सहलौकिक सुख-सुखार्थ की कामनापूर्ति की जाती थी अपितु उसको स्वर्ग प्राप्ति का साधन भी माना जाता था । अनेक श्लोकों द्वारा महाभारतकार इस विषय में अपने मत प्रस्तुत करते हैं जो निश्चित रूप से वैदिक तथ्यों का पुनरानुमोदन करते प्रतीत होते हैं । शान्तिपर्व में महर्षि स्युमरश्मि कहते हैं कि स्वर्ग की इच्छा वाला पुरुष यज्ञ करे यह श्रुति है<sup>1</sup> । अतः पुरुष पहले स्वर्ग रूप फल का संकल्प करने के उपरान्त यज्ञानुष्ठान आरम्भ करे । स्वर्ग की प्राप्ति के लिए यज्ञ करना चाहिये ऐसा ताण्ड्य ब्राह्मण में कहा गया है<sup>2</sup> । महाभारत में जहाँ यह कहा गया है कि "पूर्वकाल में प्रजापति देवता तथा ऋषियों ने यज्ञ और अभीष्ट तपस्या करके पवित्र हो ब्रह्मलोक को प्राप्त किया<sup>3</sup> । वही ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि देवताओं ने यज्ञ श्रम एवं तप रूपी आहुतियों द्वारा स्वर्गलोक को जीत लिया<sup>4</sup> । महाभारत में अन्यत्र कहा गया है कि जो स्वर्गदायक विधि से यज्ञ करता है उसे देहत्याग के बाद महान स्वर्गफल की प्राप्ति होती है<sup>5</sup> । जैमिनीय ब्राह्मण में भी कहा गया है कि जो यजन करते हैं वे स्वर्गलोक में आरोहण करते हैं<sup>6</sup> । महाभारत में जहाँ यज्ञों द्वारा स्वर्गप्राप्ति का उपदेश दिया गया है वहीं यह भी कहा है कि यह स्वर्गप्राप्ति रूपी फल भी अन्य भौतिक सुखों की भाँति विनाशशील है क्योंकि पुण्यक्षीण होने पर मनुष्य पुनः पुनः इस पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं<sup>7</sup> । ये विचार वेदोत्तरकालीन विचारों से प्रभावित प्रतीत होते हैं क्योंकि उपनिषदों में द्रव्यमय यज्ञ एवं उनके स्वर्गादि फलों

1. स्वर्गकामो यजेतिति सतत श्रूयते श्रुति - - -यज्ञः प्रतापते ॥ महट0 2. 268. 18

2. स्वर्ग कामो यजेत् ॥ ताण्ड्य ब्रा० 16. 15. 5 ॥

3. इह प्रजापति पूर्व - - - ब्रह्मलोकमुपाश्रिताः ॥ महट0 12. 192. 20

4. देवा वै यज्ञेन श्रेमेण तपसाहुतिभिः स्वर्गलोकभजयन् ॥ ऐ० ब्रा० 3. 42 ॥

5. यजतः स्वर्गविधिना प्रत्य स्वर्गफलं महत् ॥ महट0 2. 268-39 ॥

6. उध्वा वा एते स्वर्गलोकं रोहन्ति ये यजन्ते ॥ जै० ब्रा० 1. 173 ॥

7. यजेस्तपोभिः न्यमैवैतैश्च दिवं समासाप पतन्ति भूमौ ॥ महट0 2. 318. 110

को हीन दृष्टि से देखा गया है। यह तथ्य वेद विरुद्ध नहीं प्राच्युत वेदानुसारी है। वेद स्वयं कहता है कि द्रव्यमय सकाम यज्ञ एवं स्वर्गफल देने वाले अनुष्ठान उस प्रभु को प्राप्त नहीं करा सकते। परन्तु जो यज्ञ यज्ञ भावना से किये जाते हैं वे विश्वतोधार यज्ञ स्वर्ग की भी अपेक्षा नहीं रखते। देवता यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ करते हैं और परभुत्तम ब्रह्मलोक को प्राप्त करके प्रभु का सायुज्य प्राप्त करते हैं। परमेश्वर्यवान प्रभु को कोई कोरे कर्म द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता। मात्र अग्नि में तिल आदि फूँकना व फूँकते, रहना द्रव्यमय भौतिक यज्ञ कहा जा सकता है परन्तु जब तक साधक की हार्दिक भावना का यज्ञ के साथ योग न हो जाय तब तक अमरत्व की प्राप्ति असम्भव है। श्रीमद्भगवद्गीता में सकाम कर्म करने वाले, सोमरस पीने वाले पापरहित मनुष्यों को उनकी इच्छानुसार स्वर्ग की प्राप्ति तो हो जाती है तथा वे देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते भी हैं परन्तु पुण्यक्षीण होने पर वे पुनः मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं ऐसे बार-बार करने वाले लोग जन्म मरणा के बन्धन में पड़कर बार बार आवागमन को प्राप्त होते हैं।<sup>1</sup>

### षष्ठीय वेदि

शान्तिपर्व में द्रोणा, शतशृङ्ग और यज्ञद्वार नामक पर्वतों को यज्ञ वेदि में ईंटों की जगह चुना जाना वर्णित है<sup>2</sup>। यहाँ यज्ञ वेदि की विशालता का प्रतीकात्मक एवं अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन यज्ञ की महत्ता को प्रदर्शित करता है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि महाभारतकाल में भी वेदि निर्माण के लिये ईंटों का प्रयोग होता था। कृष्ण यजुर्वेदीय मैत्रायणी संहिता में भी अग्निचिति याग, गार्हपत्य यजन तथा आहवनीय यजन के तन्दर्भ में छटकाधान के अन्तर्गत विभिन्न नाम वाली छटकाओं द्वारा वेदि निर्माण की बात कही गई है<sup>3</sup>।

1. गीता 9. 20-21

2. द्रोणाश्च शतशृङ्गश्च - - - - - चिता मघवता सह ॥ शान्ति 0 320. 185 ॥

3. मैत्रायणी सं 0 2. 8. 12. 14----29, 2. 12. 5--6, 2. 7. 16. 218 ॥

अनुशासन पर्व में वेदि को कमल पुष्पों द्वारा सजाने तथा सोमपान करने वाले मनुष्य द्वारा दिव्य अश्वों द्वारा यात्रा करने का उल्लेख<sup>1</sup> कल्पना मात्र नहीं है क्योंकि मानव श्रौतसूत्र में आहवनीय यजन की प्रथम चिति के सन्दर्भ में मैत्रायणी संहिता के मन्त्र द्वारा अग्निवेदी के मध्यभाग उत्तरवेदि पर अश्व के चुर चिन्ह पर एक पुष्करपर्ण रखने का निर्देश दिया गया है<sup>2</sup> ।

यज्ञ में हिंसा का निषेध .

महाभारत में यज्ञों हिंसा के निषेध पक्ष का प्रतिपादन किया गया है । इस विषय में शान्तिपर्व में अनेक प्रकार से तथ्य उपस्थित किये गये हैं । यहाँ इस सन्दर्भ में एक कथा आती है कि " सतयुग में राजा उपरिचर के अश्वमेध यज्ञ में देवताओं ने अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहा कि अज अर्थात् बकरे के द्वारा यज्ञ करना चाहिये"<sup>3</sup> जबकि ऋषियों ने कहा कि यज्ञों में बीजों द्वारा यजन करना चाहिये ऐसी वैदिकी श्रुति है<sup>4</sup> । सत्पुरुषों के धर्मानुसार यज्ञ में हिंसा नहीं होनी चाहिये । साथ ही यह भी कहा कि यह श्रेष्ठ सतयुग चल रहा है इसमें पशुहिंसा कैसे की जा सकती है<sup>5</sup> उसी समय दोनों पक्ष आकाशचारी वसु राजा उपरिचर के समक्ष अपना-अपना मत प्रस्तुत करते हैं । राजा वेदज्ञ थे अतः वे ऋषियों की बात को सत्य जानते हुए भी देवताओं का पक्ष लेते हैं<sup>6</sup> । ऋषि उन्हें पाताल लोक में गिरने का श्राप दे देते हैं । देवताओं की अनुकम्पा व स्वयं राजा उपरिचर को

1. यत्र वेदी पुण्डरीकै सृणोति- - - - ।। महो 13.102.54

2. मा० श्रौ० सू० 6.1.7.7-14, 6.2.1.10.16, मै० सं० 2.6.15.212

3. अजेन यष्टव्यमिति- - - - पशुरिति स्थिति ।। महो 12.337.3 ।।

4. बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्य- - - - -नो हन्तुमर्हथः ।। महो 12.337.4 ।।

5. नैष धर्मः सतां- - - - -कथं बधयेत वै पशुः ।। वही 12.33.5 ।।

6. धान्यैर्यष्टव्यमित्येव- - - - -यष्टव्यमेवमुक्तं वचस्तदा ।। वही 12.337.13 ।।

भगवद्भक्ति से राजा का वहाँ से उद्धार होता है<sup>1</sup> ।

उक्त आख्यान में ऋषियों का मत ही अधिक महत्वपूर्ण एवं सत्य प्रतीत होता है क्योंकि उन्होंने अपना मत वेद को प्रमाण मान कर प्रस्तुत किया है । कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता में भी कुछ इसी तरह की बात कही गयी है कि का सार पुस्त्य में था तदनन्तर यह अश्व, वृष, भेड़, बकरे, चावल तथा जौ में सरक जाता है । अतः सर्वप्रथम देवताओं ने पुस्त्य को ही पशु के रूप में बलि दिया था और अब जौ तथा चावल का पुरोडास देवताओं को प्रदान किया जाता है क्योंकि पुस्त्य से होकर यज्ञ का सार पशु में आया है अतः विधान किया गया है कि बलि पशु के यज्ञशेष को यजमान को नहीं खाना चाहिये क्योंकि यह उसी के शरीर का निष्कृयण है<sup>2</sup> । किन्तु इस प्रकार की नरबलि का कोई स्पष्ट प्रमाण ब्राह्मणों या संहिताओं में देखने को नहीं मिलता ।

राजा उपरिचर सम्बन्धी पूर्वोक्त कथानक में ऋषियों द्वारा सतयुग में यज्ञ पशुओं की हिंसा न किये जाने की बात से प्रतीत होता है कि प्राग्वैदिक युग में यज्ञ का स्वस्व अत्यन्त साधारण तथा जटिलताओं से दूर था । मन्त्रों द्वारा ही देव आराधना होती थी । महाभारत शान्तिपर्व में ही अन्यत्र कहा गया है कि सतयुग में चारों चरणों से युक्त धर्म का पालन होगा । इस युग में यज्ञ पशुओं की हिंसा नहीं की जाती । तदनन्तर त्रेता युग आयेगा जिसमें वेदत्रयी का प्रचार होगा । उस युग में मन्त्रों द्वारा पवित्र किये गये पशुओं का यज्ञों में वध किया जायेगा और धर्म का एक पाद चतुर्थ अंश कम हो जायेगा<sup>3</sup> । ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र चारों वर्णों द्वारा किये जाने योग्य यज्ञों का वर्गीकरण करते हुए महाभारत कार कहते हैं कि "ब्राह्मणों के लिये तप ही यज्ञ है क्षत्रियों के लिये हिंसा प्रधान

1. अधप्रभृति ते- - - - -मित्त्वा प्रवेक्ष्यसे ॥ वही 337.16 ॥

2. मै० सं० 3.102

3. श० ब्रा० 1. 2. 3. 7

युद्धादि ही यज्ञ है वैश्यों के लिये घृतादि हविष्य की आहुति देना ही यज्ञ है । शूद्रों के लिये तीनों वर्णों की सेवा करना ही यज्ञ है<sup>1</sup> । यहाँ प्रतीत होता है कि केवल राजन्य वर्ग हिंसा प्रधान यज्ञों में प्रवृत्त होने के अधिकारी थे अन्य वर्णों के द्वारा किये जाने वाले यज्ञ अहिंसक होते थे ।

### यज्ञ का आध्यात्मिकीकरण

वेद के अनुसार जीवन का आदर्श यज्ञ है जो मनुष्य सदैव स्वार्थ नहीं साधते वे अवश्य ही किसी न किसी रूप में यज्ञ करते हैं गीता ने इस यज्ञ के सात्त्विक-राजस-तामस तीन भेद किये हैं । इनमें सात्त्विक यज्ञ ही स्वीकरणीय हैं राजस और तामस नहीं । सात्त्विक यज्ञ स्विष्ट है तो राजस और तामस दुरिष्ट । गीता में सात्त्विक यज्ञ उसे कहा गया है जो शास्त्र विधि से न्यस्त हो तथा मन को समाधान करके फल की इच्छा न रखते हुए किया गया हो<sup>2</sup> । किसी भी फल की इच्छा न होना तभी संभव हो सकता है जब मनुष्य का मन व इन्द्रियाँ उसके वश में हों । ऐसे मनुष्य शीघ्र ही देवत्व को प्राप्त करते हैं । आश्वमेधिक पर्व में कहा गया है कि "पूर्वकाल में भगवान् नारायण देव की प्राप्ति के लिये भक्त-पुरुषों ने इन्द्रिय रूपी पशुओं को अपने अधीन कर लिया<sup>3</sup>" यज्ञ का अभिप्राय यहाँ द्रव्यमय यज्ञ से नहीं, निष्काम भाव से किया गया कोई भी कर्म यज्ञ की कोटि में आ सकता है । हमारी भावनाएँ आकांक्षा रहित तब हो सकती हैं जब हम यज्ञ को यज्ञ भावना से करें । इसके लिये हम ऋग्वेद में वर्णित पुरुष सूक्त को अपना प्रेरणास्रोत बना सकते हैं जिससे इस यज्ञ स्पी सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ शान्तिपर्व में भी कहा गया है कि यज्ञ के अनुष्ठान को कर्तव्य मानकर फल की इच्छा न रखते हुए यज्ञ करने वाला

1. इदं कृतयुगं- - - - युगे त्मिन् न तदन्यथा ॥ शान्ति 340. 82 ॥

यत्तुष्टपात् सकलोधर्मो- - - - त्रयी यत्र भविष्यति ॥ शान्ति 340. 83 ॥

2. अफलाका क्षिमिर्यज्ञो- - - - समाधाय स सात्त्विकः ॥ गीता 17. ११ ॥

3. नारायणाय देवाय यदविन्दन् पशुन् पुरा ॥ महा 14. 25. 16 ॥

व्यक्ति न तो हिंसा करता है, न किसी से द्रोह करता है और न अहंकार पूर्वक किसी कर्म का आरम्भ ही करता है<sup>1</sup> । यहाँ यह भी कहा गया है कि "मनुष्य इन कामनाओं से मुक्त हो निष्काम भाव से कर्मों का अनुष्ठान करके परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करे । इसी उद्देश्य से कर्मों का विधान किया गया है वह उन्हें मनुष्यों को अपने जाल में फँसाता है जिनका मन भोगों में आसक्त है वास्तव में इन कामनाओं से दूर रहकर परमात्मा को ही प्राप्त करने का प्रयत्न करे<sup>2</sup>।

सकाम यज्ञ से स्वर्ग मिल सकता है सावधि मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है परन्तु निरवधि परमगति को प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि निष्काम भाव से किया गया कार्य ही बन्धन का कारण नहीं बन सकता । वेद भी यज्ञ को यज्ञभावना से करने का आदेश देता है । इसी यज्ञभावना को पुष्ट्य सूक्त में प्रथम धर्म कहा गया है । ये प्रथम धर्म कामनाओं से असम्पृक्त तथा विशुद्ध यज्ञभावना पर आधारित थे । यज्ञ के इस त्यागभाव को मन्त्र में यज्ञ से ही यज्ञ करना कहा गया है । सृष्टि के मूल में रचना से पूर्व ये ही प्रथम धर्म थे इन्हें प्रथम धर्मों को भावमय धर्म कहा जा सकता है । क्योंकि जिन्होंने भावमय यज्ञ किये उन्हें संसार चक्र में नहीं पड़ना पड़ा वे यज्ञ द्वारा यज्ञ करके महिमामय बने और साध्य तथा देवों के लोकों को चले गये जिन्हें मन्त्र में नाक लोक कहा गया है<sup>3</sup> । शान्तिपर्व में भी कहा गया है "संसार में जन्म और मरणा की परम्परा निरन्तर चलती रहती है ऐसा सोचकर वैदिक कर्मकाण्ड में बताये हुए सभी कर्मों और उनके फलों को जानकर उनका परित्याग करके मनुष्य को अक्षय धर्म का पालन करना चाहिये" । यहाँ अक्षय धर्म से तात्पर्य वेदोक्त प्रथम धर्म से है ।

1. नहिनस्ति नारभते नाभिदूह्यति किंचन ।

यज्ञो यष्टव्य इत्येव यो यजत्यफ्लेप्तया ॥ महा० १२. २६ & ३१ ॥

2. अभिर्विमुक्तः परमाविवेश अभिर्विमुक्तः परमाददति ॥ शा० २०१. १३ ॥

3. युजेन युज्यमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथुमान्योतन् ।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्रपूर्वे साध्यासन्ति देवाः ॥ अ० १०. ८

### यज्ञों का मानसिक अनुष्ठान--वैदिक एवं महाभारतीय संदर्भ

"हमारी आयु अर्थात् जीवन को अवधि यज्ञमय हो यज्ञ के द्वारा वह समर्थ बने हमारी प्राणाशक्ति क्षीन क्रिया, श्रवणा, वाणी, मन, बुद्धि तथा इन सबके अन्दर व्याप्त ज्योतिर्मय आत्मा यज्ञ के द्वारा ही शक्ति ग्रहण करे और यज्ञमय बने । हमारा सम्पूर्ण यजन भी यजनमय हो । यज्ञ की भावना ही उसे अनुभावित करती दृष्टे<sup>1</sup> । यज्ञ की यह भावना आर्य संस्कृति का मेरुदण्ड है । यजुर्वेद के इस मन्त्र में अपनी समस्त वाह्य एवं आन्तरिक शक्तियों द्वारा यज्ञ करने की प्रार्थना की गयी है यहाँ अभिप्राय द्रव्यमय यज्ञ से नहीं है । शरीर में चलने वाले यज्ञ में चक्षु, श्रोत, मुख, वाणी, मन, प्राणा, बुद्धि सभी भाग ले रहे हैं ।

यज्ञ के सम्बन्ध में श्रुति कहती है "यज्ञों के श्रेष्ठतम कर्म" कर्म रूप इस यज्ञ शब्द का व्यापक प्रयोग पाया जाता है । भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में तेरह प्रकार के यज्ञों का उल्लेख किया गया है यथा--ब्रह्मार्पण यज्ञ, दैवयज्ञ, ब्रह्माग्नियज्ञ, संयमाग्नियज्ञ, इन्द्रियाग्नियज्ञ, योगाग्नि यज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ, ज्ञानयज्ञ, प्राणायामयज्ञ और प्राणायज्ञ । ये सब निष्काम होने के कारण बन्धन कारक नहीं होते<sup>2</sup> । वहीं बत्तीसवें श्लोक में कहा गया है कि "इस प्रकार बहुत प्रकार के यज्ञ वितत हैं । उन सबको कर्मजन्य समझो इस प्रकार जान लेने से मुक्त हो जाओगे<sup>3</sup> ।"

1. आयुर्यज्ञेन कल्पताम् प्राणायामयज्ञेन कल्पताम् चक्षुर्यज्ञेन कल्पताम् श्रोत्रम् यज्ञेन कल्पताम् वाग्यज्ञेन कल्पताम् मनो यज्ञेन कल्पताम् । ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताम्, आत्मायज्ञेन कल्पताम् यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् ॥ यजु0 29.18

2. ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्, ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना, देवामेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते, ब्रह्माग्नावापरेयज्ञं यज्ञैवैवुप जुह्वति ॥ गीता 4. 24--26

3. एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखो ।

कर्मजान विद्धि तान सवन्निव ज्ञात्वा विमोक्षयते ॥ गीता 4. 27 ॥

उपर्युक्त तेरह प्रकार के यज्ञों के मूल में आत्मयज्ञ की स्थिति है जैसा कि यजुर्वेद के मन्त्र में कहा गया है कि हमारी आयु, प्राणा दर्शन, श्रवण, मन, बुद्धि सभी आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हैं । अतः यदि हम आत्मयज्ञ के साधक हो गये तो किसी भी प्रकार के यज्ञ को साधने की आवश्यकता नहीं है । परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि अन्य यज्ञों को साधे बिना ही कोई व्यक्ति आत्मयज्ञ का साधक बन सकता है । प्रारम्भ कर्मकाण्ड प्रधान द्रव्ययज्ञों से ही करना होगा । बिना द्रव्ययज्ञों का सम्पादन किये उसकी भावना का यज्ञ से जुड़ना मुश्किल है । जब मनुष्य की प्रवृत्ति कर्मकाण्ड प्रधान यज्ञों से निवृत्त हो जायेगी तभी वह मानसिक यज्ञों का अनुष्ठान ठीक प्रकार से कर सकेगा । मानसिक यज्ञों का सम्पादन करने के लिये उसे सर्वप्रथम अपनी इन्द्रियों सहित मन को अपने वश में करके समस्त कामनाओं को ज्ञानाग्नि में प्रज्वलित करना होगा । ज्ञान भी किसी को सहज ही प्राप्त नहीं होता । जिसने भगवान् की अनन्यभाव से भक्ति की हो । भक्ति भी ऐसी जहाँ भक्त और भगवान् में पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो जाये । इसके लिये मनुष्य को तपस्या के द्वारा अपने आप को पूर्णतया निष्कलुष-निर्मल बनाना होगा तभी वह देवताओं के सायुज्य को प्राप्त करने का अधिकारी होगा । इस प्रकार हम शुरुआत तपोयज्ञ के वर्णन से करेंगे, तत्पश्चात्, देवयज्ञ, ज्ञानयज्ञ, आत्मयज्ञ का वर्णन करेंगे क्योंकि महाभारत में इन्होंने यज्ञों का कुछ विस्तार से वर्णन किया गया है ।

तपोयज्ञ

महाभारतकार मन्त्र दूष्टा ऋषि के कथन का अल्लेख करते हुए कहते हैं कि "यह यज्ञकर्म तुम सब यजमानों द्वारा सम्पादित हैं किन्तु यह होना चाहिये तपस्या से युक्त । उन-उन वैदिक कर्मों में लगे रहना ही तपस्वी का तप कहलाता है । वैदिक कर्मकाण्ड प्रधान यज्ञों में सभी विधि-विधानों का नियम संयम पूर्वक पालन करना भी अपने आप में तपस्या के बराबर ही होता है । किन्तु यहाँ अभिप्राय द्रव्ययज्ञों से ही नहीं है । कोई भी कार्य जो "पूजा", "सङ्गतिकरणा" तथा "दान" का भाव



लिये हुए हो यज्ञ की कोटि में आ सकता है । भिक्षा पर जीवन व्यतीत करते हुए श्रद्धापूर्वक भगवद्भक्ति करना विषयों से विरक्त होकर शान्त एवं तपोमय जीवन व्यतीत करना भी अपने आप में यज्ञ ही है । मुण्डकोपनिषद् में ऋषि ऐसे तपस्वी साधकों के द्वारा की गयी तपस्या पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं "ग्रामों एवं नगरों को विनाशरम्यता से दूर अरमणीय अरण्य में भिक्षा का अवलम्बन लेकर जो विद्वान् शान्त भाव से तप और श्रद्धा का जीवन व्यतीत करते हैं वे रजोगुणा से शून्य होकर सूर्यद्वार से ऐसे लोक में पहुँचते हैं जहाँ वह अमृत अव्यय परम पुरुष है<sup>1</sup> ।

शान्तिर्वर्ष में श्रुति का दृष्टान्त देते हुए यज्ञ की अपेक्षा तप को ही श्रेष्ठ कहा गया है<sup>2</sup> । साथ ही यह भी कहा गया है कि "किसी भी प्राणियों की हिंसा न करना, सत्य बोलना, कुरता को त्याग देना, मन और इन्द्रियों को संयम में रखना तथा सबके प्रति दयाभाव बनाये रखना---इन्हीं को धीरे पुत्रियों ने तप माना है । केवल शरीर को सुखाना ही तप नहीं है<sup>3</sup> ।

गीता के सत्रहवें अध्याय में सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के तप बताये गये हैं । इनमें "देवता, ब्राह्मणा गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता, सरलता ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शरीर सम्बन्धी सात्त्विक कोटि का तप कहा है । उद्वेग न करना, प्रिय हितकारक एवं यथार्थ वचन बोलना, वेदशास्त्रों का पठन एवं परमेश्वर के नाम जपने का अभ्यास वाणी सम्बन्धी सात्त्विक तप है । मन की प्रसन्नता शान्तभाव भगवच्चिन्तन करने का स्वभाव, मनोनिग्रह तथा अन्तःकरण की पवित्रता मन सम्बन्धी सात्त्विक तप के अन्तर्गत आते हैं<sup>4</sup> ।

1. तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये- - - - स पुत्र्योदयवययात्मा ॥ मुण्डको ० १. २. ॥

2. एतदो स्तु तपोयुक्तं- - - - तपस्वितप उच्यते ॥ शा० ७९-१७ ॥

3. अहिंसा सत्यवचनमातृधास्यं- - - -शरीरस्य शोषणाम् ॥ वही ७९ १८ ॥

4. देवद्विज गुरु प्राज्ञ पूजनं- - - -शरीरं तप उच्यते ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं- - - - वाङ्मयं तप उच्यते ॥

मनः प्रसाद सौम्यत्वं - - - -तपोमानसमुच्यते ॥

गीता १७. १४-१७

जो तप सत्कार मान और पूजा के लिये तथा अन्य किसी स्वार्थ के लिये भी स्वभाव से या पाखण्ड से किया जाता है वह अनिश्चित एवं क्षणिक फल वाला तप यहाँ राजस कहा गया है । जो तप मूढतापूर्वक, दृढ से, मन वाण्णी और शरीर की पीड़ा सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है वह तप तामस कहा गया है ।

अभिप्राय यह है कि शरीर वाण्णी एवं मन सम्बन्धी उपर्युक्त तप ही सात्त्विक हो सकते हैं । साथ ही यह भी दिखाया है कि यद्यपि ये तप स्वरूप से तो सात्त्विक हैं परन्तु ये पूर्ण सात्त्विक तब हो सकते हैं जब श्लोक में बताये हुए भावों से किये जायें । ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि "पर्वतों की गुफाओं में तथा नदियों के संगम पर साधना करके बुद्धि के द्वारा विप्रत्त्व को प्राप्त किया" <sup>1</sup> । यहाँ अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि बुद्धि को कोई भी सर्जनात्मक कार्य करने के लिये जिस शान्त वातावरण की अपेक्षा होती है वह हमें पर्वत कन्दराओं अथवा नदी के तटों पर ही प्राप्त होती है । मन को अपने वश में करना, इन्द्रियों को विषयों से विरक्त करके संयम पूर्वक रहना, सुख-दुःख, शोक, क्रोध, मोह, उद्विग्नता, उत्तेजना आदि मनोविकारों का दमन करके श्रद्धा, दया, क्षमा, प्रेम आदि सात्त्विक भावों के पक्ष को प्रबल बनाना तथा ईश्वर को भक्ति में अत्यन्त तन्मयतापूर्वक लगे रहना, फल की इच्छा को सर्वथा त्याग देना भी आन्तरिक रूप से सर्जनात्मक कार्य है । उपरोक्त सात्त्विक गुणों से युक्त व्यक्ति विप्रत्त्व अथवा ब्राह्मणात्त्व की प्राप्ति करके ही तपस्या द्वारा प्रभु के सायुज्य का अधिकारी बन सकता है ।

अपने में न रहने वाले अथवा न्यून रूप में रहने वाले अपेक्षित अंश का दूसरे से आदान करना तप है परन्तु यह तप का फल है । तप की प्रक्रिया में अपने अंश को बाहर निकालने की प्रक्रिया पहले करनी पड़ेगी जिससे बाहर से आने वाले अतिशय का

1. उपर्युक्ते गिरौणां संश्लेषे च नदीनाम्,

धिया विप्रो अजायत ॥ श्रु ४. ६. २४ ॥

आकर्षण हो सके और आकुष्ट अतिशय तप के द्वारा रिक्त अंश में प्रविष्ट हो सके । इस प्रकार अपने में रहने वाले अपेक्षित अंश का ग्रहण करना तप है उसी तरह अतिशय के ग्रहण करने को योग्यता सम्पादन करना क्षेत्र तैयार करना भी तप है । अथर्ववेद में कहा गया है "हम तप तपे, प्रभु के निकट रहते हुए, उनके सामीप्य का अनुभव करते हुए तप तपे और उसके द्वारा आयु को बढ़ाते हुए सन्दर मेधावी ~~बुद्धिमान~~ <sup>बुद्धिमान</sup> के सुनने और सुनाने में तत्पर रहें"।

ज्ञान्यज्ञ

श्रीमद्भगवद्गीता में द्रव्य यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान्यज्ञ का ~~श्रेयस्कर होना~~ कहा गया है क्योंकि उसके सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि अग्नि में घृत, गुड़, दही, दूध, जौ, चावल, तिल, मेवा, चन्दन, कपूर आदि हवि का विधिपूर्वक हवन करने की अपेक्षा अपने हृदय में स्थित समस्त अज्ञान, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, विषयासक्ति को ज्ञानाग्नि में प्रज्वलित कर देना श्रेयस्कर है । जो ऐसा करता है वह जीवन यापन के लिये या विश्व कल्याण को अपने समक्ष रखते हुए जो भी कार्य करता है उसे पूर्णतः निर्लिप्त भाव से करता है और तब एकमात्र ज्ञान का ही अस्तित्व शेष रह जाता है । महाभारत-कार ज्ञानी पुंस्व के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहते हैं "जिन्होंने निष्काम भाव से अपने सारे संकल्पों को नष्ट कर दिया है, जो सदा ज्ञान में ही अपने चित को एकाग्र किये रहते हैं, अग्नियों को अपनी आत्मा में ही स्थापित करके आहार भोग और कामसक्तों का त्याग कर देते हैं, विषयों की उपलब्धि के लिये जिनकी कोई प्रवृत्ति नहीं होती, जो सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त एवं ज्ञानवृद्धि से सम्पन्न है वे स्वभावतः नियम परायण एवं अनन्यचित्त से मेरा चिन्तन करने वाले धीर पुंस्व मुझे ही प्राप्त होते हैं"²।

1. अग्ने तपस्ताप्यामहे उपतप्यामहे तपः ।

श्रुतानि शृण्वन्तो वयम् आयुष्मत्तः सुमेधतः ॥ अथर्व० ७ ॥

2. अकामहल संकल्पाः - - - - - स्वभावान्निमान्विताः ॥ महा० १३.१३.१४९

मानसिक संकल्प विकल्प से उत्पन्न कामनाएँ ही मनुष्य से अच्छे बुरे कर्म करवाती हैं । परन्तु जिस मनुष्य की मानसिक स्थिति सदैव ज्ञान में स्थित रहती है उसका चित्त कामनायुक्त संकल्प नहीं करता । ऐसा नहीं कि वह ज्ञानी मनुष्य कर्महीन हो जाते हों, अपितु वे जो भी कार्य करते हैं उनमें उनको लेशमात्र भी कामना या कर्तापन का अहंकार नहीं रह जाता वे जो भी कुछ करते हैं उसे भगवदर्पणा करके ही करते हैं । यहाँ ज्ञान को अग्नि इसलिये कहा है क्योंकि अग्नि प्रकाश का द्योतक है । वह्य जगत् में हम प्रकाश में ही अपने आसपास की अथवा दूर की वस्तुएँ देख पाते हैं । उसी प्रकार आन्तरिक जगत् में भी जब तक ज्ञान रूपी अग्नि प्रज्वलित नहीं होगी तब तक हम आत्म तत्त्व रूपी यथार्थ का अनुभव नहीं कर पायेंगे । अज्ञान कभी अग्नि का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता और अज्ञानी व्यक्ति सदैव स्वप्न में ही विचरणा करता है । उसका अन्तर्जगत् अज्ञानान्धकार से आवृत होने के कारण यथार्थ से कोसों दूर रहता है । सूर्य भी उदय होता हुआ हमें प्रकाश की प्रेरणा देता है । अन्य तम से निकलकर हम प्रकाश में विचरणा करें जहाँ प्रकाश है वहीं सुख है । प्रसन्नता है आनन्द है । ऋग्वेद के एक मन्त्र में प्रकाश और प्रसन्नता को भाई-बहन जैसा एक साथ रहने वाला कहा गया है ।

मस्तिष्क ज्ञान के प्रकाश से परिपूर्ण हो । अप्रकाश से बढ़कर पवित्रता प्रदान करने वाला कोई और तत्त्व नहीं है । वेद में भी कहा गया है----

असतो मा सद्गमय ।

तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

मृत्योर्मा मृतं गमय ॥

महाभारत में कहा गया है "ब्राह्मण अपने मन को वश में करके त्रिविध अग्नियों की उपासना करते हैं, नित्य अग्निहोत्र में तत्पर और जषहोम में संलग्न रहते हैं, नियमपूर्वक रहकर अपनी इन्द्रियों को वश में करके अपने आप में ही अग्नियों

का आधान कर लेते हैं तथा सब के सब अनन्यचित्त होकर मेरी ही उपासना करते हैं।

यहाँ "त्रेताग्नि" पद के द्वारा जिन तीन अग्नियों की उपासना की बात कही गयी है महर्षि यारक के मत में अग्नि, विष्णु तथा आदित्य ये तीन देवों की श्रेणियाँ हैं। ऊपर उठना अग्नि का धर्म है। ये तीन अग्नियाँ जब अपनी उर्ध्वगमनाील आग्नेयता के साथ मानव जीवन में प्रविष्ट हो जाती हैं तब मानव भी सात्त्विक प्रवृत्तियों से युक्त होने लगता है। पाप भावना दूर होते हुए उसके मन और बुद्धि में दिव्यता का संचार होने लगता है। अपनी दुर्वृत्तियों को नित्य उस त्रिविध अग्नि में होम करते रहना ही यहाँ अग्निहोत्र कहा गया है। अपने आप में ही अग्नियों का आधान करने सम्बन्धी अचारें वेद में भी आयी हैं।

अधि कहते हैं "मैं जातवेदस् वृहत् अग्नि अर्थात् ब्रह्माग्नि के लिये अपने आपको समिधा बनाकर लाया हूँ, यह समिधा सूखी है, तुरन्त अग्नि ग्रहणा करने योग्य है और आग्नेयता में पड़कर पवित्र बनना चाहती है, वैसी ही प्रज्वलित होना चाहती है जैसी अग्नि है जातवेदस् अग्नि भी मुझे इस पवित्रीकरण के लिये, प्रज्वलन तेज और दीप्ति के लिये श्रद्धा तथा मेधा से सुयुक्त करें। श्रद्धा यजन कार्य में अनुरक्ति को दृढ़ करेगी मेधा भ्रान्त पथ में भटकने से बचायेगी"²।

महाभारतकार कहते हैं कि जो अपने को पूर्ण संयम में रखकर जपयज्ञ व मानसयज्ञों द्वारा मेरी श्रृनारायण हारि को श्रृ आराधना करते हैं, जो सदा अग्निहोत्र में तत्पर रह कर अग्नियों का स्वागत करते हैं तथा अन्य कार्य में रत न होकर शुद्ध भाव से सदा अग्नि की परिचर्या करते हैं, ऐसी बुद्धि वाले धीर पुत्ख भक्ति भाव से सम्पन्न होते हैं और मुझे प्राप्त कर लेते हैं³।

1. ये कचिन्मिन्मितात्मानस्त्रेताग्नि- - - - सर्वे वै समुपासते ॥ मेटो 13.13.144 ।

2. अग्नये समिधामाहार्य वृहते जातवेदसे ।

स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु ॥

3. यजन्तो जपयज्ञैर्मा- - - मांगच्छन्ति तादृशाः ॥ अनु० 13.146.147

यहाँ जपयज्ञ एवं मानसयज्ञों द्वारा प्रभु की आराधना करने की बात कही गयी है। जपयज्ञ से तात्पर्य ईश्वर के नाम का श्रद्धापूर्वक जप करते रहना है। ॐ का जाप जपयज्ञ की उच्चतम श्रेणी में आता है। यजुर्वेद 40.15 में "ॐ कृतं स्मर" द्वारा मनुष्य को ॐ का स्मरण करने की आज्ञा दी गयी है। कठोपनिषद् में वेदों द्वारा प्रतिपादित समस्त तपश्चर्या एवं ब्रह्मचर्य साधना का एकमात्र लक्ष्य ओङ्म पद को ही माना है। गोपथ ब्राह्मण भी ओङ्म पद के जाप को महत्त्व देता है। ऋषि कहते हैं "जो इस एकाक्षर अविनाशी ओङ्म नाम को ऋचा का कुशासन पर बैठकर पूर्व दिशा की ओर मुख करके वाक् संयम सहित तथा तीन रात्रि तक उपवास करके एक सहस्रवार जाप करता है उसके समस्त अर्थ और काम सिद्ध हो जाते हैं"। ओङ्म के जाप का फल मोक्ष है ऐसा सभी मनीषियों ने स्वीकार किया है।

महाभारत के पूर्वोक्त श्लोक में मानसयज्ञ का भी उल्लेख है। मन यज्ञ करने से शुद्धता, दिव्यता आदि सत्त्वप्रधान गुणों से युक्त होता है। मन को शिव संकल्पमय बनाने के लिये यजन ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। सामवेद में सत्त्वगुणा सम्पन्न तथा सदैव ज्ञानाग्नि की परिचर्या करने वाले मनुष्य को उपलब्धियों का वर्णन करते हुए कहा है "जो जागता रहता है ऋचाएँ उसकी कामना करती हैं, जो जागता है उसके पास साम पहुँच जाते हैं, जो जागता है सोम उसकी मित्रता में घर बनाकर उसके हो हो जाते हैं" आग्नेयता में जागरूकता है। अग्नि जैसी गति हमारे अन्दर रहनी चाहिये। दिव्यता की ओर चलने के लिये आवश्यक है कि हम निन्द्रा के वशीभूत न हों जागरूक रहकर हम निरन्तर गति करते रहें।

आत्मयज्ञ

शान्तिपर्व में ही कहा है कि "ज्ञानी ब्राह्मणों ने अपने को ही यज्ञ का

1. तदेवदक्षरं ब्राह्मणो यं काममिच्छेत् - - - सर्वकर्माणि चेति ब्राह्मणम् । गो०ब्रा० 1. 22

2. यो जोगारं तमेवः कामयन्ते, यो जोगारं तमुं सामानियन्ति ।

यो जोगारं तमेयं सोम आह, तवाहमेस्मि संख्येन्योकाः ।। 1826 साम ।।

उपकरण मानकर यज्ञ का अनुष्ठान किया<sup>1</sup> ।

आत्मयज्ञ के स्वस्व का वर्णन करते हुए महाभारतकार कहते हैं कि "अपने भीतर ही तीनों अग्नियों की विधिपूर्वक स्थापना करके देहपात होने तक प्राणाग्निहोत्र की विधि से मलीभाँति यजन करता रहे" । यजुर्वेद के "प्राणाय स्वाहा" आदि मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ पहले अन्न के पाँच-छः ग्रास ग्रहण करे ॥ फिर आचमन के पश्चात् ॥ शेष अन्न को निन्दा न करते हुए मौनभाव से भोजन करे<sup>2</sup> । "

"आत्मयज्ञ करने वाला पुस्व नाभि से लेकर हृदय तक को जो प्रादेशमात्र स्थान है उसमें प्रकट हुयी जो चैतन्य ज्योति है उन्ही में समस्त प्राणों, इन्द्रिय, मन आदि की आहुति देता है अर्थात् समस्त प्राणादि का आत्मा में लय करता है २ उसका प्राणाग्निहोत्र यद्यपि अपने शरीर के भीतर ही होता है तथापि वह सर्वात्मा होने के कारण उसके द्वारा देवताओं सहित सम्पूर्ण लोकों में प्राणाग्नि होत्र कर्म सम्पन्न हो जाता है अर्थात् उसके प्राणों की तृप्ति से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्राण तृप्त हो जाते हैं<sup>3</sup> । "

आत्मयज्ञ का अभ्यास करने के लिये पुस्व को जिस तैयारी की आवश्यकता होती है उसके विषय में यहाँ कहा गया है कि "आत्मा का यजन आत्मा में ही रत होकर करे, आत्मा में ही क्रीड़ा करे, फिर सब प्रकार से आत्मा का ही आश्रय ले । अग्निहोत्र की अग्नियों को आत्मा में ही आरोपित करके सम्पूर्ण संग्रह-परिग्रह को त्याग दे और तुरन्त सम्पन्न किये जाने वाले ब्रह्मयज्ञ आदि यज्ञों तथा इच्छित्यों का सदा ही मानसिक अनुष्ठान करता रहे । ऐसा तब तक करे जब तक कि याज्ञिकों के कर्ममय यज्ञ से हटकर आत्मयज्ञ का अभ्यास न हो जाये<sup>4</sup> । "

1. स्वमेव चार्थं कुर्वाणा यज्ञं चक्रुः पुनर्द्विजाः ॥ महर्षिः ॥ 2. 263. 27 ॥

2. त्रींशैवाग्नीन् यजेत्- - - प्राशनीयादकुत्सयन् ॥ महर्षिः ॥ 2. 244. 26 ॥

3. प्रादेशमात्रे हृदि निःसृत्यन्त- - - सर्वेषु लोकेषु सदैवकेषु ॥ महर्षिः ॥ 2. 245-28 ॥

4. आत्मयाजी सो त्मरति- - - यज्ञादात्मनीज्या प्रवर्तते ॥ ॥ 2, 244, 20 ॥

आत्मयज्ञ की पूर्णाहुति पर जो मनुष्य की स्थिति होती है उसका वर्णन करते हुए यहाँ कहा गया है कि "जो संन्यासी खोले हुए मुख में "प्राणाय स्वाहा" आदि मन्त्रों से प्राणों के लिए अन्न की आहुति नहीं देता, अपितु प्राणों {इन्द्रिय मन} को ही आत्मा में होम देता --लीन कर देता है, उसका मस्तक आदि तारा अङ्ग समुदाय तथा किया हुआ और नहीं किया हुआ कर्मसमूह अग्नि का ही अवयव हो जाता है, अर्थात् वह उस अग्नि का स्वरूप हो जाता है जो सृष्टि के आरम्भ से ही प्राणियों के नाभि स्थान उदर में जठरानल रूप में विराजमान है तथा सम्पूर्ण जगत् का आश्रय है । उस वैश्वानर ने इस सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर रखा है<sup>1</sup>।

आत्मयज्ञ को वर्णित करने वाले इन श्लोकों में आत्मा को यज्ञमय बनाने का उल्लेख है । आत्मा यज्ञमय तभी बन सकती है जब मनुष्य सम्पूर्ण जीवन यजनशील हो तथा उसकी सभी कामनाएँ निवृत्त हो गयी हों, निष्काम कर्म एवं अनन्य भक्ति भाव द्वारा उसने अपने आत्मा को शुद्ध सत्त्वमय बना लिया हो । आत्मा को यज्ञमय बनाने से पूर्व उसे अपने मन सहित इन्द्रियों को विषयासक्ति विहीन बनाना होगा । सम्पूर्ण जीवन को यजनशील बनाने के लिए अपने सभी यज्ञाङ्गों के साथ स्वयं को भी उस यज्ञाग्नि में समर्पित कर देना चाहिये जो उसके शरीर में सदैव प्रज्वलित रहती है तथा जिसमें अब तक प्राणाग्नि यज्ञ के द्वारा आहुति प्रदान करके यज्ञ किया था । डा० मुंशीराम शर्मा के शब्दों में "अब तक साथक ने जिन अङ्गों को स यज्ञमय बनाया है और जिनके बल पर वह अपने को वास्तविक अङ्गी अनुभव करने लगता है उन सबके साथ अपने को भी उस परम यज्ञपुरुष के चरणों में समर्पित कर देना आत्मयज्ञ है<sup>2</sup> ।

वेद का श्रद्धा भी इसी यज्ञाग्नि में स्वयं को होम कर देने की इच्छा प्रकट करते हुये कहता है-

1. उत्तान आत्ये न हविर्जुहोति - - - - वैश्वानरः सर्वमिद्रूप पेदे ।। महाOI 2-244-26

2. वैदिकी, डा० मुंशीराम शर्मा पेOजेO 4।7



“अग्नि व्रतपति हैं व्रतों की रक्षा करने वाले हैं । आज ब्रह्मा माता ने मुझे भी दीक्षित किया है, मुझे भी व्रती बना दिया है । मैं इस व्रत की रक्षा कर सकूँ यह उस व्रतपति के ही रक्षक हाथों में है । जैसे तमिधा अग्नि में पड़कर अग्निमय बन जाती है उसी प्रकार आज मैं भी अपने को तमिधा बनाकर उन महानुव्रतों के प्रति, निरन्तर प्रज्वलित अग्नि में डाल रहा हूँ ।”

यहाँ साधक का व्रती विशेषणा अत्यन्त महत्वपूर्ण है । जिस प्रकार प्रलयमय यज्ञों के सम्पादन से पूर्व तथा यज्ञ करते समय यज्ञकर्त्ता को कुछ व्रतों का पालन करना पड़ता है ये व्रत ब्रह्मघर्य पालन स्नान, ध्यान नित्यकर्मों द्वारा अन्दर बाहर की पवित्रता, नियमित अग्निहोत्र, पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान तथा एक या दो पूर्व रात्रियों में निराहार रहते हुये अग्नि की आराधना होते हैं । उसी प्रकार आत्मयाजी के लिये भी अन्य नियमों के पालन के साथ निराहार या स्वल्पफलाहार रूपी व्रत का पालन करना होता होगा इसीलिये साधक को यहाँ व्रती तथा अग्निदेव को व्रतपति कहा गया है, क्योंकि यह यज्ञ जठराग्नि अथवा प्राणाग्नि को लक्ष्य करके किया जा रहा है ।

जैसा कि गीता में भी कहा गया है कि “निराहार रहने वाले मनुष्य की विषयासक्ति समाप्त हो जाती है” अतः आत्मयाजी मनुष्य के लिये आवश्यक है कि जब वह आत्मयज्ञ की पूर्णाहुति की ओर अग्रसर हो रहा हो तब उसे निराहार व्रत का पालन करना चाहिये । क्योंकि तभी उसकी विषयों से पूर्णतया निवृत्ति हो सकेगी, उसका आत्मयज्ञ सार्थक हो सकेगा तथा यज्ञ भावना के द्वारा यज्ञपुरुष के सायुज्य को प्राप्त कर साधक आवागमन के चक्र में मुक्ति प्राप्त कर सकेगा ।

-----  
1. अम्यादधामि तमिधम् अग्ने व्रतपते त्वमि ।

व्रतं च ब्रह्मा योपैमि ईन्द्रेत्वा दीक्षितो हम् ॥

\*\*\*\*\*

### सृष्टि-प्रक्रिया

अनादिकाल से ही मनुष्य के मस्तिष्क में संसार की रचना अर्थात् सृष्टि के सम्बन्ध में अनेक विचार उठते रहते हैं। यह विश्व क्या है? इस अखिल ब्रह्माण्ड के निर्माण का प्रारम्भिक स्तर क्या था तथा इस विश्व के सृष्टा का भी सृष्टिकर्ता कौन था? इसके जीव, सम्पूर्ण नक्षत्र मण्डल आदि की उत्पत्ति कैसे, क्यों, कब और कहाँ हुयी? समस्त प्राकृतिक, अप्राकृतिक पदार्थों का उत्पत्ति, धारणा एवं विनाशकर्ता कौन है? आदि-आदि प्रश्न हमारी जिज्ञासा का अनुवर्तन करते रहते हैं।

सृष्टिविषयक जिज्ञासाजन्य प्रश्न जब दृष्टा ऋषि ने अपनी अन्तर्दृष्टि से पूछा कि "वह कौन सा वन है और वह कौन सा वृक्ष है जिससे विश्वकर्मा ने इस आकाश और पृथ्वी को बनाया।" तो उसने अपनी अन्तःकरण की दृष्टि से ही उसका समाधान भी पाया कि "वह वन और वह वृक्ष ब्रह्म ही है जिससे विश्वकर्मा ने आकाश और पृथ्वी को बनाया था"²।

नासदीय सूक्त के ऋषि इस विषय में सृष्टिकर्ता ईश्वर की भी अनभिज्ञता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि "यह नानात्वमयी सृष्टि जहाँ से उत्पन्न हुयी यह स्वयं अपने स्वस्व को धारणा करती है या नहीं। पर व्योम में जो इस सृष्टि का अध्यक्ष ईश्वर है वह भी इसको जानता है या नहीं यह भी मैं नहीं कह सकता"³।

1. किं त्विदं नु क उ स वृक्ष आस यतो घावापृथिवी निष्ठतक्षुः

मनीषिणी मनसा पुच्छतेदु तपदुध्यतिष्ठदवनानि धारयन् ॥ श्रु ०. ८१. ५

2. ब्रह्मा वनं स वृक्ष आस यतो घावा पृथिवी निष्ठतक्षुः ।

मनीषिणी मनसा विदुषी मि ब्रह्माप्यतिष्ठद भुवनानि धारयन् ॥ तै ० ब्रा ०

3. इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दुषे यदि वा न ।

यो अस्यध्यक्षः परमे व्योमन्तसो अङ्ग वैद यदि वा न वैद ॥ श्रु ० १०. १२९. ७४

कौन जानता है और कौन उसका वर्णन कर सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से आयी । देवता भी तो सृष्टि के बाद उत्पन्न हुए थे । तब कौन जानता है कि यह सृष्टि किससे उत्पन्न हुयी<sup>1</sup> ।

अथर्ववेद में भी पूछा गया है कि "किसने यह भूमि बनायी । किसने यह आकाश रचा । यह ऊर्ध्व तिर्यक् लोक तथा अन्तरिक्ष किसने बनाया<sup>2</sup> ।

वेदों के इन्हीं विजिज्ञास्य एवं समाधानपूर्ण प्रश्नोत्तरों का अनु-गुंजन महाभारत में सर्वत्र सुनाई देता है । महाभारतकार सृष्टि-प्रक्रिया सम्बन्धी प्रमुख वैदिक एवं सांख्या-सम्बन्धी मान्यताओं की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं ।

### वेद एवं महाभारत में सृष्टि-प्रक्रिया

ऋग्वेद में प्रमुख रूप से पुंस्त्व सूक्त, हिरण्यगर्भ सूक्त एवं नासदीय सूक्त के अन्तर्गत जहाँ सृष्टि सम्बन्धी विषयों के प्रति उत्सुकता प्रदर्शित करते हुए अनेक प्रश्नों को रखा है वहीं अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से उनका समाधान भी प्रस्तुत किया गया है । इन तीनों सूक्तों में सृष्टि-सम्बन्धी परस्पर भिन्न मान्यताओं के दर्शन होते हैं । इन तीनों सूक्तों में निहित सृष्टि-विषयक दार्शनिक विचारों का प्रस्तुतीकरण महाभारत में भी किया गया है ।

### पुंस्त्व सूक्त

ऋग्वेद के दसवें मण्डल में पुंस्त्व सूक्त अपनी दार्शनिकता एवं गम्भीरता के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है । साथ ही इसमें सृष्टि विषयक विभिन्न रहस्यों का विशदीकरण भी किया गया है ।

- 
1. को अद्वा वैदु क इह प्रवोचत्कुतु आजोता कुत इयं विशृष्टिः ।  
अवर्गिदेवा अस्य विसर्जिनाया को वेद यत आब्रूय ॥ अ० १०. १२९. ६ ॥
  2. केनयं भूमिर्विहिता केन पौरुत्तरा हिता  
केनदं उर्ध्व तिर्यक् पान्तरिक्षं व्यपोहितम् ॥ अथर्व १०. २. २४

वेद में इस सूक्त के अधि नारायण हैं जिन्होंने अपनी कल्पना से पुस्त्य के आध्यात्मिक स्वस्व का विवेचन किया है। "पुस्त्य के सहस्रसिर सहस्रनेत्र तथा सहस्रपाद हैं। उसके सिर नेत्र तथा पैरों की संख्या की ह्यत्ता नहीं है। वह इस विश्व के परिमाण से अधिक है"।<sup>1</sup> इस मन्त्र में वर्णित पुस्त्य का सृष्टिकर्ता होना भले ही स्पष्ट उल्लिखित न हो परन्तु इसमें वर्णित उसका विराट् स्वस्व उसकी विशेष योग्यताओं का स्वतः परिचायक है जिसका स्पष्टीकरण अग्रिम मन्त्रों में वर्णित उसके द्वारा की गयी सृष्टि रचना से होता है। महाभारतकार कुछ इसी प्रकार भगवान् नारायण की स्तुति करते हुए उन्हें "सहस्र नेत्रों को धारण करने वाले, हिरण्यनाभ, यज्ञाङ्ग स्वस्व सब ओर मुख वाले आदि विशेषणों से सम्बोधित करते हैं" जो उक्त वैदिक मन्त्र से पर्याप्त साम्य रखते हैं।

पुस्त्य सूक्त के पाँचवे मन्त्र के अनुसार "पूर्ववर्णित स्तूयमान पुस्त्य से विराट् व्यक्त हुआ विराट् के बाद उसके अधिष्ठाता रूप में पुस्त्य आविर्भूत हुआ। आविर्भूत होकर वह पुस्त्य अधिकरण भूत जडतत्त्व या ब्रह्माण्ड के पीछे और आगे निकला अर्थात् उसमें सब ओर से व्याप्त हो गया"।<sup>2</sup> महाभारतकार उक्त मन्त्र की व्याख्या अपने शब्दों में करते हुए उन्हें जगत् स्वस्व सबके अन्तरात्मा सनातन पुस्त्य, निर्लेप, पूरुष, अविनाशी, अव्यक्त, सर्वव्यापी, प्रकृति से परे तथा इन्द्रियातीत बताते हैं साथ ही यह भी कहते हैं कि उन भगवान् नारायण के हृदय में जब सृष्टि-विषयक संकल्प का उदय हुआ तो उन्होंने अपने हजारवें अंश से एक पुस्त्य को उत्पन्न किया। महर्षियों ने सर्वप्रथम जिसको इसी नाम से सुना था। जो मानस पुस्त्य के नाम से प्रसिद्ध है। इस सूक्त में एक पुस्त्य की कल्पना की गयी है

1. सहस्रशीर्षा पुस्त्यः सहस्रनासः सहस्रपात् ।

स भूमि विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठदशाङ्गुलम् ॥ ऋ० १०. १०. १ ॥

2. तस्माद्विराजयत विराजो अधि पुस्त्यः ।

स ज्ञातो अत्यरिच्यत पञ्चाद्भूमिर्धो पुरः ॥ ऋ० १०. १०. ५ ॥

और सारे देवताओं को इसमें अन्तर्भूत कर लिया गया है। आचार्य शंकर ने संसार को झुठलाया कि संसार बिल्कुल ऐसा है जैसे "तर्परज्जु"। लेकिन पुस्त्य सूक्त में संसार और ईश्वर के बीच क्या सम्बन्ध है यह बताया गया है। पार्श्विक कहते हैं कि ईश्वर नहीं है किन्तु संसार है। पुस्त्य सूक्त में बताया है कि ईश्वर ने संसार को कैसे बनाया। ऋग्वेद में कहा है कि सत्य एक है<sup>1</sup>। तब इससे संसार की उत्पत्ति कैसे होती है। दो कारणों से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। - उपादान कारण 2- निमित्त कारण।

इसका समाधान पुस्त्य सूक्त में यज्ञ के द्वारा किया गया है। उस पुस्त्य ने अपने को यज्ञीय पशु बनाया और अपने ही द्वारा उत्पन्न अग्नि में अपनी आहुति दे दी, उसी से सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति हुई<sup>2</sup>। पुस्त्य सूक्त में यज्ञ की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यज्ञ से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। पुस्त्य सूक्त की इस अवधारणा का भी अनुकरण करते हुए महाभारतकार यज्ञ को सम्पूर्ण सृष्टि का मूल बताते हैं<sup>3</sup>। चारों वर्णों की उत्पत्ति भी इस यज्ञ पुस्त्य के द्वारा ही बताई गयी है। ब्राह्मण इसके मुख से, क्षत्रिय भुजा से वैश्य जंघाओं से और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए<sup>4</sup>। महाभारत में भी शान्तिपर्व के राजधर्म पर्व में "पुरुषा-वायु संवाद" में पुरुषा द्वारा वायुदेव से ब्राह्मण की उत्पत्ति आदि विषयक प्रश्न करने पर वायुदेव उत्तर देते हैं कि ब्रह्माजी के मुख से ब्राह्मण की, दोनों भुजाओं से क्षत्रियों की तथा दोनों उरों से वैश्य की सृष्टि

-----

1. एकं सद विप्रा बहुधा वदन्ति- - - - -॥ ऋ०

2. यत्पुष्टिणा हविषा देवा युज्जमतन्वत- - -॥ ऋ० 10. 90. 6 ॥

3. यज्ञो मूलमिति श्रुतिः ॥ 12. 267. 27 ॥

4. ब्राह्मणो<sup>1</sup> स्य मुखमासी दाहू राज्ञ्यः कृतः ।

उरु तदस्य वैश्यः पृथां शूद्रो अजायत ॥ 10. 90. 12 ॥

हुयी है<sup>1</sup>। इसके बाद इन तीनों वर्णों की सेवा के लिये ब्रह्माजी के दोनों पैरों से चतुर्थ वर्ण शुद्र की रचना हुयी<sup>2</sup>। शान्तिपर्व के मोक्षधर्म पर्व में इसी विचार धारा को पुनरावृत्ति की गई है<sup>3</sup>।

पुस्त्य सूक्त में अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हुए सारे संसार के पदार्थों को एक दूसरे से सम्बद्ध बताया है। देवताओं के रकोकरणा के अनेक मन्त्र पुस्त्य सूक्त में आते हैं यथा पुस्त्य के मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य, मुख से इन्द्र तथा प्राणा से वायु उत्पन्न हुई<sup>4</sup>। इस पुस्त्य की नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से दुलोक, पैरों से भूमि तथा कान से दिशाएँ उत्पन्न हुयी<sup>5</sup>। महर्षि व्यास भी सृष्टि-विषयक मान्यताओं की स्थापना करते समय अनेक स्थलों पर ऋग्वेदिक पुस्त्य सूक्त का अनुकरण करते हैं। यहाँ मात्र इतना अन्तर है कि वे मुख से मात्र अग्नि की उत्पत्ति मानते हैं इन्द्र की नहीं। मन से सरस्वती देवी एवं वेदों की उत्पत्ति वर्णित करते हैं<sup>6</sup>। एक अन्य श्लोक में महाभारतकार के अनुसार अच्युत श्रीकृष्ण का मुख अग्नि है, मस्तक स्वर्ग है, नाभि आकाश है, पैर पृथ्वी हैं, नेत्र सूर्य हैं और कान दिशाएँ हैं। उस सम्पूर्ण लोक स्वस्थ परमात्मा को नमस्कार है<sup>7</sup>।

वेद में जहाँ पुस्त्य को वर्तमान, भूत एवं भविष्य से अधिष्ठित अर्थात् त्रिकालस्वस्थ बताया है<sup>8</sup> वहीं महाभारत में अच्युत श्रीकृष्ण को तीनों कालों का उत्पत्तिकर्ता माना गया है। पुस्त्य सूक्त में सृष्टि उत्पत्ति विषयक सम्पूर्ण तथ्यों

- 
1. ब्राह्मणो मुखतः सृष्टो- - - - -उत्सर्ग्यौ वैश्य एव च ॥ महटो 12.12.4
  2. वर्णानां परिचर्यां त्रयाणां- - - -शुद्रो विनिर्मित ॥ महटो 12.72.5 ॥
  3. ब्रह्मात्पतो ब्राह्मणाः सम्प्रसूता- - - -नान्यथावेदितव्या ॥ महटो 12.31 & 90
  4. चन्द्रमा मनसो ज्ञातश्चक्षुः सूर्यं जायत- - - - ॥ अथो 10.90.13 ॥
  5. नाभ्या आसीदन्त रिधं शीष्णो घौः समवर्तत- - - - ॥ अथो 10.90.14 ॥
  6. मुखतः सो णिमसृजत् प्राणादायुमथापि च- - - - ॥ भीष्म 67.6 ॥

का विशदीकरण करते हुए महाभारत में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, मन, बुद्धि, तेज, सत्त्व, रज, तमोगुण, प्रकृति, विकृति, विधा-अविधा तथा शुभ और अशुभ ये सब मुखसे ही उत्पन्न होते हैं, मैं इनसे उत्पन्न नहीं होता ।

इस प्रकार पुस्त्य सूक्त में निहित सृष्टि उत्पत्ति विषयक दार्शनिक विचारों को महाभारतकार ने यथास्थान अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है ।

### मुण्डकोपनिषद् का पौष्ट्यवाद

मुण्डकोपनिषद् में सृष्टि के उद्भव के सम्बन्ध में पौष्ट्यपौष्ट्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । इसके अनुसार "सृष्टि के आदि में एक दिव्य अमूर्त पुस्त्य वर्तमान था, जो अज, अ-प्राण अ-मन, शुभ तथा अक्षर था । उससे ही प्राण, मन, इन्द्रिय, आकाश, वायु, तेज, जल और विश्वधारिणी पृथ्वी की उत्पत्ति हुयी । उसी से बहुविध देवता, देवदूत मनुष्य और पशुपक्षियों की सृष्टि हुयी । उसी से शाल्प और यव, तप और श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और धर्म की उत्पत्ति हुयी । वही समस्त समुद्रों, पर्वतों, इधर उधर बहने लगी नदियों, वनस्पति और वृक्षों तथा उन सबमें संघरित रस, जिसके द्वारा अन्तरात्मा उन सबका पोषण करती है, का मूल स्रोत है ।" इस प्रकार समस्त लौकिक तथा पारलौकिक सत्तारें, समस्त जड़ और चेतन प्रकृति समस्त नैतिक और मानसिक गुण आदि पुस्त्य से उत्पन्न हुए जो फिर भी अमूर्त और अक्षर कहा गया है । और इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् के इस अवतरण में पौष्ट्यत्व में अपौष्ट्यत्व की उद्भावना की गयी है ।

- 
1. दिव्यो ह्यमूर्तः पुस्त्यः स वाह्याभ्यन्तरो ह्यजः अप्रमाणो ह्यमनाः शुभो ह्यक्षरात्परतः परः ॥ एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च त्वं वायुर्ज्योतिरापः - - - - भूतैस्तिष्ठते ह्यतरात्मा ॥ मुण्डकोपनिषद् ॥ १. २. ९



### श्वेताश्वेतर उपनिषद् का शैव पौष्ट्यवाद

परब्रह्म की पौष्ट्य कल्पना पूर्ण विकसित रूप में श्वेताश्वेतर उपनिषद् में पायी जाती है। यह ठीक है कि श्वेताश्वेतर उपनिषद् शैव सिद्धान्त के पक्ष में लिखी गयी थी किन्तु यदि हम संकुचित सामाजिक भावनाओं को त्याग कर श्वेताश्वेतर उपनिषद् के शिव का परब्रह्म से तादात्म्य स्थापित कर दें, जैसा कि वस्तुतः उक्त उपनिषद् कई स्थानों पर किया गया है तो हम देखेंगे कि किस प्रकार श्वेताश्वेतर उपनिषद् सृष्टि की उत्पत्ति के यावत् सिद्धान्तों की विधायक समालोचना करते हुए परब्रह्म द्वारा सृष्टि के विधान का दार्शनिक निरूपण करती है।

तत्कालीन सृष्टि विषयक सिद्धान्तों की समालोचना करते हुए उपनिषद् कहती है कि "कुछ लोग कहते हैं काल, कुछ कहते हैं स्वभाव, कुछ कहते हैं नियति, कुछ कहते हैं यदृच्छा, कुछ कहते हैं कि पंचमहाभूत, कुछ कहते हैं कि पुण्य, कुछ कहते हैं कि इनका सम्मिश्रण, कुछ कहते हैं कि आत्मा समस्त जगत् का मूल कारण है।" इन सभी सिद्धान्तों का निषेधात्मक वर्णन प्रस्तुत करते हुए यहाँ कहा गया है कि हम काल को सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण नहीं मान सकते क्योंकि क्या ईश्वर काल का भी काल नहीं है अथवा जैसा कि अन्य उपनिषदों का कथन है मृत्यु देवता का भी मरण नहीं है<sup>2</sup>। श्वेताश्वेतर उपनिषद् का कथन है कि हम स्वभाव से भी सृष्टि की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं कर सकते क्योंकि क्या ईश्वर ही अन्तर्वर्तिनी सत्ता द्वारा स्वभाव का परिपोषण नहीं होता<sup>3</sup>। और न हम नियति अथवा यदृच्छा को ही समस्त पदार्थों का मूल कारण कह सकते हैं। ये

1. कालः स्वभावो नियतिर्वदृच्छा भूतानि योनिः पुण्य इति चिन्त्यम् सयोग र्षां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुख दुःख हेतोः ॥ श्वे. 1-2
2. येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वज्ञः काल कालो गुणो सर्वविद्या ॥ श्वे. 6-2
3. यद्य स्वभावं पयति विश्वयोनिः ॥ श्वेताश्वेतर 5-5 ॥

सब सृष्टि-विधान के अतिशय दैववादी अथवा अत्यन्त अदार्शनिक स्वल्प हैं । पंच महाभूत पदार्थ जगत् के मूल आधारभूत तत्त्व नहीं माने जा सकते क्योंकि पंचमहाभूत ईश्वर के आवरण मात्र हैं । पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि उसी की परम कला की सृष्टि हैं<sup>1</sup> । और न हम यह कह सकते हैं कि इन सब महाभूतों का समवाय वस्तु-जगत् का मूल आधार तत्त्व है क्योंकि इनके समवाय के लिये एक शाश्वत सत्ता की आवश्यकता है जो उसका मूल कारणा हो<sup>2</sup> । अन्त में सांख्य के पुस्त्य एवं वेदान्तियों की आत्मा के भी सृष्टि उत्पत्ति के उत्तर-दायित्व का निषेध करते हुए श्वेताश्वतर उपनिषद् कहती है कि केवल सद् जो अपनी शक्तियों से विश्व पर शासन करता है, जो संहार के लिये प्रत्येक वस्तु के सम्मुख स्थित होता है आदि काल में सृष्टि की उत्पत्ति करता है समस्त सत्तावान पदार्थों का विधाता कहा जा सकता है वह परब्रह्म है, उसी की शक्ति की प्रेरणा से यह ब्रह्माण्ड चक्र चतुर्दिक घूमता है । वह परम कारणा तथा जीवों का स्वामी है । उसका न कोई उत्पादक है न पालक, वह जड़ बहुस्वता का आत्म संस्थित संचालक है और एक ही मूल बीज को अनन्त स्थों में अंकुरित करता है । इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् सृष्टि विधान के वस्तुतः दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए समस्त शक्ति का आदि कारणा सर्वशक्तिमान परब्रह्म को मानती है ।

### महाभारत में शैव पुस्त्यवाद

महाभारत में यद्यपि शिव को ब्रह्म अथवा पुस्त्य मानते हुए किसी व्यवस्थित सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन नहीं है तथापि यत्र तत्र शिव की परिकल्पना सृष्टिकर्ता ब्रह्म के रूप में की गयी है । अनुशासन पर्व में महात्मा तण्डि महादेव

- 
1. तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथिव्यप्तेजो निलखानिचिन्त्यम् । श्वे0 6-2
  2. आदिः स संयोगनिमित्त हेतुः परस्त्रिका लादकलोपि दृष्टः ॥ श्वे0 6-1
  3. एको हि स्रो न द्वितीयाय तस्युः य इमांल्लोकान् ईशत । प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति संयुकोपान्त काले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ श्वेताश्वेतर 3. 2 ॥

जी की स्तुति करते हुए उन्हें काल, पुस्त्र और ब्रह्म नामों से अभिहित करते हैं<sup>1</sup> साथ ही यह भी कहते हैं कि भगवान् शिव से ही सबकी उत्पत्ति होती है तथा उनमें ही यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है<sup>2</sup> । यहाँ उन्हें "परब्रह्म", "परमपद" तथा "विश्वयोनि"<sup>3</sup> कहा गया है । अन्यत्र महर्षि तण्डि कहते हैं "चन्द्रमा, सूर्य नक्षत्र, ग्रह, वायु, ध्रुव, सप्तर्षि, सात भुवन, मूल प्रकृति, महतत्त्व, विकारों के सहित विशेषपर्यन्त समस्त तत्त्व ब्रह्माजी से लेकर कीटपर्यन्त सम्पूर्ण जगत्, भूतादि, सत् और असत् आठ प्रकृतियाँ तथा प्रकृति से परे जो पुस्त्र है इन सबके रूप में ये महादेव जी ही विराजमान हैं<sup>4</sup> ।

अनुशासन पर्व में शिव सहस्र नाम स्तोत्र के अन्तर्गत अनेकों नाम भगवान् शंकर के सृष्टि कर्तृत्व का प्रतिपादन करने वाले हैं यथा---"स्थाणु"---जगत् के आधार-स्तम्भ, "सर्वकरः"---सम्पूर्ण जगत् के सृष्टा, "वि वस्व"---सम्पूर्ण विश्व जिनका रूप है, "आदि"---सबसे प्रथम, "आदिकरः"---आदि पुस्त्र हिरण्यगर्भ की सृष्टि करने वाले, "वि वः"---विराट् स्वस्व<sup>5</sup> आदि ।

महादेव जी के द्वारा दक्ष यज्ञ विध्वंस कर दिये जाने पर प्रजापति दक्ष के द्वारा की गई शिवस्तुति तथा शिव सहस्र नाम स्तोत्र में वे भगवान् शिव को चराचर जीवों की सृष्टि तथा संहार करने वाले कहते हैं<sup>6</sup> । यहाँ उन्हें कारणा, कार्य, क्रिया और करणा तथा असत् और सत् पदार्थों की उत्पत्ति और प्रकट्य का स्थान भी कहा गया है<sup>7</sup> ।

1. कालाख्यः पुस्त्राख्य च ब्रह्माख्य च त्वमेव हि । महट्ट १३.१६.१७ ॥

2. अतः प्रवर्तते सर्वमन्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ महट्ट १३.१६.३५ ॥

3. यच्चैतत् परमं ब्रह्म यच्च तत् परम पदम् ॥ महट्ट १६.१६.२४ ॥

4. चन्द्रादित्यौ सन्क्षत्रौ गृहा च - - - - प्रकृतिभ्य च यः परः ॥ महट्ट १३.१६.५२-५३

5. महट्ट १३-१७-३१--१५३

6. चराचरस्य सृष्टा त्वं- - - - ब्रह्मविदां वर ॥ महट्ट १२.२८५.११८ ॥

7. भगवान् कारणां कार्यं क्रिया- - - - तथैव प्रभवाप्ययौ ॥ महट्ट १२.२८५-७६ ॥

अनुशासन पर्व में उपमन्यु ऋषि द्वारा की गई शिवस्तुति में भगवान् शंकर को अजन्मा, अविनाशी, सनातन, परम तत्त्व,<sup>1</sup> सम्पूर्ण प्राणियों का आदि कारण, अविनाशी, समस्त तत्त्वों के विधान का ज्ञाता तथा प्रधान परम पुरुष कहा गया है<sup>2</sup>। महर्षि उपमन्यु कहते हैं कि प्रलयकाल प्राप्त होने पर इन्हीं भगवान् शिव ने स्रष्टा की रचना की थी। वे ही स्रष्टा सम्पूर्ण घराघर जगत् का संहार करते हैं<sup>3</sup>।

इस प्रकार भगवान् शंकर अथवा स्रष्टा को आदि सृष्टि कर्ता परब्रह्म मानने की श्वेताश्वेतर उपनिषदीय परिकल्पना का महाभारत के अन्तर्गत सामवेश करके महर्षि व्यास अपनी व्यास दृष्टि का परिचय देते हैं।

### हिरण्यगर्भ सूक्त

इस सूक्त के ऋषि स्वयं हिरण्यगर्भ हैं। इसमें आरम्भिक युग के मानव के कौतुकाकान्त चित्त की दशा को चित्रित किया गया है कि किस प्रकार आदिम मानव उस देवता के स्वस्व को जानना चाहता है जो इस सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी है तथा जिसके लिये वह हविष्य का होम करता है। इस सूक्त के दृष्टा ऋषि के अनुसार हिरण्यगर्भ सृष्टि के आदि में विद्यमान था। वह उत्पन्न होने वाले भूतजगत् का एकमात्र पति अर्थात् ईश्वर था। उसने पृथ्वी, आकाश, अन्तरिक्षलोक अथवा दुलोक तथा इस समस्त दृश्यमान जगत् को धारण किया। ऐसे "क" स्वस्व प्रजापति की हम हवि से उपासना करें<sup>4</sup>।

आदि पर्व में भी महर्षि व्यास सृष्टिकर्ता के इसी स्वस्व का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "जब यहाँ वस्तुविशेष या नामस्व आदि का भान नहीं होता था, प्रकाश का कहीं नाम नहीं था, सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार छा रहा था उस

1. - - -परं तत्त्वं सनातनम्- - -यदज ज्ञानमक्षरम् ॥ महTO 13-14-345

2. सर्वतत्त्वादिउपयः सर्वतत्त्वविधानज्ञः प्रधानपुरुषः ॥ महTO 13-14-346

3. युगान्ते चैव सम्प्राप्ते स्रष्टमीशो सृजत्प्रभुः ।

त स्रष्टः संहरन्, कृत्स्नं जगत् पथावर जड. मम्, ॥ महTO 13-14-348

4. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पत्तिरेक आसीत्

त दीधार पृथिवीं घामुतेमां कर्मै देवाय हविषा विधेम ॥

समय एक बहुत बड़ा अण्ड प्रकट हुआ जो सम्पूर्ण प्रजाओं का अविनाशी बीज था<sup>1</sup>। ब्रह्मकल्प के आदि में उसी महान् एवं दिव्य अण्ड को चार प्रकार के प्राणि समुदाय का कारण कहा जाता है जिसमें सत्पस्वस्व ज्योतिर्मय सनातन ब्रह्म अन्तर्यामी स्व से प्रविष्ट हुआ है। ऐसा श्रुति वर्णन करती है। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी कहा है कि "ब्रह्म ने अण्ड एवं पिण्ड की रचना करके मानों स्वयं ही उसमें प्रवेश किया है तदुपरान्त उसने स्वयं सत और असत्, निरुक्त और अनिरुक्त, निलयन और अनिलयन, विज्ञान और अविज्ञान, सत्य और अतृप्त दोनों स्व धारणा कर लिये। यही कारण है कि यह सब वस्तु मात्र सत्य कहलाती है। यहाँ वस्तु मात्र में यहाँ तक कि विरोधी पदार्थों में भी ईश्वर की सत्ता घोषित की गई है<sup>2</sup>। वेद के अनुसार "जो प्राणा शक्ति के महत्त्व के कारण इस जगत का एक मात्र अद्वितीय ईश्वर है तथा जो इस परिदृश्यमान जगत के दो पैर एवं चार पैर वाले प्राणियों का ईश्वर है। ऐसे "क" स्वस्व प्रजापति की हम हवि से उपासना करें<sup>3</sup>।

शान्तिपर्व में ब्रह्माजी को सुवर्णमय अण्ड से उत्पन्न तथा सम्पूर्ण भूतों का उद्गम स्थान माना है<sup>4</sup>। महर्षि व्यास वेदमूलक कल्पनाओं एवं धारणाओं का अपबृहण करते हुए कहते हैं कि प्रजापति ब्रह्माजी उस सुवर्णमय अण्ड के भीतर एक वर्ष तक निवास करके बाहर निकल आये फिर उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी, आकाश तथा ऊर्ध्वलोक की सृष्टि के लिये विचार आरम्भ किया ब्रह्माजी ने उस सुवर्णमय अण्ड के दोनों टुकड़ों के तथा स्वर्ग और भूतल के मध्य में आकाश की सृष्टि<sup>5</sup> की

- 
1. निष्प्रमे स्मिन् निरालोके सर्वतस्तमसावृते ।  
बृहदण्डमभूदेकं प्रजानां बीजमव्ययम् ॥
  2. निष्प्रदवा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्च अभवत् ।  
निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च- - -॥ तै० उ० ११. ६
  3. यः प्राणातो निमिषतो महित्वैक इन्द्राज्जा जगतो ब्रभूवत्  
य ईश अत्य द्विपदुश्चतुष्पदुः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ० १०. १२९. ३
  4. ततो ब्रह्माण्मसु जद्विषयाण्ड समुदभवम् ।  
सा मूर्तिः सर्वभूतानामित्येव म नृशुश्रुम् ॥ शा० ३११. ३ ॥
  5. संवत्सरमुषित्वाण्डे निष्कृम्य च- - -॥ शा० ३११. ४-५ ॥

वैदिक सूक्त में भी कुछ इसी प्रकार की अवधारणा व्यक्त की गई है कि जिस  
 §हिरण्यगर्भ§ ने अन्तरिक्ष, पृथ्वी तथा स्वर्गलोक को यथास्थान दृढ़तापूर्वक स्थापित  
 किया तथा अन्तरिक्ष में आदित्यों को स्थापित किया<sup>1</sup> ।

मुण्डकोपनिषद् तथा श्वेताश्वेतर उपनिषद् में भी विश्व के कर्ता तथा  
 हिरण्यगर्भ ब्रह्मा को प्रथम सृष्टि का उल्लेख है<sup>2</sup> । मैत्रायणी उपनिषद् में उन्हें  
 प्रजापति कहा है तथा यह भी कहा है कि उन्होंने बहुत सी प्रजा उत्पन्न की है<sup>3</sup> ।

### नासदीय सूक्त

सायणा के अनुसार परमेष्ठि नामक प्रजापति इस सूक्त के ऋषि हैं ।  
 यह सूक्त ऋग्वेदीय ऋषियों की अलौकिक दार्शनिक चिन्तनधारा का मौलिक  
 परिचायक है । इन ऋचाओं में प्रलयोपरान्त सृष्टि पूर्व अवस्था का चित्रण  
 किया गया है । "जब कि न तो असत् था न सत् की ही सत्ता थी । भूः से  
 लेकर सत्यम् पर्यन्त लोक तथा अन्तरिक्ष भी नहीं थे । पंचमहाभूत स्त्री आवरणा  
 तथा उसके भोक्ता शरीर का तो कहना ही क्या"<sup>4</sup> । न मृत्यु थी न अमरता,  
 रात्रि तथा दिन जैसा कोई काल विभाग भी नहीं था । रचना से पूर्व सृष्टि के  
 इस निष्पेधात्मक वर्णन के पश्चात् वही उसका विध्यस्तम्बवर्णन भी प्रस्तुत करते हैं ।  
 उनके अनुसार तब सारा संसार अधिरे में डूबा हुआ था । मानो अधिरे ने अधिरे को  
 घेर रखा था । सब ओर तलिल ही तलिल था । उस तलिल में सारा संसार

1. येनु घौल्ला पृथिवी य दृ ह्य येनु स्वः स्तभितं येनु नाकः ।

यो अन्तरिक्षे रजतो विमानुः कर्मैदुवाय हविषा विधेम ॥ श्व० १०.१२१.६

2. ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सबभूव विश्वस्य कर्ताभुवनस्यगोप्ता ॥ मुण्डक १.१.१

यो देवानां प्रभव यो ध व वि धाधिपो स्त्रो- - - ॥ श्वेताश्वे० ३.५ ॥

3. अथ कि मैतेर्वान्यानां परे न्ये गन्धर्वास्तुर यक्ष राक्षस- - - ॥ मै० उ० ११६ ॥

4. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा पुरो यत् ।

किमावरीयुः कुहकस्य शर्मन्नम्भुः किमासीत्<sup>1</sup> हनं गभीरम् ॥ श्व० १०.१२९.१

डूबा हुआ था<sup>1</sup>। सृष्टि से पहले एक दम से अकेला कोई प्राणी था जो बिना वायु के श्वास ले रहा था<sup>2</sup>। अर्थात् कोई चैतान्य स्वस्म्य ब्रह्म था। तभी उस एकाकी ब्रह्म के मन में सृष्टि की कामना उत्पन्न हुयी<sup>3</sup>।

महाभारतकार भी परमेष्ठी प्रजापति ऋषि की इन सृष्टिविषयक कल्पनाओं से सर्वथा सहमत प्रतीत होते हैं। तभी तो वह श्रुति का उल्लेख करते हुए सृष्टि पूर्व एवं सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन कुछ इसी प्रकार करते हैं। यहाँ अर्जुन द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण से अग्नि एवं सोम के एकीकरण विषयक प्रश्न करने पर भगवान् श्रीकृष्ण अपने तेज के उदभव का वृत्तान्त अर्जुन को सुनाते हैं।

एक सहस्र चतुर्युग बीत जाने पर सम्पूर्ण लोकों के लिये प्रलयकाल आ पहुँचा था। समस्त भूतों का अव्यक्त में लय हो गया था। स्थावर-जङ्गम सभी प्राणी विलीन हो गये थे। पृथ्वी तेज और वायु का कहीं पता नहीं था चारों ओर घोर अन्धकार छा रहा था तथा समस्त संसार एकाण्वि के जल में निमग्न हो चुका था<sup>4</sup>।

तब ओर केवल जल ही जल स्थित था। दूसरा कोई तत्त्व दिखाई नहीं देता था, मानो एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित हो<sup>5</sup>। इस अवस्था में नारायण के गुणों का आश्रय लेकर रहने वाले उस अजर, अमर, इन्द्रिय-रहित, अग्राह्य, असम्भव, हिसारहित सुन्दर, नाना प्रकार

1. तम आसीतमसा गू दमग प्रकेतं तलिल सर्वमा इदम् । श्रु 10.129.3

2. आनीदवातं स्वध्या तदेकं तस्माच्चान्यन्न पुरः किंचुनात् ॥ श्रु 10.129.2

3. कामुस्तदग्रे तमवर्तताधि मनसा रेतः प्रथमं यदासीत् ॥ श्रु 10.129.4

4. सम्प्रक्षालनकाले ति क्रान्ते चतुर्युग सहस्रान्ते अव्यक्ते सर्वभूते प्रलये- - - - -  
तमसि जलैकाण्वि लोके ॥ महा 12.342.3

5. आपः इत्येव ब्रह्मभूतं संज्ञकेऽद्वितीये प्रतिष्ठिते ॥ शा 0 34243 ॥

को विशेष प्रवृत्तियों के हेतुभूत, वैररहित अक्षय, अजर, अमर, जरारहित, निराकार सर्वव्यापी तथा सर्वकर्ता तत्त्व से अविनाशी सनातन पुण्य हरि का प्रादुर्भाव हुआ<sup>1</sup>

श्रुति का उल्लेख देते हुए महर्षि व्यास लिखते हैं कि उस प्रलयकाल में न दिन था न रात थी, न सत् था न असत् था । केवल तम ही सामने था । वही सर्वस्व हो हरहा था । वही विश्वात्मा की रात्रि है<sup>2</sup> । उस समय उस मायाविशिष्ट ईश्वर से प्रकट हुए उस ब्रह्मयोनि पुण्य से जब ब्रह्माजी का प्रादुर्भाव हुआ तब उस पुण्य ने प्रजासृष्टि की इच्छा से अपने नेत्रों द्वारा अग्नि और सोम को उत्पन्न किया । इस प्रकार भौतिक सर्ग की सृष्टि हो जाने पर प्रजा की उत्पत्ति के समय क्रमशः ब्रह्म और क्षत्र का प्रादुर्भाव हुआ । जो सोम है वही ब्रह्म है जो ब्रह्म है वही ब्राह्मण है । अग्नि ही क्षत्र या क्षत्रिय जाति है<sup>3</sup> ।

कुछ ब्राह्मण एवं उपनिषदों में भी इसी वैदिक मन्तव्य का प्रतिपादन किया गया है । शतपथ ब्राह्मण आपः से ही सृष्ट्युत्पत्ति के सिद्धान्त को दोहराते हुए प्रारम्भ में आपः अथवा सलिलावस्था का उल्लेख करता है यहाँ भी विश्वसृष्टि की प्रजाओं को उत्पन्न करने की कामना ही सृष्ट्युत्पत्ति का प्रथम कारण रही है<sup>4</sup>।

कठोपनिषद् में भी ब्रह्म एवं क्षत्र को आत्मा का ओदन तथा मृत्यु को आत्मा का उपसेचन अर्थात् शाकादि कहा है<sup>5</sup>।

-----

1. स्वमस्या व्यवस्थायां नारायणागुणाश्रयाद्- - - - -॥ शा० 342. 6 ॥

2. नासीदहो न रात्रिरासीन्न सदासीन्नासदासीत्- - -॥ शा० 342. 8 ॥

3. तस्येपानी तमसः सम्भवस्य पुण्यस्य ब्रह्मयोनेर्ब्रह्मणः प्रादुर्भावि

त पुण्यः प्रजा तिसृक्षमाणो नेत्राभ्यामग्निषोमौ ससर्ज- ----॥ शा० 342. 9 ॥

4. आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवात ता अकामयन्त कथन्नु प्रजायेमहीति । शतपथ । १. १. 6. ॥

5. यस्य ब्रह्म च क्षत्र च उभे भवत ओदनः ।

मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्या वेद यत्र तः ॥ कठो० १. 2. 25 ॥



ऋग्वैदिक नासदीय सूक्त की ही भाषा में सृष्टि के प्रारम्भ में सबका निषेध करके एकमात्र ब्रह्म की सत्ता की पुनः स्थापना करने में बृहदारण्यक उपनिषद् अग्रगण्य है जिसके अनुसार "इसी अक्षर ब्रह्म के आदेश से ही सूर्य और चन्द्रमा अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हैं । इसी अक्षर ब्रह्म के आदेश से पृथ्वी और आकाश अपने पृथक् पृथक् स्थान पर स्थित हैं । इसी अक्षर ब्रह्म के आदेश से निमेष, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष मास, ऋतु और वर्ष विश्व की व्यवस्था में अपने निश्चित धर्म का पालन करते हैं । इसी ब्रह्म के आदेश से ही कुछ तरितारें हिमावृत पर्वतों से पूर्व की ओर बहती हैं और कुछ पश्चिम की ओर<sup>1</sup> ।

तैत्तिरीय उपनिषद् का एक अवतरण यह घोषित करता है कि वाह्य जगत् के पीछे एक ऐसी सत्ता अवश्य होनी चाहिये जो उसकी उत्पत्ति-स्थिति और लय के लिये उत्तरदायी ठहरायी जाय : "वह जिससे समस्त भूतों का उद्भव है वह जिसमें इन समस्त भूत पदार्थों की स्थिति है, जिसमें अन्ततः समस्त भूत पदार्थों का निलय हो जाता है वही शाश्वत सत्य ब्रह्म है<sup>2</sup> ।

#### छान्दोग्य उपनिषद् का आकाशमूलक सृष्टि-सिद्धान्त

प्रवाहणा जैबलि के आकाश तत्त्व मूलक सिद्धान्त में हम पूर्ववर्ती तत्त्व ज्ञानियों के सिद्धान्तों से कहीं अधिक दार्शनिक विकास पाते हैं । छान्दोग्य उपनिषद् में प्रवाहणा जैबलि से जब यह पूछा गया कि पदार्थों की चरम गति क्या है । तो उन्होंने उत्तर दिया "आकाश" । इन समस्त पदार्थों का उद्भव आकाश से ही होता है और अन्त में आकाश में ही इनका निलय हो जाता है । आकाश निस्तन्देह इनकी अपेक्षा महान है । आकाश चरम गति है<sup>3</sup> ।

- 
1. नैवेह किंघनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत् - - -॥ बृहद० १. २. १ ॥  
एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने - - - प्रतीच्यो न्या ॥ वही० ३. ८. १ ॥
  2. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवति । प्रत्ययति अभिस्रविशन्ति । तद्विजिज्ञातस्व । तद्ब्रह्मेति ॥ तै० उ० ३. १
  3. अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव - - -आकाशः परायणम् ॥ छा० १. १. १

इस अवतरण के समर्थन में छान्दोग्य उपनिषद् में एक और अवतरण है जिसमें बताया गया है कि आकाश निस्तन्देह अग्नि से महान् है, सूर्य और चन्द्र, विद्युत और नक्षत्र आकाश के ही अन्तर्गत हैं । आकाश के ही कारण मनुष्य बोल सकता है । आकाश में और आकाश से सम्पूर्ण वस्तुओं का विधान है । परम सत्य मानकर आकाश का ही चिन्तन करना चाहिये<sup>1</sup>

महाभारतकार महर्षि व्यास उपनिषद्कार की इस दार्शनिक अवधारणा से अनभिज्ञ नहीं थे । यही कारण है कि वे शान्तिपर्व में इस सिद्धान्त की पुनः स्थापना कुछ इस प्रकार करते हैं । भरद्वाज मुनि द्वारा भृगु ऋषि से जल, अग्नि, वायु तथा पृथ्वी की सृष्टि उत्पत्ति विषयक प्रश्न करने पर महर्षि भृगु कहते हैं कि ब्रह्मकल्प में जब ब्रह्मर्षियों का समागम हुआ तो उन महात्माओं की उस सभा में लोक सृष्टि विषयक सन्देह उपस्थित हुआ<sup>2</sup> । वे ब्रह्मर्षि भोजन छोड़कर वायु पीकर रहते हुए सौ दिव्य वर्षों तक ध्यान लगाकर मौन का आश्रय ले निश्चल भाव से बैठे रह गये । उस ध्यानावस्था में उन सबके कानों में ब्रह्ममयी वाणी सुनायी पड़ी । उस समय वहाँ आकाश से दिव्य सरस्वती प्रकट हुई थी । वह आकाश वाणी इस प्रकार है<sup>3</sup>---पूर्वकाल में अनन्त आकाश पर्वत के समान निश्चल था । उसमें चन्द्रमा, सूर्य, वायु किसी के दर्शन नहीं होते थे । वह सोया हुआ सा जान पड़ता था । तदनन्तर आकाश से जल की उत्पत्ति हुयी, मानो अन्धकार में ही दूसरा अन्धकार प्रकट हुआ हो । उस जलप्रवाह से वायु का उत्थान हुआ । जैसे

1. आकाशो वायु तेजसो भूयान् । आकाशे वै सूर्या चन्द्रमसावुमौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निः

आकाशेनादृष्यति- - - - -आकाशे जायते । आकाशमभि जायते ।

आकाशमुपास्वेति । छां० 7.12.1 ।।

2. कथं तलिलमुत्पन्नं कथं चैवाग्निमास्तो- - - - -समुत्पन्नो महात्मनाम् ।।

मह० 12.183.5-6

3. मह० 183-6-16

कोई छिद्र रहित पात्र निःशब्द सा लक्षित होता है परन्तु जब उसमें छिद्र करके जल भरा जाता है तो वायु उसमें आवाज प्रकट कर देती है । इसी प्रकार जल से आकाश का सारा प्रान्त ऐसा अवच्छेद हो गया था कि उसमें कहीं थोड़ा सा भी अवकाश नहीं था । तब उस स्कान्धाव के तल प्रदेश का भेदन करके बड़ी भारी आवाज के साथ वायु का प्राकट्य हुआ इस प्रकार समुद्र के जल समुदाय से प्रकट हुई । यह वायु सर्वत्र विचरने लगी और आकाश के किसी भी स्थान में पहुँचकर वह शान्त नहीं हुई ।

वायु और जल के उस संघर्ष से अत्यन्त तेजोमय अग्नि का प्राकट्य हुआ जिनकी लपटें ऊपर की ओर उठ रही थीं । वायु का संयोग पाकर अग्नि जल को आकाश में उछालने लगी । वह अग्नि आकाश के सारे अन्धकार को नष्ट करके प्रकट हुयी थी । वही जल अग्नि और वायु के संयोग से घनीभूत हो गया । उसका जो गीलापन आकाश में गिरा वह घनीभूत होकर पृथ्वी के रूप में परिणत हो गया । इस पृथ्वी को सम्पूर्ण रतों, गन्धों, स्नेहों तथा प्राणियों का कारण समझना चाहिये । इसी से सबकी उत्पत्ति होती है ।

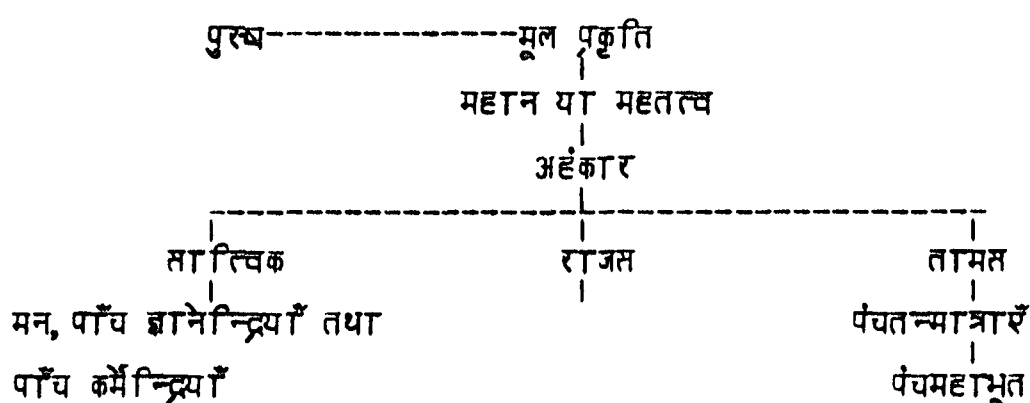
### सांख्य का सृष्टिक्रम

सांख्य दर्शन में दो ही तत्त्व प्रमुख माने गये हैं---प्रकृति और पुस्त्व । पुस्त्व को स्वगत दुःखत्रय का अभिज्ञान होता है जिससे त्रस्त होकर वह कैवल्य की कामना करता है । अतः पुस्त्व को प्रधान {प्रकृति} की आवश्यकता रहती है । पुस्त्व क्रियाहीन होने के कारण पंगु है और प्रकृति अचेतन होने के कारण अन्धी । ये दोनों अन्ध-पंगु की भाँति एक दूसरे के पूरक बनकर सृष्टि के कारण बनते हैं । प्रकृति और पुस्त्व को क्रमशः राग और विराग भी कहा गया है<sup>1</sup> । राग और

1. रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ॥ सांख्य सूत्र 2.9 ॥

विराग के इस योग से महदादि क्रम से पंचभूत पर्यन्त तत्त्वों की सृष्टि होती है।

सांख्य के अनुसार प्रारम्भ में सत्त्व, रज तथा तम इन तीन गुणों से युक्त साम्यावस्था वाली प्रकृति थी<sup>2</sup>। पुण्य के दृष्टिपात से उसके उपर्युक्त त्रिगुण की साम्यावस्था भंग हो गयी । इस साम्यावस्था के भंग होने से उसके त्रिगुणों में क्षोभ उत्पन्न हुआ । फलस्वरूप उससे एक नवीन तत्त्व महान् या महतत्त्व उत्पन्न हुआ । लेकिन त्रिगुण की हलचल फिर भी जारी रही । फलस्वरूप महान् से अहंकार उत्पन्न हुआ । वह अहंकार सात्त्विक राजस तथा तामस तीन प्रकार का था ।<sup>3</sup> उसके सात्त्विक अंश से मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति हुयी । उसके राजस अंश ने इस कार्य में उसकी सहायता की । अहंकार के ही तामस अंश से पंचतन्मात्र और उनसे पंच महाभूत उत्पन्न हुए<sup>3</sup> । राजस अहंकार ने तामस अहंकार की सहायता सत्त्व के समान की । इस राजस अहंकार से स्वतंत्र रूप से कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ । सांख्य का सृष्टिक्रम इस प्रकार है<sup>4</sup>— - - - -



1. महदादिक्रमेण प चभूतानाम् ॥ सां० सूत्र 2.10 ॥
2. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ॥ सां० सूत्र 1.61 ॥
3. प्रकृतेर्महान् महतो हंकारो हंकारात् प चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मया स्थूलभूतानि ॥ सां० सूत्र 1.61
4. प्रकृतेर्महांस्ततो हंकारस्तस्माद् गणा च षोडशकः ।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ--घ्राणा, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र  
 पाँच कर्मेन्द्रियाँ ---- वाक्, पाद, पाणि, पायु, उपस्थ  
 पाँच तन्मात्राएँ ---- शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध  
 पाँच महाभूत ---- आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी

### स्थूल शरीर

अस्थि चर्म आदि से युक्त इस शरीर को हम प्रत्यक्षतः देखते हैं ।  
 पुच्छ को हर जन्म में एक स्थूल शरीर मिलता है और एक लिङ्ग शरीर ।

### लिङ्ग शरीर

इसे सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं । यह प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता  
 प्रत्युत इसका ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है । यह 18 तत्त्वों से मिलकर बना  
 होता है । ये तत्त्व हैं--महत्तत्त्व, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ  
 और पाँच तन्मात्राएँ ।

लिङ्ग शरीर किसी भी पदार्थ में अटकता नहीं । इसी लिये वह  
 अघ्याहृत गति होता है । यह शिला में भी प्रविष्ट हो जाता है । मूल प्रकृति  
 ही सृष्टि के आदिकाल में प्रत्येक पुच्छ के लिये एक एक लिङ्ग शरीर उत्पन्न करती  
 है । लिङ्ग शरीर सृष्टि के आदिकाल से लेकर प्रलयकाल तक स्थिर रहता है  
 प्रलयकाल में यह नष्ट हो जाता है । यह बिना किसी भोग के स्थूल शरीर में  
 रहता है तथा धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य अनैश्वर्य नाम  
 के 8 भागों से युक्त होता हुआ लिङ्ग एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त होता  
 है ।

-----

1. पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्म पर्यन्तम् ।

तंसरति निस्पृग्भोग भावैरधिवासितम् लिङ्गम् ॥ सां० कारिका 40 ॥

आत्मा के ज्ञापक बुद्धि आदि विशेष सूक्ष्म शरीर के बिना नहीं रहता है। अतएव महाभारत में इस शरीर का देह से देहान्तर में जाना "अंगुष्ठमात्रं पुण्यं निश्चकर्ष यमो बलाद्" वाक्य के द्वारा वर्णित है। यहाँ पर अंगुष्ठ मात्र पद से सूक्ष्म शरीर का ग्रहण किया गया है क्योंकि आत्मा का शरीर में से निकलना असंभव है। इसी लिये उसे पुण्य कहते हैं क्योंकि वह देह स्वी पुर में शयन करता है। लिङ्ग शरीर का संसरण पुण्यार्थ के वश से ही होता है। यह अनुक्रम विवेक स्याति, अपवर्ग अथवा मोक्षप्राप्ति पर्यन्त चलता है। यह प्रत्यय सृष्टि हुयी। श्वेताश्वेतर उपनिषद् में सूक्ष्म शरीर को अन्तरात्मा के रूप में वर्णित किया गया है।

#### दैव सृष्टि

दैव सृष्टि, ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस, पिशाच भेद से आठ प्रकार की होती है। ये आठों लोक माने जाते हैं। पितृ लोक को ही चन्द्रलोक कहते हैं। इनमें उत्पन्न होने वाले व्यक्ति देवयोनि होते हैं।

#### तिर्यक् सृष्टि

पशु, पक्षी, मृग, सरीसृप एवं स्थावर भेद से सृष्टि पाँच प्रकार की है। मनुष्यों की ब्राह्मण आदि जातियाँ विवक्षित नहीं। घट आदि सृष्टि स्थावर सृष्टि में अन्तर्भूत है। इस प्रकार चौदह प्रकार की सृष्टि हैं। इसे ही चौदह भुवन नाम से कहा जाता है। भौतिक सृष्टि में चैतन्य सृष्टि उत्कृष्ट और विकृष्ट रूप से रहती है। इस तारतम्य को लेकर भौतिक सृष्टि तीन प्रकार की मानी गयी है। ऊर्ध्व लोकों में सत्त्व की प्रधानता है तथा पाँच प्रकार के अधो लोकों में तमोगुण की प्रधानता है। भूलोक मध्यलोक में रजोगुण की प्रधानता है<sup>2</sup>।

1. अंगुष्ठमात्रं पुण्योऽन्तरात्मा सदाजनानां हृदये सन्निविष्टः ।

हृदामन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो य एतदिदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ श्वेताश्वेतर 3.13

2. ऊर्ध्व सत्त्वविशालस्तमो विशालश्च मूलतः सर्गः ।

मध्ये रजो विशालो ब्रह्मादिस्तम्भ पर्यन्तः ॥ सां० कारिका, 54

### महाभारत में सांख्य का सृष्टिक्रम

शान्तिपर्व के मोक्षधर्म पर्व में राजा जनक के प्रश्न करने पर महर्षि याज्ञवल्क्य सांख्यमत के अनुसार चौबीस तत्त्वों और नौ प्रकार के सर्गों का निरूपण करते हैं-----

यहाँ मूल प्रकृति को अख्यक्त, महतत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी भेद से आठ प्रकार का बताया गया है<sup>1</sup> । ज्ञानेन्द्रियों {श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका} कर्मेन्द्रियों {वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ} पंचतन्मात्राओं {शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध} तथा मन इन सोलह तत्त्वों को विकार कहा गया है<sup>2</sup> । इनमें पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पंचतन्मात्राओं की "विशेष" संज्ञा तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों की "सविशेष"<sup>3</sup> संज्ञा बताई गयी है ।

अख्यक्त प्रकृति से महतत्त्व की उत्पत्ति को अहंकार की सृष्टि को बुद्ध्यात्मक सर्ग<sup>4</sup>। अहंकार से मन की उत्पत्ति को अहंकारिक सर्ग । मन से पाँच सूक्ष्म महाभूतों की उत्पत्ति चतुर्थ एवं मानसी सृष्टि<sup>5</sup>। पंचमहाभूतों से पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति को भौतिक सर्ग । श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका की उत्पत्ति को बहुचिन्तात्मक सर्ग । कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति को रेन्द्रियक सृष्टि । ऊपर की ओर प्रवाह वाले सामान, ध्यान, उदान वायुओं तथा तिरछे प्रवाह वाले अपान वायु के साथ निम्नभाग में उत्पन्न ध्यान और उदान को आर्जवक सृष्टि कहा गया है<sup>6</sup>। इस प्रकार ये नौ सर्ग और चौबीस तत्त्व श्रुति के निर्देश के अनुसार यहाँ बताये गये हैं<sup>7</sup>।

1. अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता- - - -आपो ज्योतिश्च पंचमम् ॥ शा०, ३।०.१०-॥

2. एता प्रकृतयस्तत्त्वष्टौ विकारानपि- - - -भेदं तथैव च । शा० ३।०.१२-१३

3. एते विशेषा राजेन्द्र- - - -ज्ञविशेषाणि मैथिल ॥ शा० ३।०.१४

4. अख्यक्ता च महानात्मा- - - -बुद्ध्यात्मकं स्मृतम् ॥ शा० ३।०-१६-१७ ॥

5. अहंकाराच्च सम्भूतं - - - -मानसं विद्धि मे मतम् ॥ शा० ३।०.१८-१९ ॥

6. शब्द स्पर्श च रूपं च- - - -बहुचिन्तात्मकं स्मृतम् ॥ शा० ३।०.२०-२१

7. अधः श्रोतेन्द्रियग्रामं - - - -आर्जवकं बुधाः ॥ शा० ३।०.२२-२४ ॥

### उपनिषदों में सांख्य का दृष्टिक्रम

सांख्य के नाम का उल्लेख यद्यपि सर्वप्रथम श्वेताश्वेतर उपनिषद् में हुआ है<sup>1</sup> परन्तु सांख्य की मूल कल्पनाओं का शुभारम्भ छान्दोग्य उपनिषद् से होता है जहाँ प्रत्येक पदार्थ के पीछे रक्त, शुक्ल एवं कृष्ण इन तीन मूल वर्णों की ही वास्तविक सत्ता बताई गयी है<sup>2</sup> तथा उससे निर्मित समस्त वस्तुएँ केवल शब्द विकार मात्र हैं। श्वेताश्वेतर उपनिषद् में भी मूल प्रकृति को रक्त, शुक्ल, कृष्ण वर्णात्मक बताया गया है<sup>3</sup>। इस प्रकार सांख्य में वर्णित तीन गुणों का मूल उत्स छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित त्रिवर्ण कल्पना में निहित है।

कठोपनिषद् में एक अन्य सांख्य विषयक मान्यता का मूल पाया जा सकता है जहाँ कहा गया है कि मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से परे आत्मा है, आत्मा से परे अव्यक्त है, अव्यक्त से परे पुंस्त्व है तथा पुंस्त्व से परे कोई नहीं है<sup>4</sup>। इसी उपनिषद् में मन के ज्ञानात्मा में विलीन होने, ज्ञानात्मा के महत् आत्मा में तथा महत् आत्मा के शान्त आत्मा में विलीन होने की बात कही गयी है। इस प्रकार हम इन दो अवतरणों में मन, बुद्धि, महत्, अव्यक्त और पुंस्त्व इन सांख्य के मुख्य तत्त्वों का उल्लेख पाते हैं<sup>5</sup>।

सांख्य के लिङ्ग, शरीर की कल्पना का संकेत हमें प्रश्नोपनिषद् में मिलता है जहाँ कहा गया है कि यही स्त्री षोडश कलायुक्त पुंस्त्व का है<sup>6</sup>।

1. तत्कारणां सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः ॥ श्वे 4 . 13

2. यदग्ने रोहितं स्वं तेजस्तद्वर्णं- - - - -यदिष्टुतो ॥ छां० 6. 4. 1-4 ॥

3. अजामेकां लोहत शुक्लकृष्णां वष्टीः प्रजाः सृजमानां सत्त्वाः । श्वे० 5. 5

4. मनस्तु परा बुद्धि- - - - -काष्ठता सा परा गतिः ॥ कठो० 1. 3. 10 ॥

5. यच्छेदाद्मनसि प्राज्ञः तच्छेज्ज्ञान आत्मनि- - - ॥ कठो० 1. 3. 13 ॥

6. इहैवान्तः शरीरे तोभ्य स पस्त्रो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति ॥

प्रश्नो० 6. 2 ॥



इसी उपनिषद् में पुस्त्यके निर्माणा तत्त्वों का वर्णन किया गया है जो प्राणा, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम हैं<sup>1</sup> । यहाँ उल्लिखित प्राणा, इन्द्रिय तथा मन को सांख्य के अठारह कलात्मक लिङ्ग शरीर की कल्पना का मूल उत्स माना जा सकता है क्योंकि वहाँ इन्हीं तत्त्वों का विस्तार करके पाँच ज्ञानेन्द्रियों पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच तन्मात्राओं, अहंकार एवं बुद्धि से लिङ्ग शरीर को निर्मित बताया गया है<sup>2</sup> । यहाँ वर्णित अहंकार एवं बुद्धि के अतिरिक्त अन्य सभी का उल्लेख प्रश्नोपनिषद् में हुआ है । प्रश्नोपनिषद् में यहाँ यह भी कहा गया है कि जो तम्बन्ध नदियों का समुद्र से है वही इन तत्त्वों का पुस्त्य से है । जिस प्रकार महासागर की ओर बहने वाली नदियाँ महासागर में पहुँचकर खो जाती हैं तथा उनके नाम स्व का ही नाश हो जाता है और वे केवल समुद्र कहलाती हैं उसी प्रकार इन सोलह तत्त्वों की प्रवृत्ति पुस्त्य की ओर है उसमें पहुँचने पर वे उसी में विलीन हो जाते हैं, उनके नाम स्व का नाश हो जाता है, वे केवल पुस्त्य कहलाते हैं जो स्वयं कलाविहीन और शाश्वत हैं<sup>3</sup> । अथवा जिस प्रकार ती लिकारें चक्र की नाभि में केन्द्रित होती हैं उसी प्रकार ये तत्त्व भी पुस्त्य में केन्द्रित होते हैं<sup>4</sup> ।

महाभारतकार भी कुछ इसी प्रकार का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि जैसे महाभूत सूक्ष्म भूतों से प्रकट होते हैं और उन्हीं में लय को प्राप्त होते हैं तथा जैसे लहरें समुद्र से प्रकट होकर उसी में लीन हो जाती हैं उसी प्रकार परमात्मा से

- 
1. स प्राणामसृजत, प्राणाच्छदां, खं वायुः ज्योतिः आपः, पृथिवी इन्द्रियं, मनः अन्नं, अन्नादीर्य- - - - - ॥ प्रश्न० 6.4 ॥
  2. पूर्वोत्पन्नमसक्तं न्ययतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ॥ सां० कारिका 40 ॥
  3. स यथेमानधः स्यन्दमानाः समुद्र- - - - ॥ प्रश्न० 6.4 ॥
  4. अरा इव रथनामौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः- - - - ॥ प्रश्न 6.6 ॥

सब प्राणी प्रकट होते और उसी में लीन हो जाते हैं<sup>1</sup> । जैसे कछुआ अपने अङ्गों को फैलाकर फिर समेट लेता है उसी प्रकार समस्त प्राणियों के शरीर आकाश आदि पंच महाभूतों से प्रकट होते फिर उन्हीं में लीन हो जाते हैं<sup>2</sup> ।

महाभारत में विर्णित वेद-उपनिषद् एवं सांख्य सृष्टि प्रक्रिया का तुलनात्मक एवं

समीक्षात्मक अध्ययन

महाभारतकार महर्षि व्यास अपने ग्रन्थ में वैदिक औपनिषदिक एवं सांख्य सम्बन्धी सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन करते हैं । सतही दृष्टि से इन सभी दृष्टिकोणों में भले ही अन्तर महसूस हो परन्तु उन सभी का विश्लेषणात्मक दृष्टि से अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि इन सभी दृष्टिकोणों का अभिप्राय एवं गन्तव्य एक ही है ।

ऋग्वेदिक पुरुष सूक्त पर यदि हम दृष्टिपात करें तो देखते हैं कि वहाँ सर्वप्रथम सहस्रशीर्षा-सहस्राक्ष-सहस्रपात् पुरुष की कल्पना की गयी है साथ ही यह भी कहा है कि वह सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करके उससे भी दस अङ्गुल अधिक है । यहाँ आदि पुरुष के परिमाण की इयत्ता को बताते हुए भी उसकी परिमाणाहीनता ही उद्घाटित करना ऋषि का प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होता है । यह तथ्य वस्तुतः ऋषि की कल्पना मात्र है । पुरुष का सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष, सहस्रपात् होना प्राकृतिक शक्तियों की अव्यक्त मूलकता को प्रतिपादित करता है । जिस प्रकार वृक्ष की शाखाएँ अनेकानेक होते हुए भी एक तने से प्रतिबद्ध होती हैं और उस वृक्ष को मजबूती से जमाए रखने तथा फल फूल से हरा भरा रखने के लिये उसको दस अङ्गुल जड़ पृथ्वी के नीचे होती है उस जड़ के बिना वृक्ष का कोई अस्तित्व ही नहीं होता है । उसी प्रकार यहाँ सृष्टि के आदि कारण रूप में ऋषि कल्पना-प्रसूत सहस्रशीर्षा पुरुष की है ।

1. यतः सृष्टानि तत्रैव तावन्ति यान्ति पुनः पुनः ॥ शा० १५५. ६

2. प्रसार्य च यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः ॥ शा० १५५. ७ ॥

आदि सृष्टि के उत्पत्ति कर्ता जिस निराकार ब्रह्म को साकार बताते हुए भी अक्षि त्वयं को असमर्थ पाते हैं उसी ब्रह्म का निराकार वर्णन हमें नासदीय सूक्त में देखने को मिलता है। जहाँ कहा गया है कि असत् एवं सत् से रहित जलहीन, गहन अन्धकारावृत **विश्व** में कोई **ब्रह्म** था जो बिना वायु के साँस ल रहा था। यहाँ भी उस एक परम तत्त्व का उल्लेख है जिसमें समस्त प्राकृतिक शक्तियाँ अव्यक्त रूप में विद्यमान हैं। इसी प्रकार हिरण्यगर्भ सूक्त में हिरण्यमय अण्ड के रूप में परिकल्पित तत्त्व भी वही एकमात्र ब्रह्म ही कहा गया है।

इस प्रकार यदि हम सही अनुक्रम की दृष्टि से देखें तो पायेंगे कि नासदीय सूक्त में सृष्टि कर्ता ब्रह्म के सर्वथा अव्यक्त **निर्गुण**, **निराकार** रूप का वर्णन है। हिरण्यगर्भ सूक्त में उस परम तत्त्व की वही स्थिति है जो एक गर्भस्थ शिशु की होती है। "पृथिवी धाम उत इमां" पद के अन्तर्गत पंचमहाभूतों की पूर्व कल्पना प्रतीत होती है, क्योंकि ये पंचमहाभूत **आकाश**, **वायु**, **जल**, **अग्नि** तथा **पृथ्वी**। पृथ्वी लोक अन्तरिक्ष लोक एवं धुलोक से सम्बन्ध रखने वाले होते हैं। तथा इन्हीं पाँच तत्त्वों के सहयोग से गर्भस्थ शिशु जैसा त्वरूप धारण करता है। हिरण्यगर्भ का सम्पूर्ण भूतों का स्वामी होना, सम्पूर्ण विश्व का धारण करना, आत्मशक्ति एवं प्राणशक्ति से सम्पन्न होना इसके विराद रूप का परिचायक है, जिसका उल्लेख पुस्त्य सूक्त के द्वितीय मन्त्र में किया गया है।

ऐसा जान पड़ता है कि हिरण्यगर्भ सूक्त में वर्णित हिरण्यगर्भ "पुस्त्यसूक्त" में "विराजोऽधिपुस्त्यः" के रूप में वर्णित विराद पुस्त्य ही है। यदि ऐसा माना जाय तो पुस्त्य सूक्त से सामञ्जस्य रखते हुए यह मानना होगा कि मूल पुस्त्य से विराद या प्राकृतिक अण्ड उत्पन्न हुआ और इस अण्ड में इसके अधिष्ठाता के रूप में विराद पुस्त्य या हिरण्यगर्भ उद्भूत हुआ। हिरण्यगर्भ को प्रजापति कहा गया है।

इसी परम तत्त्व को जगत् का उपादान कारण मान कर उपनिषदों में "तत्त्वमसि", "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", ब्रह्मवेदं सर्वं आदि ब्रह्मवाक्य लिखे गये ।

महाभारतकार भी वेद के इन्हीं सूक्तों को प्रमुख रूप से आधार मान कर सृष्टि विषयक जिज्ञासाओं का समाधान करते हैं । पुरुष सूक्त के सहस्रशीर्षा पुरुष से वे नारायणा अथवा श्रीकृष्णा की एकस्पता व्यक्त करते हैं तथा विराड् की कल्पना में वे श्रीकृष्णा के विश्वरूप को समाहित करते हैं जिसमें वे तीनों लोकों अथवा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की कल्पना को साकार रूप प्रदान करते हैं । पुरुष सूक्त में जहाँ यज्ञ को उपादान कारण मानकर उसमें पुरुष स्वी हविष की आहुति द्वारा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अश्व, वातुवर्ण्य, ऋषि, मुनि, यतुर्वेद, आदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, वहीं महाभारतकार नारायणा अथवा श्रीकृष्णा के विश्वरूप की अवधारणा द्वारा उनके अंगों में ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को समाहित करते हैं । इस प्रकार वे पुरुष सूक्त में संकेतित विराड् एवं उसके अधिष्ठाता पुरुष की समानता श्रीकृष्णा के विश्वरूप एवं सामान्य श्रीकृष्णा के द्वारा करते हैं ।

हिरण्यगर्भ सूक्त विषयक वैदिक सन्दर्भ की व्याख्या करते हुए महाभारत-कार ब्रह्माजी के लिये "हिरण्याण्ड समुदभवम्" पद का प्रयोग करके उनकी उत्पत्ति से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि को जोड़ते हैं । इस प्रक्रिया में वे पृथ्वी, आकाश तथा ऊर्ध्वलोक की सृष्टि का ब्रह्माजी के विचार से प्रारम्भ मानते हैं । सुवर्णमय अण्ड के दोनों टुकड़ों में से एक के द्वारा पृथ्वी तथा दूसरे के द्वारा अन्तरिक्ष की रचना हुयी तथा दोनों के मध्य आकाश की ।

महाभारतकार यह भी कहते हैं कि नारायणा द्वारा योगनिन्द्रा का आश्रय लेकर जल में शयन करते समय नाना गुणों से उत्पन्न होने वाली जगत् की अद्भुत सृष्टि के विषय में विचार करते हुए उन्हें अपने गुण महान् का स्मरण हो आया । उससे अहंकार प्रकट हुआ । वह अहंकार ही चार मुखों वाले ब्रह्माजी हैं<sup>1)</sup> जो सम्पूर्ण लोकों के पितामह और भगवान् हिरण्यगर्भ के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

1. अहंकारस्ततो जातो- - - - सर्वलोक पितामहः ।। महो 12. 347. 21 ।।

महाभारतकार यह भी कहते हैं कि ये महातेजस्वी भगवान् हिरण्यगर्भ विकार को प्राप्त हो स्वयं ही अहंकार को और उसके अभिमानी प्रजापति विराट् को सृष्टि करते हैं<sup>1</sup> ।

उपर्युक्त सन्दर्भों में से एक में नारायण को ब्रह्माजी स्वी अहंकार का सृष्टिकर्ता कहा है तथा दूसरे में स्वयं प्रजापति {संभवतः ब्रह्म} ही अहंकार एवं विराट् के सृष्टि कर्ता हैं, परन्तु दोनों में ब्रह्माजी को ही अहंकार से जोड़ा गया है । इस धारणा को हम सांख्य दर्शन से इस प्रकार जोड़ सकते हैं कि नारायण सांख्य का पुत्र, योगनिन्द्रा-सांख्य की प्रकृति, महान् का स्मरणा--सांख्य का महान् या महत्त्व, ब्रह्माजी-सांख्य का अहंकार जो सात्त्विक, राजस, तामस तीन गुणों से युक्त है । विराट् -मन सहित एकादश इन्द्रियों प चतन्मात्राएँ तथा उनसे उत्पन्न पंचमहाभूत जो कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की संरचना के लिये मूल आधार तत्त्व हैं तथा जिनके द्वारा सांख्य वर्णित सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है तथा सांख्य के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में ही प्रत्येक पुत्र को सूक्ष्म शरीर निश्चित रूप से प्राप्त हो जाता है तथा कर्मानुसार वही सूक्ष्म शरीर भिन्न प्रकार की योनियों के द्वारा स्वस्म ग्रहण करता है ।

श्रग्वैदिक नासदीय सूक्त के सन्दर्भ द्वारा सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन करते हुए महाभारतकार ने वहाँ भी वेद में जिस अख्यक्त ब्रह्म को बिना वायु के श्वांस लेने वाला बताया है उसी परिकल्पना को यहाँ महाभारतकार साक्षात् ब्रह्म के रूप में परिवर्तित कर देते हैं । नासदीय सूक्त में जिस जलहीन अन्धकारावृत्त स्थिति का वर्णन किया गया है वैसा ही वर्णन करते हुए महाभारतकार माया विशिष्ट ईश्वर से प्रकट हुए ब्रह्मयोनि पुत्र से ब्रह्माजी का प्रादुर्भाव हुआ तथा ब्रह्माजी के नेत्रों से अग्नि व सोम की उत्पत्ति वर्णित करते हैं । यहाँ वर्णित सृष्टि-प्रक्रिया को हम तुलनात्मक रूप से सुरुष सूक्त से जोड़ सकते हैं । यदि हम मायाविशिष्ट ईश्वर को पुत्र सूक्त का सहस्रशीर्षा पुत्र, ब्रह्मयोनि पुत्र को

1. एष वै विक्रियापन्नः - - - - - प्रजापतिमहंकृतम् ।। मETO 2. 302. 2।

विराड् तथा ब्रह्माजी को विराड् का अधिष्ठाता पुस्व मानें तो यहाँ माया विशिष्ट ईश्वर को नासदीय सूक्त में वर्णित अपनी ही शक्ति से श्वास लेने वाले अव्यक्त ब्रह्म के रूप में देखा जा सकता है । ब्रह्मयोनि पुस्व की परिकल्पना को हम हिरण्यगर्भ से जोड़ सकते हैं, जो कि नासदीय सूक्त में वर्णित अव्यक्त ब्रह्म का किंचित् अव्यक्त रूप हो सकता है तथा अन्त में ब्रह्मयोनि पुस्व से उद्भूत ब्रह्माजी की अथवा विराड् की कल्पना से जोड़ सकते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारतकार वेद विहित अव्यक्त अब्रह्म की परिकल्पना में ब्रह्म के साकार रूप को समाहित करते हुए उसे कहीं नारायण, कहीं श्रीकृष्ण तथा कहीं ब्रह्म अथवा ब्रह्मा के रूप में वर्णित भले ही करते हों परन्तु उनके द्वारा वर्णित सृष्टि प्रक्रिया वेदोक्त सृष्टि प्रक्रिया का समर्थन ही करती है विरोध नहीं ।

xxx

\*\*\*\*\*

## वर्णाश्रम व्यवस्था

### वर्ण व्यवस्था

वर्ण व्यवस्था उत्तर वैदिक समाज की देन है। प्राचीन ऋग्वैदिक काल में वर्ण शब्द सामान्य रंगरूप का ही परिचायक था<sup>1</sup>। ऋग्वेद काल में हमें दो ही प्रकार के लोग मुख्य रूप से दिखाई देते हैं। आर्य एवं दस्यु अथवा द्रविण। आर्य मुख्यतः श्वेत वर्ण यानि रंग के तथा दस्यु प्रायः श्याम एवं कृष्ण वर्ण के होते थे<sup>2</sup>। ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर इनमें पारस्परिक मतभेद दिखाई देता है जो प्रायः युद्धों का कारण बनता था। आर्य कला संस्कृति एवं सभ्यता में दस्युओं की अपेक्षा बहुत अधिक विकास कर चुके थे। उनकी संस्कृति एवं ज्ञान-विज्ञान के विकसित रूप का परिचय ऋग्वेद एवं अन्य वैदिक ग्रन्थों के रूप में आज सम्पूर्ण विश्व को प्रत्यक्ष हो गया है। जबकि दस्युजन अज्ञानी, संस्कारविहीन एवं युद्ध करना व दूसरों की सम्पत्ति हड़पना ही जानते थे। युद्धों में भी वे अत्यन्त निपुण नहीं थे। अपने इन्हीं अवगुणों के कारण बाद में इन्हें अनार्य भी कहा जाने लगा। ऋग्वेद में इन्द्र आर्यों का एवं वृत्र अनार्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। दाशराज्ञ युद्ध भी इसी प्रकार के युद्धों का ही प्रतीकात्मक वर्णन है।

आर्य संस्कृति का आधार तुल्य विचारों पर अवलम्बित था अतः वे उत्तरोत्तर प्रगति करते गये जबकि अनार्यों ने इस दिशा में आगे बढ़ने के कोई प्रयास नहीं किये अतः वे अज्ञानाधिकार में भटकते हुए हमेशा के लिये अनार्य बनकर रह गये। आर्य एवं दस्युओं के बीच वैमनस्य की खाई इस हद तक बढ़ गयी कि कालान्तर में यदि किसी अनार्य ने आर्य संस्कृति को जानने समझने का प्रयास भी किया तो उसे आर्यों द्वारा दण्डित किया जाने लगा<sup>2</sup>। उत्तर वैदिक युग में आर्य एवं दस्यु इन परस्पर दो विरोधी वर्णों का तहता लोप होकर स्थान-स्थान

1. ऋ0 2.12.4, 1.179.6

2. वही



पर चार वर्णों का उल्लेख मिलता अन्तर्जातिय विवाह जन्य सम्मिश्रण के कारण जब अनेक आर्यों ने अपना मौलिक रंग रूपा खो दिया, जब दासियों के गर्भ से उत्पन्न होकर दीर्घतमा, औशिज और वत्स जैसे लोग श्रद्धित्व को प्राप्त हुए तथा जब कृष्णात्वय शुद्रों के अतिरिक्त जन्य भी धूसर वर्ण वाले होने लगे तब आर्य वर्ण एवं दास वर्ण का पुराना अन्तर स्वभावतः मन्द पड़ गया । - - - - - ऐसी परिस्थिति में वैदिक श्रद्धियों को आर्य वर्ण के अन्तर्गत तीन पृथक् वर्णों की कल्पना करनी पड़ी । इस प्रकार जहाँ विकसित श्रम विभाजन के आधार पर आर्य वर्ण तीन वर्णों में विभाजित हुआ वहीं शुद्र वर्ण का उद्गमन आर्य सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत आर्यतर जनों के प्रवेश की सूचना देता है ।

पूर्वकाल में आर्य एवं दस्युजनों के मध्य पारस्परिक मतभेद होते हुए भी सामाजिक भेदभाव के दर्शन नहीं होते आर्यों की व्यवस्था में किसी न किसी रूप में अनर्तभूत हुए अनार्यों के लिये पृथक् वर्ग की व्यवस्था नहीं थी । निम्न स्थिति वाले अनार्य तथा युद्धबन्दी दास पारिवारिक सेवकों के रूप में आर्य परिवारों के सदस्य हो गये होंगे । अनार्य अथवा दासी के साथ वैवाहिक सम्बन्धों का निषेध ऋग्वेद में नहीं मिलता । इन्द्र की पत्नी शची स्वयं पुलोमा दानव की पुत्री थी । द्विजों की इस प्रकार जब आर्य एवं अनार्यों के पारस्परिक सम्पर्क बहुत बढ़ने लगे और अल्पसंख्यक आर्यों को अपनी संस्कृति के लोप का भय सताने लगा तो उन्होंने पृथक्तावादी नीति को अपनाया तथा अनार्यों के साथ स्वच्छन्द सम्बन्धों का विरोध हुआ तथा उनका आर्थिक, सामाजिक एवं मुख्यतः धार्मिक बहिष्कार भी किया जाने लगा जिसके लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के नियम भी बनाये गये ।

यही वह समय था जब ऋग्वेद में वर्णित पुस्त्य सूक्त की रचना हुयी । यहाँ विराट् रूप पुस्त्य को सम्पूर्ण सृष्टि का आदिकर्ता माना है जिसके मुख से

ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुयी बाहुओं से क्षत्रियों की उरु प्रदेश से वैश्यों की तथा पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति मानी गयी है<sup>1</sup>। प्राचीन काल में ब्राह्मणों का काम वेदों का स्वाध्याय तो था ही साथ ही अध्यापन कार्य के द्वारा वेदों के प्रचार-प्रसार एवं रक्षा की जिम्मेदारी भी उन्हीं की थी। ब्राह्मणों द्वारा वेदों का अध्ययन-अध्यापन सफलतापूर्वक तभी संभव था जब देश-काल-वातावरण स्वस्थ एवं अनुकूल हो। प्रजाओं की सम्पूर्ण सुरक्षा करना, आतताइयों का ताम-दाम-भेद-दण्ड किसी भी प्रकार दमन करना तथा सम्पूर्ण व्यवस्था को देखते हुए वेदाध्यायी ब्राह्मणों को संरक्षण प्रदान करना क्षत्रियों का काम था। कृषि, व्यापार वाणिज्य का काम वैश्यों का था एवं शूद्रों का कार्य था तीनों आर्य वर्णों की सेवा करना।

चारों वर्णों द्वारा किये जाने वाले विशिष्ट कार्यों का विभाजन का कारण विराट् पुरुष से हुयी उनकी उत्पत्ति सम्बन्धी अंग विशेषों में निहित अवश्य है परन्तु उसका अभिप्राय यह नहीं कि प्रथमतः पुरुष सूक्त की रचना हुयी तदुपरान्त उन-उन कार्यों में व्यक्ति लगे अपितु प्रथमतः श्रम विभाजन का विकास हुआ तथा बाद में जो व्यक्ति जिन-जिन कार्यों में लगे हुए थे उन्हें उन-उन वर्णों का माना गया। इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए महाभारतकार कहते हैं कि पहले वर्णों में कोई अन्तर नहीं था। ब्रह्माजी से उत्पन्न होने के कारण यह सम्पूर्ण जगत ब्राह्मण ही था। पीछे विभिन्न कर्मों के कारण उनमें वर्णभेद हो गया<sup>2</sup> जो अपने ब्राह्मणोचित धर्म का परित्याग करके विषय भोग के प्रेमी तीखे स्वभाव वाले, क्रोधी और साहस का काम पसन्द करने वाले हो गये और इन्हीं कारणों से जिनके शरीर का रंग लाल हो गया वे ब्राह्मण क्षत्रिय भाव को

1. तत्समोदिरा जायत<sup>1</sup> विरा जो<sup>2</sup> धि<sup>3</sup> पुरुषः । ऋ० १०. १०. ५

ब्राह्मणो त्व मुखमासी<sup>4</sup> ह्य राज्ञ्य कृत

उरु तदस्य यद् वैश्यः प शूद्रो अजायत ॥ ऋ० १०. १०. १२

2. न विशेषो स्ति वर्णानां- - - - -कर्मभिवर्णतांशतः ॥ १२. १८८. १० ॥

प्राप्त हुए तथा क्षत्रिय कहलाने लगे<sup>1</sup>। जिन्होंने गौओं से तथा कृषिकर्म द्वारा जीविका चलाने की वृत्ति अपना ली और उसी के कारण जिनके रंग पीले पड़ गये तथा जो ब्राह्मणोचित धर्म को छोड़ बैठे, वे ही ब्राह्मण वैश्य भाव को प्राप्त हुए<sup>2</sup> जो शौच और सदाचार से भ्रष्ट होकर हिंसा और असत्य के प्रेमी हो गये, लोभवश व्याधों के समान सभी तरह के निन्द्य कर्म करके जीविका चलाने लगे इसी लिये जिनके शरीर का रंग काला पड़ गया वे ब्राह्मण शूद्रभाव को प्राप्त हो गये<sup>3</sup>। इन्होंने कर्मों के कारण ब्राह्मणात्त्व से अलग होकर वे सभी ब्राह्मण दूसरे दूसरे वर्ण के हो गये किन्तु उनके लिये नित्य धर्मानुष्ठान व यज्ञक्रम का कभी निषेध नहीं किया गया है<sup>4</sup>। इस विषय में यह कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति जन्म एवं कर्म दोनों के द्वारा वर्ण विशेष से सम्बन्ध रखता है वही सही अर्थों में उस वर्ण का होता है कहने का तात्पर्य है कि जन्म से ब्राह्मण को ब्राह्मणत्व की प्राप्ति तभी होगी जब वह ब्राह्मणोचित गुणों सत्य, धृति, क्षमा, अस्तेय, शुचिता एवं इन्द्रियनिग्रह से युक्त होता हुआ वेदों के अध्ययन अध्यापन में संलग्न होगा। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को स्वगुणकर्मानुकूल आचरण करने पर क्षत्रियत्व, वैश्यत्व एवं शूद्रत्व की प्राप्ति होगी। पं० आयादत्त जी के अनुसार धर्म घोषित करने के लिये संस्कृत में "त्वं" प्रत्यय का प्रयोग होता है। ब्राह्मणत्व ही ब्राह्मण वर्ण की स्वल्प रक्षा करता है। जिसमें ब्राह्मणात्त्व {ब्राह्मणधर्म} न होगा वह ब्राह्मण नहीं हो सकता। इसी प्रकार क्षत्रियत्व आदि धर्म सम्झना चाहिये।

"छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है कि जो रमणीय आचरण करने वाले हैं श्रेष्ठ ही वे रमणीय योनि को प्राप्त करते हैं--ब्राह्मण योनि, क्षत्रिय

1. काम भोग प्रिस्तीक्षणा- - - - द्विजा क्षत्रतां गताः ॥ 12.188.11 ॥

2. गोभ्यो वृत्ति सभास्थान- - - - वैश्यतां गताः ॥ 12.188.12

3. हिलानृतप्रिया लुब्धाः - - - - द्विजाः शूद्रतां गताः ॥ 12.188.13 ॥

4. इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा- - - - नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥ 12.188.14 ॥

योनि, वैश्य योनि और जो कुत्सित आचरणा करने वाले हैं वे निश्चय ही कुत्सित योनि को प्राप्त करते हैं---कुत्से की योनि, शूकर की योनि अथवा पाण्डाल की योनि<sup>1</sup> । तात्पर्य यह है कि इस जन्म के पश्चात् दूसरा जन्म लेने वाला प्राणी अपने संचित कर्मों के फल के अनुसार ही शुभ अशुभ योनियों में जन्म लेता है ।

श्रीमद्भगवद् गीता में भी लिखा है कि "शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभूष्टोऽभिजायते"

इन दोनों ही उद्धरणों में निश्चित रूप से जन्म एवं कर्म दोनों को समान रूप से आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण माना है । जिस प्रकार ब्राह्मण वर्ण में जन्म लेने के लिये तदनुकूल गुणकर्मनुसार आचरणा आवश्यक है उसी प्रकार उस वर्ण में जन्म लेने के उपरान्त वेदाध्ययन एवं प्रशंसनीय आचरणा आवश्यक है । महाभारत वनपर्व में इस तथ्य को और पुष्टि मिलती है जहाँ युधिष्ठिर-नहुष संवाद के अन्तर्गत युधिष्ठिर कहते हैं कि, हे नागेन्द्र ! सत्य, ज्ञान, क्षमा शील अनुश्रुति, तप, दया जिसमें दिखे वही ब्राह्मण कहा जाता है<sup>2</sup> वनपर्व में ही यक्ष को उत्तर देते हुए युधिष्ठिर कहते हैं कि हे तात ! कुल, स्वाध्याय अथवा श्रुत द्विजत्व में कारण नहीं वृत्त {आचरणा, कर्म} ही कारण हैं<sup>3</sup> । यहाँ प्रथम श्लोक में यद्यपि वृत्त को महत्त्व दिया गया है परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अच्छे आचरणा वाले किसी भी कुल में उत्पन्न व्यक्ति को ब्राह्मण कहा जाय । अपितु जन्म से ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति में उस प्राकृतिक गुणों का संचार अवश्य ही होगा । यदि किन्हीं विषम परिस्थितियों के कारण ऐसा नहीं हुआ तो वह ब्राह्मण होते हुए भी हुए भी तदनुकूल आचरणा से ही होने के कारण जाति से ब्राह्मण होते हुए भी ब्राह्मणोचित पद का अधिकारी नहीं होगा । वह नाम मात्र का ब्राह्मण होगा

1. तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यते- - - -।। छा0 उ0 5/10/7

2. सत्यं ज्ञानं क्षमाशीलत्वानुश्रुत्यं- - - - स ब्राह्मण इति स्मृतः ।। वन0 313-115 ।।

3. शृणु यज्ञ कुलं तात न स्वाध्यायो- - - - वृत्तमेव न संशय ।। वन0 313.108 ।।

जैसा कि मनु स्वयं कहते हैं कि जिस प्रकार काठ का बना हुआ हाथी एवं चर्ममय मृग नाममात्र के हाथी एवं मृग कहे जाते हैं उसी प्रकार अध्ययन हीन आचरणा-हीन ब्राह्मण भी नाममात्र का ब्राह्मण होगा<sup>1</sup> । इसी प्रकार "जन्मना जायते शूद्रः" का भी अभिप्राय यही है कि जब तक जात्या ब्राह्मण संस्कारों से संस्कृत होकर तदनुकूल आचरणा नहीं करेगा तब तक वह शूद्र के समान ही समझा जायेगा । शूद्र के लिये वैसे तो वेदाध्ययन और यज्ञादि का सर्वथा विरोध है परन्तु यदि वह अच्छे प्रशंसनीय आचरणा व्यवहार द्वारा ब्राह्मणों क्षत्रियों अथवा वैश्यों का अनुकरण करता है तो वह अपने आचरणा के अनुकूल योनि को प्राप्त करता है । परन्तु मनु के अनुसार ऐसा उसी जन्म में नहीं होता, सातवें जन्म में होता है । उसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णों द्वारा स्व वर्णानुकूल आचरणा एवं कर्म न करके निम्न कोटि के आचरणा व कर्म करने पर उनका भी अधः पतन होता है परन्तु उसी जन्म में नहीं अपितु निरन्तर निम्नकोटि का आचरणा करने पर सातवें जन्म में अपने आचरणा एवं कर्म के अनुकूल योनि प्राप्त करता है । इस विषय में मनु कहते हैं कि जो द्विज वेद का अध्ययन न करके अन्यत्र श्रम करता है वह जीता हुआ ही परिवार सहित शूद्रता को प्राप्त होता है<sup>2</sup> । यहाँ शूद्रता को प्राप्त होने का अभिप्राय शूद्र वर्ग से नहीं है अपने आचरणा के कारण ही वह शूद्र के समान हो जायेगा यह अभिप्राय है ।

#### ऐककालीन ब्राह्मण

पूर्व में वर्णित किया जा चुका है कि चार्तुवर्ण्य व्यवस्था का सिद्धान्त स्म में विवेचन सर्वप्रथम ऋग्वेद में मिलता है जिसमें चारों वर्णों की सृष्टि को

1. यथा काष्ठम यो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।  
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयमेते नामधारकाः ॥ मनु 2/157
2. योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुस्ते ऋमसु  
त जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ मनु 2/168

विराद पुस्त्य के शरीर के अङ्गों से अहुआ बताया गया है जिसमें ब्राह्मण को विराद पुस्त्य के मुख से उत्पन्न बताया गया है<sup>1</sup> । मुख वागिन्द्रिय प्रधान होता है इसी वाणी के द्वारा वेद, शास्त्रों का उच्चारणपूर्वक स्वाध्याय करते हुए अपने बुद्धि बल के द्वारा प्राप्त ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि करते रहना ही ब्राह्मणों का प्रमुख धर्म माना जाता था । वेदों का स्वाध्याय प्रत्येक ब्राह्मण का सर्वोपरि धर्म माना जाता था जैसा कि वेद में वैदिक ज्ञान की {ब्रह्मवर्चसम् की} अनिवार्यता विभिन्न प्रसङ्गों में बतायी गयी है<sup>2</sup> । यद्यपि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में अनेक अनुष्ठान भी सहायक बताये गये हैं किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन स्वाध्याय बताया गया है शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय की महिमा की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है<sup>3</sup> । इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में यह कहा गया है कि विद्वान् श्रोत्रिय का विद्याजनित मुख परमानन्द के समान होता है<sup>4</sup> । बृहदारण्यक उपनिषद् के एक प्रसङ्ग में स्वाध्याय और अध्यापन को सर्वोच्च तप माना गया है<sup>5</sup> स्वाध्याय के विषय बहुधा तीन वेद हुआ करते थे जिन्हें त्रयी कहा गया है । त्रयी के अध्येता विद्यार्थी को त्रिगुक्रिय<sup>6</sup> अथवा त्रिगुक्<sup>7</sup> कहते थे । शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषद् में अन्य अनेक विषयों के अध्ययन अध्यापन का उल्लेख है जैसे इतिहास-पुराण-गाथा-नाराशंसी ब्रह्मोद्य, देवजन विद्या,

1. ब्राह्मणो स्य मुखमासीत् । श्रु 10. 90

2. तै० सं० 4. 1. 7. 1., 7. 5. 18. 1, वाज० सं० 22. 22, 27. 2

3. श्रु ब्रा० 2. 3. 1. 31, पंच ब्रा० 23. 7. 3

4. बृह० उप० 4. 3. 35. 39

5. वही 7. 8. 10

6. काठ० सं० 37. 7

7. तै० ब्रा० 2. 7. 1. 2

सर्पविद्या, अथर्वङ्गिरस, देवनिधि पित्र्य, राशि और सूत्र इत्यादि । तैत्तिरीय आरण्यक तथा सूत्र साहित्य में स्वाध्याय के लिये स्थान और काल का भी संकेत हुआ है<sup>1</sup> । यदि स्वाध्याय गाँव के बाहर वनों में अथवा किसी एकान्त स्थान में किया जाता था तो विषय को बोल-बोल कर उच्चस्वर से पाठ करके कण्ठस्थ करने की स्वतन्त्रता थी अन्यथा गाँव में स्वाध्याय करने वालों के लिये मौन चिन्तन का आदेश था<sup>2</sup> ।

अध्ययन अर्थात् स्वाध्याय के समान ही वेदों का अध्यापन कार्य भी ब्राह्मणों का परम कर्तव्य था । वेदज्ञ ब्राह्मण के ऊपर समाज के एवं राष्ट्र के अभ्युदय के लिये अविद्यादि दोषों को दूर करके ज्ञान का विकास करने का समस्त भार था । शतपथ ब्राह्मण ब्राह्मणों के चार प्रधान धर्मों में लोकपंक्ति {दूसरों को शिक्षा देना} को भी स्थान देता है । शिक्षक के रूप में उसको प्रथम कार्य अपने पुत्र को वैदिक शिक्षा एवं याज्ञिक कर्मकाण्डों में प्रवीण करना था<sup>3</sup> । इस प्रकार वह अपने पुत्र को पौत्रिक व्यवसाय में भी दक्ष बनाता था । आरुणि और श्वेतकेतु की कथा तथा शतपथ ब्राह्मण के वसुता और भृगु के आख्यान<sup>4</sup> से पिता द्वारा पुत्र के शिक्षण की परम्परा प्रमाणित होती है<sup>5</sup> । कतिपय उद्धरणों से यह भी सिद्ध होता है कि कभी-कभी यह ब्राह्मण अपनी विशेषताओं के अभाव में अपने पुत्रों को अन्य लब्ध प्रतिष्ठित विद्वानों के यहाँ भी भेजते थे<sup>6</sup> । अध्यापक के रूप में वे बहुत से शिष्यों को साथ-साथ शिक्षा देते थे । वे मन और मस्तिष्क की पूरी शक्ति

1. तै० अ० 2. 1. 12-15

2. तै० अ० 8. 1

3. श० ब्र० 1. 6. 2. 4.

4. श० ब्र० 11. 6. 1. 1

5. सू० उप० 6. 1. 1

6. दू० वैदिक इण्डेक्स, भाग-2, पृ० 88

से विद्यार्थियों को पढ़ाते थे तथा उन्हें सब कुछ सिखाने के प्रयास करते थे । कुछ विद्यार्थियों के लिये "संवत्सरवासिन" शब्द का प्रयोग हुआ है<sup>1</sup> जिससे यह प्रतीत होता है कि कभी कभी विद्यार्थी एक वर्ष की अल्प अवधि तक ही एक आचार्य के पास निवास करते थे । विद्यार्थी अधिकांशतः आचार्य के कुल में ही रहते थे और भोजन करते थे<sup>2</sup> साथ में गुरु की सेवा-शुश्रूषा, गायों को चराना, यज्ञिय अग्नि को प्रदीप्त रखना आदि कार्य भी करते थे । सत्यकाम जावाल के आख्यान से ज्ञात होता है कि उसे गुरु की गायों के साथ रहने और तब लौटने का आदेश दिया गया था जब उनकी संख्या एक सहस्र हो जाय<sup>3</sup> । विद्यार्थी भिक्षाचरणा में भी गुरु की सहायता करता<sup>4</sup> था । कुछ खास विद्यार्थी विशिष्टजनों के लिये ही थीं<sup>5</sup> । उनके अधिकारी सभी विद्यार्थी नहीं थे । छान्दोग्य उपनिषद् में प्रशासन को क्षत्रियों की विद्या कहा गया है<sup>6</sup> । अध्ययन और अध्यापन सम्बन्धी विविध नियमों का विस्तृत वर्णन सूत्र साहित्य में मिलता है ।

अध्ययन अध्यापन के अतिरिक्त यज्ञ करना एवं यज्ञ कराना भी ब्राह्मणों का ही कर्तव्य था । वैदिक युग में यज्ञ संस्था अपने चरमोत्कर्ष पर थी । इस यज्ञ संस्था का सम्पूर्ण विज्ञान ब्राह्मण ग्रन्थों तथा श्रौत सूत्रों में उपलब्ध होता है जहाँ यज्ञों की विधि एवं अनुष्ठान इतने विस्तृत एवं जटिल है कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के ज्ञाता विद्वान् ब्राह्मण की सहायता के बिना किसी भी व्यक्ति के लिये यज्ञ करना असंभव था । ऐतरेय ब्राह्मण तथा अन्य अनेक स्थानों पर यह भी कहा गया कि यज्ञ के सम्पादन में यदि किसी प्रकार की त्रुटि रह जाती है तो

1. तै० अ० 7. 3

2. आचार्य कुलवासिन या अन्तेवासिन । छान्दोग्य उप० 3. 2. 5, 4. 10. 1

3. छान्दोग्य उप० 4. 3. 5

4. वही

5. काठ० सं० 37. 17 तै० ब्रा० 3. 5. 1

6. छान्दोग्य उप० 5. 3



यजमान अभी सिद्ध फल की प्राप्ति के विरुद्ध किसी संकट में पँस जाता है<sup>1</sup> । ऐसे नियमों से भयभीत होकर भी लोग वंशानुगत विद्वान् पुरोहित से ही यज्ञ में अतिविक्रम करवाते थे । स्वयं पुरोहित के लिये भी समस्त यज्ञ प्रक्रिया में तिरस्कार होना आवश्यक था क्योंकि विधि-विधानों के पालन एवं मन्त्रों के उच्चारण में जरा सी भी त्रुटि का दुष्परिणाम पुरोहित को भी भोगना पड़ता था । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ सम्पादन में कुछ त्रुटि हो जाने के कारण एक पुरोहित का हाथ ही टूट गया था<sup>2</sup> । यज्ञ के अवसर पर अपने उत्तरदायित्व का समुचित वहन न करने के कारण आषाढि सौश्रोमतेय नामक पुरोहित मृत्यु को प्राप्त हुआ<sup>3</sup> ।

यद्यपि साधारण गृह्यज्ञ जैसे पंचमहाभूत यज्ञ एवं अग्निहोत्र बिना पुरोहित की सहायता के भी सम्पन्न होते थे तथापि श्रौतयज्ञों में उनकी सहायता अपरिहार्य थी ब्राह्मणों का यज्ञ से अत्यधिक सम्बन्ध इस बात से भी प्रकट होता है कि कोई भी राजन्य अथवा वैश्य तब तक यज्ञ में भाग नहीं ले सकता था जब तक वह स्वयं ब्राह्मणोचित वेशभूषा न धारण करे<sup>4</sup> । ब्राह्मण साहित्य में विशालतम यज्ञों के लिये सोलह पुरोहितों तक की व्यवस्था मिलती है<sup>5</sup> जबकि सामान्य श्रौतयज्ञों में इनकी संख्या चार, पाँच, छः, सात और दस तक भी पर्याप्त समझी जाती थी<sup>6</sup> । तैत्तिरीय संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में देवताओं और अगुओं को भी पुरोहितों से युक्त बताया गया है । तैत्तिरीय संहिता के अनुसार विश्वरूप देवताओं का पुरोहित था । काठक संहिता में सणु और अमर्क

1. एतरेय ब्रा० 7. 29

2. शत० ब्रा० 1. 7. 3. 19

3. शत० ब्रा० 6. 2. 1. 37

4. ऐत० ब्रा० 7. 17, शत० ब्रा० 3. 2. 1-39

5. श० ब्रा० 10. 4. 2. 19

6. वैदिक इण्डेक्स, भाग-2, पृ० 89

को देवताओं का पुरोहित कहा गया है<sup>1</sup> । वैदिक साहित्य में पुरोहितों को दक्षिणा के रूप में अकूत धन सम्पत्ति प्राप्त होने का वर्णन है । ब्राह्मणों को दान देना देवताओं को दान देने के समान समझा जाता था । यज्ञ की अवशिष्ट सामग्री के उपभोग का अधिकारी भी ऋत्विक् पुरोहित ही हुआ करता था ।

उपर्युक्त अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन दान-प्रतिग्रह के अतिरिक्त ब्राह्मण के लिये चरित्र को शुद्धता एक अनिवार्य शर्त थी । वैदिक साहित्य में ब्राह्मणों के आचार के सम्बन्ध में अनेक नियम-निर्देश प्राप्त होते हैं । ब्राह्मणों को विलास और ऐश्वर्य से विमुख रहने के लिये भिक्षावृत्ति पर जोर दिया गया । शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण की हत्या को ही वास्तविक हत्या माना गया है<sup>2</sup> । अब्राह्मण की तुलना में ब्राह्मण की हत्या एक अक्षम्य अपराध था जिसकी तुलना भूणहत्या से की गयी है<sup>3</sup> । ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त अश्वमेध यज्ञ से होता था<sup>4</sup> ।

#### महाभारतकालीन ब्राह्मण

वैदिक युग से महाभारतकाल तक ब्राह्मणों की स्थिति में कोई विशेष बदलाव नहीं आया । वैदिक युग में सामाजिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिये ऋजिन नियमों का निर्माण हुआ महाभारत काल में उन नियमों का यथाविधि पालन किया जाता था । इस तथ्य का स्पष्टीकरण शान्तिपर्व के राज धर्मनुशासन पर्व में आर कैकयराज व राक्षस के उपाख्यान से होता है जहाँ वन में तप एवं स्वाध्याय करते हुए कैकयराज के राक्षस द्वारा गृहीत होने पर वह अपने राज्य की श्रेष्ठता से राक्षस को अवगत कराते हुए उससे मुक्ति पाते हैं । इस

1. तै० सं० 2. 5. 1. 1 काठ० सं० 4. 4

2. शत० ब्रा० 13. 3. 5. 3

3. तै० सं० 6. 5. 10. 2

4. शत०, ब्रा० 8. 3. 1. 1

उपाख्यान से महाभारतकालीन ब्राह्मण समाज के विषय में जो कुछ ज्ञात होता है वह यह है कि उस समय सभी ब्राह्मण विद्वान्, उत्तमव्रत का पालन करने वाले, यज्ञ में सोमपान करने वाले अग्निहोत्री व यज्ञकर्ता होते थे<sup>1</sup> । यज्ञ करवाने के अतिरिक्त वे स्वयं भी अनेक प्रकार की दक्षिणाओं से युक्त यज्ञ करते थे तथा बिना ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किये वेदाध्ययन नहीं करते थे<sup>2</sup> । वे अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान प्रतिग्रह इन छः कर्मों में ही संलग्न रहते थे तथा सभी कोमल स्वभाव वाले सत्यवादी होते थे<sup>3</sup> । वेदज्ञ ब्राह्मणों को राजा का संरक्षण प्राप्त होता था<sup>4</sup> । बिना ऋत्विज के यज्ञ नहीं होता था ।

उक्त उपाख्यान में वर्णित ब्राह्मणों की स्थिति से उनके तत्कालीन धार्मिक सामाजिक एवं राजनैतिक महत्त्व के साथ-साथ उनके स्वयं के गुण कर्म एवं आचरणा पर भी प्रकाश पड़ता है जो सर्वथा वेद विहित नियम निर्देशानुसार ही था ।

इसी प्रकार महाभारत में अन्यत्र ऋक् यजुः साम के ज्ञाता ब्राह्मण को देवताओं के समान पूजनीय माना गया है । विद्वान् गृहस्थ ब्राह्मण के लिये अध्ययन आदि षट्कर्म का तो विधान है ही इसमें भी ब्राह्मणों को उत्तरोत्तर श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए चार श्रेणियों में विभाजित किया है जिनमें अध्ययन आदि छहों कर्मों में संलग्न ब्राह्मण को प्रथम श्रेणी में अध्ययन, यजन और दान करने वाले ब्राह्मण को द्वितीय श्रेणी में, अध्ययन एवं दान करने वाले को तीसरी श्रेणी में तथा मात्र वेदाध्ययन करने वाले ब्राह्मण को चतुर्थ श्रेणी में रखा गया है<sup>5</sup> । यहाँ संभवतः चतुर्थ श्रेणी वाले ब्राह्मण को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है क्योंकि महाभारत का मूल उद्देश्य वेदार्थ का उपबृंहण, रक्षा एवं प्रचार प्रसार है इस शुभकार्य में अपना पूरा सहयोग वही ब्राह्मण दे सकता था जो पूर्णतः वेदों के लिये ही समर्पित हो

3. न च मे ब्राह्मणो विद्वान्नावती- - - - कश्चिन्मामकान्तरमाविशः ॥

शा० प० । 2. 77. 9

2. नानाप्रदक्षिणीयज्ञैर्यजन्ते- - - - कश्चिन्मामकान्तरमाविशः ॥ शा० प० । 2. 77-10

3. अधीयैते ध्यापयन्ति- - - - कर्मस्ववस्थिताः ॥ शा० प० । 2. 77. 11

4. पूजिताः संविभक्तताश्च- - - - मामकान्तरमाविशः ॥ शा० प० । 2. 77. 12

5. षट्कर्मावर्तयत्येकस्त्रिभिरन्यः- - - - ब्रह्मसूत्रे व्यवस्थितः ॥ शा० प० । 2. 243. 4

तथा वेदाध्ययन द्वारा वेदों की सुरक्षा को अपना परम ध्येय सम्मता हो ।

गुरु की सेवा में रहकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए वेदाध्ययन के साथ साथ वेद में विहित ज्ञान को ठीक ठीक ग्रहण करके उसका अनुकरण करने वाला ही सच्चा ब्राह्मण माना जाता था<sup>1</sup> । महाभारतकार का मानना था कि क्योंकि ब्राह्मण वेदों के स्वाध्याय से ही कुतकृत्य हो जाता था अतः वह कोई कार्य करे या न करे सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखने वाला होने के कारण ही वह ब्राह्मण कहलाता है<sup>2</sup> । यहाँ ब्राह्मण की वेदज्ञता के साथ साथ उसके प्राणिमात्र के साथ मित्रवत् आचरण स्वी प्रशंसनीय गुणधर्म पर भी प्रकाश डाला गया है । वैदिक साहित्य में "मित्र" एक महत्वपूर्ण देवता के रूप में पूजित हैं तथा ऋग्वेद में अनेकों सूक्त उनकी स्तुति-प्रशंसा में लिखे गये हैं । मित्र देवता के गुण धर्म का वर्णन करते हुए पं० आद्यादत्त ठाकुर जी कहते हैं कि आध्यात्मिक घोर वृत्तियों का उपशमन करने वाला, भूतमात्र के साथ निष्कारण सौहार्द रखने वाला आदि मित्र देवता के धर्म कहे गये हैं इसके लिये वे कतिपय वैदिक उद्धारण भी प्रस्तुत करते हैं<sup>3</sup> । मित्र देवता के उक्त वैदिक गुण धर्म ब्राह्मण के अन्तःकरण में भी उपस्थित हों वे निश्चित रूप से बेदज्ञ ब्राह्मण की वाञ्छनीय योग्यता में वृद्धि करते हैं ।

वेद में अनेक स्थलों पर सविता देवता के लिये भी मित्र विशेषण प्रयुक्त हुआ है । यदि हम सविता देवता के गुणधर्म पर दृष्टिपात करें तो हम पायेंगे कि वे सभी गुण यदि ब्राह्मण में भी हों तो भी उसे प्राणिमात्र के साथ मित्रवत्

1. सर्वान्वेदानधीयीतं- - - - -न तेन न त वै द्विजः ।। शा० प० । 2. 25।. 2

2. परिनिष्ठित कार्यो हि- - - - -मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।। शा०प० । 2. 238। 3 ।।

3. सर्वस्य ह्येव मित्रो मित्रम् [शा० 5. 3. 2. 7] मित्रेणैव यज्ञस्य स्विष्टं शभ्यति [तै० ब्रा० 1. 2. 5. 3] तं यद् घोरसंस्पर्श सन्तं मित्रं कृत्येषोपासते तदस्य मैत्रं स्वम् [ऐ० ब्रा० 3. 4]

आचरण वाला ही कहा जायेगा । सविता देवता के गुण धर्म पर प्रकाश डालते हुए पं० आद्यादत्त ठाकुर लिखते हैं कि आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रिय वर्ग आदि को उनके कर्मों की ओर प्रेरित करने वाला, अपने विद्युत रूप से आध्यात्मिक पर्वों में विद्युत्सम स्फूर्ति देने वाला, वेद धर्म की ओर प्रवृत्ति कराने वाला, यज्ञवृत्ति में प्रेरित करने वाला----इत्यादि धर्मयुक्त आदित्य मण्डलस्थ प्राणविशेष सविता देवता है । यहाँ वे वैदिक उद्धरण देते हैं<sup>1</sup>। उपर्युक्त सविता देवता सम्बन्धी गुणधर्म वेदज्ञ एवं प्रगतिनीय आचरण वाले ब्राह्मण में भी पाये जाते हैं ।

वैदिक साहित्य विशाल है । अतः वेदाध्ययन अपने आप में पर्याप्त समय साध्य एवं श्रमसाध्य कार्य था । प्राक् वैदिक युग में तो लेखन कला का प्रचलन भी नहीं हुआ था परन्तु लेखन कला के विकासोपरान्त भी वैदिक मन्त्रों को लिख कर याद करना अथवा सुरक्षित करना ठीक नहीं माना जाता था । वेदाध्ययन एवं वेदों की सुरक्षा व प्रचार प्रसार श्रुति-परम्परा से ही होता था । वेदों की सुरक्षा का कार्यभार ब्राह्मणों पर ही था तथा यह कार्य श्रवण, मनन एवं निश्चि-  
ध्यासन के द्वारा ही सम्पन्न होता था परन्तु समाज में वर्ण-व्यवस्था विकास के साथ साथ अन्य श्रमसाध्य कार्यों को ब्राह्मणोत्तर वर्णों को सौंप दिया गया । समाज में भेदभाव की व्यवस्था होने पर ब्राह्मणों में सात्त्विक गुणों का स्थान अहंकारिदि तामसिक गुणों ने ले लिया । फलस्वरूप ब्राह्मणों में गुरु के प्रति सेवाभाव का अभाव एवं स्मरणाशक्ति की क्षीणता, श्रमसाध्य कार्यों में अरुचि आदि दुषित भावों के विकास के कारण विशाल वैदिक साहित्य को मात्र स्मरणाशक्ति के बल पर सुरक्षित रख पाना असंभव हो गया तो वैदिक मन्त्रों को ताड़पत्रों पर लिख कर उन्हें सुरक्षित किया जाने लगा । महाभारतकाल में निश्चित रूप से

1. यज्ञ एव सविता ॥तै० उप० 4. 27. 7॥ वेदों में भारतीय संस्कृति, पृ० 195

ब्राह्मणों में वेदाध्ययन के प्रति असमर्थता में वृद्धि हुयी होगी । यही कारण है कि शिवसहस्र नाम स्त्रोत के पाठ के लिये महाभारतकार लिखते हैं कि इसके पाठ से ब्राह्मणों को वेदों के स्वाध्याय का फल प्राप्त होता है, क्षत्रिय समस्त पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर लेता है, वैश्य व्यापार कुशलता एवं महान लाभ का भागी होता है तथा शूद्र इहलोक में सुख तथा परलोक में सद्गति प्राप्त कर लेता है<sup>1</sup> ।

महाभारतकार ब्राह्मण को अग्नि के समान मानते हुए कहते हैं कि "मायाविशिष्ट ईश्वर से प्रकट हुए ब्रह्मयोनि पुस्त्य से जब ब्रह्माजी का प्रादुर्भाव हुआ तब उस पुस्त्य ने प्रजासृष्टि की इच्छा से अपने नेत्रों द्वारा अग्नि और सोम को उत्पन्न किया । इस प्रकार भौतिक सर्ग की सृष्टि हो जाने पर प्रजा की उत्पत्ति के समय क्रमशः ब्रह्म और क्षत्र का प्रादुर्भाव हुआ जो सोम है वही ब्रह्म है जो ब्रह्म है वही ब्राह्मण है । ब्राह्मण से बढ़कर कोई भी प्राणी पहले कभी उत्पन्न नहीं हुआ जो ब्राह्मण के मुख में भोजन देता है वह मानो प्रज्वलित अग्नि में आहुति प्रदान करता है । अग्निदेव यज्ञों के होता व कर्ता हैं । वे अग्निदेव ब्राह्मण हैं । हे अग्निदेव । तुम होता नियुक्त किये गये हो । मनुष्यों में जो होता के अधिकारी हैं वे ब्राह्मण ही हैं क्योंकि उसी के लिये यज्ञ कराने का विधान है । द्विजातियों में जो क्षत्रिय और वैश्य हैं उन्हें यज्ञ कराने का अधिकार नहीं है इसीलिये अग्निस्वस्व ब्राह्मण ही यज्ञों का भार वहन करते हैं । ये यज्ञ देवताओं को तृप्त करते हैं और देवता भूमण्डल को धन-धान्य से पूर्ण बनाते हैं<sup>2</sup>। शतपथ

1. वेदान् कृत्स्नान् ब्राह्मणाः प्राप्नुयात् तु

अयेन्नृपः पार्थ महीं च कृत्स्नाम् ।

वैश्यो लाभ प्राप्नुयान्ने पुणं च

शूद्रो गति प्रेत्य च सुख च ॥ महर् १३.१८.८१

2. तस्येदानीं तमसः सम्भवत्य पुस्त्यस्य ब्रह्मयोने ब्रह्मणाः प्रादुर्भावि स पुस्त्यः- - -॥

महर् १२.३५२.९ ॥

ब्राह्मण में भी ब्राह्मण के मुख में आहुति देने की बात कही गयी है। जो विद्वान् ब्राह्मण के मुख स्पी अग्नि में अन्न की आहुति देता है वह मानो प्रज्वलित अग्नि में होम करता है इस प्रकार ब्राह्मण अग्निस्वस्व हैं। विद्वान् ब्राह्मण अग्नि की उपासना करते हैं। अग्निदेव विष्णु हैं वे समस्त प्राणियों के भीतर प्रवेश करके उनके प्राणों को धारण करते हैं। ब्रह्म ही जिनकी उत्पत्ति के स्थान हैं वे अमर देवता ब्राह्मणों की वेदध्वनि से ही स्वर्गलोक को जाते हैं।

### वेदकालीन क्षत्रिय

क्षत्रिय वर्ण का सूचक "राजन्य" पद सर्वप्रथम ऋग्वेद के पुस्त्य सूक्त में आया है जहाँ उसे विराट् पुस्त्य की बाहुओं से उत्पन्न बताया गया है<sup>1</sup>। शासन करने वाले व्यक्ति अथवा समुदाय का सूचक क्षत्रिय अथवा शस्त्र पद ऋग्वेद के कुछ अन्य स्थलों पर उल्लिखित हुआ है। प्राचीन वैदिक युग में "क्षत्रिय" अथवा राजन्य शब्द का प्रयोग प्रकृतबन्धित अर्थ में होता था तथा केवल शासन करने वाली सत्ता अथवा समुदाय के लिये ही होता था सामान्य योद्धाओं के लिये नहीं। जब कर्म के सिद्धान्त की अपेक्षा आनुवंशिकता का सिद्धान्त प्रबल हो गया तो आर्य व राजन्य परिवार इस स्थिति में आ गये थे कि उनके लिये "आर्य" एवं "शासन करने वाले लोग" ये सम्बोधन निरर्थक हो गये थे। इसी समय उन्होंने अपना जाति नाम क्षत्रिय रखा जो अपने अन्दर "रक्षा करने वाले" इस अर्थ को समेटे हुए है तथा अब उसका अभिप्राय विस्तृत होकर "युद्ध करने वाले लोग" हो गया था<sup>2</sup>।

न्याय एवं धर्मग्रन्थ एक क्षत्रिय को वैश्य का पेशा अपनाने की छूट देते हैं<sup>3</sup>। परन्तु उनकी सैनिक परम्पराओं एवं सैनिक व प्रशासनिक क्षेत्र में बहुत से व्यवसायों के होते हुए शायद ही कोई क्षत्रिय वैश्य का पेशा अपनाते होंगे। लेकिन

1. बाहु राजन्यकृतः । ऋ0 । 0. 90

उस समय वर्ण व्यवस्था पूर्ण विकसित नहीं थी तथा बहुत सी सामान्य बातों की तरह मात्र पुस्तकों में ही लिखी हुयी थी। क्षत्रिय का "योद्धा" अर्थ महाकाव्यों में ही सुदृढ़ हुआ। सभी क्षत्रिय योद्धा नहीं होते थे। कौटिल्य सेना में चारों वर्णों को प्रविष्ट मानते हुए क्षत्रिय को श्रेष्ठ मानते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने क्षत्रिय को अन्य वर्णों से अलग बताते हुए उसे शस्त्र धारण करने वाला बताया है तथा यह भी कहा है कि क्षत्रिय का भोजन ब्राह्मण के खाने योग्य नहीं है<sup>1</sup>। यह भी कहा जा सकता है कि जब कोई अक्षत्रिय समुदाय के लोग युद्धादि करने का पेशा अपनाते हैं और उनमें से कुछ ऊपर उठकर प्रशासन संभालते थे तो ब्राह्मण उन्हें क्षत्रिय नाम दे देते थे। अन्य वर्णों के ऐसे लोग भी थे जो सेना में उच्च पदों पर आसीन होते हुए भी क्षत्रिय नहीं कहे अथवा सम्झे जाते थे। प्रारम्भ में अर्ध स्त्रेण तथा अन्त में पूर्णस्त्रेण युद्ध करने वाले सामान्य लोगों को क्षत्रिय नहीं कहा जाता था। महाभारत में युद्ध में प्रवीण प्रथम समुदाय को यवन कहा गया जो यवन गौतम धर्मसूत्र के अनुसार क्षत्रिय पिता एवं शुद्र माताओं को सम्मान दे<sup>2</sup>। मनु उन्हें ब्राह्म्य अथवा निम्न श्रेणी के क्षत्रिय कहते हैं। उन्हें शुद्र भी नहीं कहा जाता था।

ब्राह्मणों की सुरक्षा क्षत्रियों का प्रमुख कर्तव्य था। उसके राज्य में किसी भी ब्राह्मण को भूख, बीमारी आदि अभावों से त्रस्त नहीं होना चाहिये था। योग्यता एवं गुणों में श्रेष्ठ ब्राह्मण को यदि एक राजा जमीन एवं धन देता था तो उसको अनन्त राज्य की प्राप्ति होती थी। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है कि यदि एक क्षत्रिय किसी ब्राह्मण की रक्षा करते हुए मार दिया जाता है तो यह उसका बलिदान अनेकों दक्षिणाओं वाले सर्वमिथ यज्ञ की कोटि का माना जाता था<sup>3</sup>। युद्ध में वीरता का प्रदर्शन करना भी क्षत्रिय का कर्तव्य था।

1. आप० ध० 1. 6. 18. 19

2. गौ० ध० 5. 21

3. आप० ध० 2. 10. 25. 26



आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार युद्ध में किसी की हत्या करना पाप नहीं था बल्कि यह उन लोगों की तुलना में अधिक पुण्य का काम था जो उड़ते हुए केशों व जुड़े हुए हाथों के साथ वापस जाते हैं अथवा भय या दया के वशीभूत होकर या तो हथियार डालकर सन्धि के लिये अपने दूत भेजते हैं या युद्ध भूमि को पीठ दिखा कर वापस लौट जाते हैं<sup>1</sup>।

क्षत्रिय के लिये वेदाध्ययन, दान एवं यज्ञ कराना भी परमावश्यक कर्तव्य थे। राजाओं तथा सम्राटों की यज्ञ तथा उसमें दिये जाने वाले दान के प्रति बढ़ती हुयी रुचि के फलस्वरूप ही अश्वमेध एवं राजसूय जैसे विशाल यज्ञों का आविर्भाव हुआ।

वैदिक एवं उत्तर वैदिक युग में राजन्य वर्ण की सामाजिक स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ थी। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को प्राणिमात्र का अधिपति, धर्म और ब्राह्मण का रक्षक कहा जाता था<sup>2</sup>। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार राजा मनुष्यों को बन्धन्युक्त बनाता है<sup>3</sup>। राजन्व्यों की शक्ति का प्रभाव समाज के शेष तीन वर्णों पर इतना अधिक था कि वे ब्राह्मणों के निष्कासन व निर्वासन में समर्थ थे, विश के अत्ता समझे जाते थे तथा शूद्रों को अनायास ही मृत्युदण्ड दे सकते थे। इससे स्पष्ट होता है कि राजनैतिक प्रभुत्व में वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक प्रभुत्व भी बढ़ता जा रहा था।

इस युग के क्षत्रिय वर्ग को सबसे बड़ा श्रेय उपनिषदों के दार्शनिक विषयों के प्रतिपादन का दिया गया है। कुछ क्षत्रिय नरेशों के दार्शनिक ज्ञान का परिचय

1. आप० ध० 2. 5. 10 ।।

2. क्षत्रि जनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि विशामत्ताजनि --ब्राह्मणो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनि । ऐ० ब्रा० 3. 38--39

3. तस्मात् राजा मनुष्या विधूताः । तै० सं० 2. 6. 2

हमें छान्दोग्य उपनिषद् 5. 3. 5. ॥ बृहदारण्यक उपनिषद् 2. 1. 6. 2 और कौषीतकि उपनिषद् 1. 1. 4. ॥ से होता है। इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों की भाँति राजन्य भी धार्मिक तथा आध्यात्मिक विषयों में पर्याप्त रुचि लेते थे। प्राप्त औपनिषदिक प्रसङ्गों से स्पष्ट होता है कि जनक, प्रावहण, जैबलि, अश्वपति कैकेय और काशिराज अजातशत्रु आदि नरेश उत्तर वैदिक साहित्य में अपना प्रमुख स्थान रखते थे। याज्ञवल्क्य, वालाकि गार्ग्य तथा श्वेतकेतु आत्मेय जैसे विद्वान् ब्राह्मणों को भी इस नवीन विषय के ज्ञान हेतु क्षत्रिय कुमारों के यहाँ जाना पड़ा था। बृहदारण्यक उपनिषद् तथा छान्दोग्य उपनिषद् में यह कहा गया है कि "इस विद्या का ज्ञान अब तक किसी ब्राह्मण को नहीं था"। यहाँ इस विद्या का तात्पर्य सम्पूर्ण ब्रह्मविद्या से न होकर पचाग्नि विद्या से है।

#### महाभारतकालीन क्षत्रिय

"क्षत्रं हव त्रायते इति क्षत्रिय" अर्थात् जिस प्रकार प्रतिकूल मौसम में क्षत्र रक्षा करता है उसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जो सदैव अन्य वर्णों की रक्षा में तत्पर रहे वही क्षत्रिय कहा जाता था। ऋग्वेद में विराट् पुरुष की भुजाओं से क्षत्रिय की उत्पत्ति बतायी गयी है<sup>2</sup> तथा महाभारत में भी ब्रह्मा की भुजाओं से क्षत्रिय की उत्पत्ति बतायी गयी है। महाभारतकार के अनुसार जो क्षत्रियोपित युद्ध आदि का सेवन करता है वेदों के अध्ययन में लगा रहता है और प्रजा से कर लेकर उसकी रक्षा करता है वह क्षत्रिय कहलाता है<sup>3</sup>। महाभारतकालीन क्षत्रिय के लिये धनुर्वेदादि शास्त्र-विद्या के ज्ञान के साथ-साथ वेद आदि शास्त्रों का

1. बृ० उप० 6. 2, छा० उप० 5. ॥

2. ब्राह्म राजन्यकृतः- - - - ॥ अ० 10/90/3

3. क्षत्रजं सेवेते कर्म- - - - वै क्षत्रिय उच्यते ॥ मह० 12-189-5 ॥

अध्ययन भी आवश्यक था<sup>1</sup> क्योंकि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार वर्ण-व्यवस्था थी तथा प्रत्येक वर्णानुसार किया गया श्रम विभाजन भी महत्वपूर्ण तत्त्व था । वर्णानुसृत कर्तव्य-पालन को धर्म पालन की दृष्टि से देखा जाता था । प्रजा अपने कर्तव्य का पालन धर्म पूर्वक कर रही है अथवा नहीं यह देखना राजा का कर्तव्य था । राजा को धर्म-अधर्म की सही पहचान तभी हो सकती है जब उसे तत्कालीन सर्वाधिक प्रचलित धार्मिक ग्रन्थों का समुचित ज्ञान होगा । इसके अतिरिक्त उसे ताम्र, दाम, भेद, दण्ड एवं न्याय व्यवस्था तथा धर्मपूर्वक प्रजापालन आदि राजधर्म सम्बन्धी विषयों का ज्ञान भी वेदाध्ययन के द्वारा ही संभव था ।

यद्यपि राजा के अतिरिक्त सामान्य क्षत्रियवर्ग के लिये वेदाध्ययन उतना आवश्यक नहीं था जितना किसी भी ब्राह्मण के लिये लेकिन फिर भी क्योंकि वेदों में निहित ज्ञान किसी भी व्यक्ति की योग्यता में वृद्धि करता था और एक क्षत्रिय के लिये वह सुलभ भी था अतः वह क्षत्रिय के कर्तव्य में ही निहित था ।

महाभारतकालीन समाज में क्षत्रिय का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण था सम्पूर्ण प्रजा का पालन एवं न्याय व्यवस्था का भार क्षत्रिय राजा के ही कंधों पर था अतः उसका वेद वेदाङ्गों का विद्वान्, बुद्धिमान्, तपस्वी और सदा दानशील एवं यज्ञ परायण होना परम आवश्यक था<sup>2</sup> क्योंकि जहाँ राजा स्वयं धर्म एवं कर्तव्य परायण होमा वहीं की प्रजा भी धर्मपूर्वक कर्तव्यपालन में लगी रहेगी । उसका सबसे बड़ा फायदा राजा को यह होगा कि उसे समाज में न्याय व्यवस्था बनाये रखने में कोई कठिनाई नहीं होगी । शांतिपर्व में केकयराज व राक्षस उपाख्यान में महाभारतकालीन क्षत्रियों का जो चित्र उपस्थित होता है उससे ज्ञात होता है कि उस समय क्षत्रिय अपने वर्णोचित कर्मों में लगे रहते थे । वे वेदों का अध्ययन तो करते परन्तु अध्यापन नहीं करते थे । यज्ञ करते थे परन्तु कराते नहीं थे ।

1. धनुर्वेदे वेदे च यत्नः कार्यो नराधिप ॥ मेर 13-104-145 ॥

2. वेद वेदाङ्ग वित् प्राज्ञः- - - - - शांति 69-31

क्षत्रिय याचना नहीं करते स्वयं ही याचकों को मुहमौंगी वस्तुएँ देते थे । वे तत्पभाषी व धर्म सम्पादन में कुशल होते थे । वे ब्राह्मणों की रक्षा करते और युद्ध में कभी पीठ नहीं दिखाते थे<sup>1</sup> । प्रजा से कर लेकर उनकी रक्षा करना भी क्षत्रिय राजा का ही कर्तव्य था<sup>2</sup> ।

वेदों का अध्ययन और अध्यापन का कार्य परम पवित्र था और उस कार्य को करने वाले ब्राह्मण पूज्य थे इन पवित्र धार्मिक कृत्यों में बाधा पहुँचाने वाले दुष्ट प्रकृति के मनुष्यों का वध करना व धर्म की हानि न होने देना क्षत्रियों का परम धर्म था तथा महाभारतकार के अनुसार इसी कार्य के लिये ब्रह्मा जी ने क्षत्रिय जाति की सृष्टि<sup>3</sup> की वाह्य एवं आन्तरिक उपद्रवकारी शक्तियाँ जहाँ अपना काम करती रहें वहाँ अशान्त वातावरण के कारण प्रजापालन मुख्यवस्थित रूप से होना असंभव है । अतः तथाकथित उपद्रवकारी शक्तियों का दमन करके राज्य एवं क्षा में शान्त एवं व्यवस्थित वातावरण बनाकर रचनात्मक कार्यों को बढ़ावा देने में बाहुबल प्रधान क्षत्रिय ही समर्थ हो सकता है इसीलिये महाभारतकार के अनुसार राजधर्म बाहुबल के अधीन होता है वह क्षत्रिय के लिये श्रेष्ठ धर्म है । उसका सेवन करने वाले क्षत्रिय मानवमात्र की रक्षा करते हैं । अतः तीनों वर्णों के धर्मों सहित जो अन्याय्य समस्त धर्म हैं वे राजधर्म से ही सुरक्षित रह सकते हैं । वह मैंने वेदशास्त्र से ही सुना है<sup>4</sup> । पितामह भीष्म युधिष्ठिर को राजधर्म की शिक्षा विषयक वेदोक्त नियमों को समझाते हुए कहते हैं कि चारों आश्रमों के धर्म तथा लौकिक और वैदिक उत्कृष्ट धर्म सभी क्षात्र धर्म में प्रतिष्ठित हैं । जब राजा प्रमाद करता है तो चारों वर्ण चारों वेद और चारों आश्रम सभी मोह में पड़ जाते हैं<sup>5</sup> । गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि, ऋक्, साम और यजुः ये तीन

1. न याचन्ते प्रयच्छन्ति- - - - - वही 77.13-14

2. दानादानरतिर्यस्तु त वै क्षत्रिय उच्यते ॥ 189.5 ॥

3. तस्यां प्रवर्तमानायां - - - - - ब्रह्माक्षत्रमथासृजत् ॥ वही 89.8 ॥

4. वाहायतं क्षत्रियैर्मानवानां- - - - - वेदाद्यृणामि ॥ शान्ति 63.24 ॥

5. यातुराश्रम्यधर्माश्च- - - - - यदा राजा प्रभाषति ॥ 64.1, 91.7 ॥

वेद और दक्षिणाओं के साथ सम्पूर्ण यज्ञ विकृत हो जाते हैं<sup>1</sup> । यदि दण्डनीति नष्ट हो जाय तो तीनों वेद रसातल को चले जावें और वेदों के नष्ट होने से समाज में प्रचलित सारे धर्मों का नाश हो जाय । पुरातन राजधर्म जिसे क्षात्रधर्म भी कहते हैं यदि लुप्त हो जाय तो आश्रमों के सम्पूर्ण धर्मों का ही लोप हो जायगा<sup>2</sup> । यदि राजा पालन न करे तो व्यभिचार से किसी को घुणा न हो । खेती नष्ट हो जाय । व्यापार में निरन्तर हानि होती रहे धर्म डूब जाय और तीनों वेदों का कहीं पता न चले<sup>3</sup> ।

### वैदिक एवं महाभारतकालीन ब्राह्मण-क्षत्रिय प्रतिस्पर्धा का समीक्षात्मक अध्ययन

महाभारत के अनेक आख्यानो द्वारा वैदिक युग से चली आयी ब्राह्मण और क्षत्रियों के बीच संघर्ष की भावना की अभिव्यक्ति होती है । उस काल में सभी वर्णों के ब्रह्मचारी छात्रों को ब्राह्मण गुह्यों के अनुशासन व आधिपत्य में शिक्षा ग्रहण करनी होती थी जिसके द्वारा उन्हें अपने वर्ण और धर्म के अनुसार कुशल, प्रवीणा, शिष्ट और स्वर्गकाम बनाने का प्रयत्न किया जाता था । ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को स्वाभाविक रूप से अनेक क्षत्रिय राजनीतिक सत्ता के मद में घूर होने के कारण सहन नहीं कर पाते थे । ब्राह्मण ग्रन्थों एवं महाभारत के अध्ययन से प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों की उदीयमान श्रेष्ठता से धीरे-धीरे राजन्य वर्ग के अन्दर क्षोभ का भाव उत्पन्न होने लगा था । वे राष्ट्र के प्रभु थे, विश्व पर उनका पर्याप्त प्रभाव था । अतः वे ब्राह्मणों के समक्ष अपनी सामाजिक हीनता को स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत नहीं थे । उन्होंने न केवल ब्राह्मणों की सामाजिक श्रेष्ठता का विरोध किया बल्कि उनके स्थान पर अपनी श्रेष्ठता का प्रतिपादन भी किया । ब्राह्मण और क्षत्रिय समाज के दो अत्यन्त शक्तिशाली

1. अग्नित्रेता त्रयी विद्या - - - - - यदा राजा प्रमादति ।। शां० 90. 8 ।।

2. मज्जेत त्रयी दण्डनीति - - - - - राजधर्मे पुराणे ।। वही 63. 28 ।।

3. न यो निदोषो वर्तेत - - - - - यदि राजा न पालयेत ।। वही 6. 8. 21 ।।

वर्ग थे जिनके सम्पर्क और संघर्ष ने युग के सामाजिक इतिहास को गति प्रदान की। शतपथ ब्राह्मण में जहाँ ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन हुआ है वहीं स्थान-स्थान पर क्षत्रियों की यह विरोधात्मक प्रवृत्ति भी परिलक्षित हुई है। एक प्रसङ्ग में स्पष्ट कहा गया है कि क्षत्रियों से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, यही कारण है कि राजसूय के अवसर पर ब्राह्मण भी उसके समक्ष निम्नासन ग्रहण करता है<sup>1</sup>। इसी प्रकार अन्यत्र यह कहा गया है कि क्षत्रिय के पश्चात् ब्राह्मण मान्य हैं<sup>2</sup>। वस्तुतः आर्थिक सम्पन्नता और राजनैतिक प्रभुत्व के कारण राजन्यवर्ग की स्थिति भी बहुत सामान्य हो चली थी। तैत्तिरीय संहिता से ज्ञात होता है कि अन्य तीन वर्गों पर अपना प्रभाव स्थापित करने में वह समर्थ हो चला था<sup>3</sup>। फिर भी ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के राजनैतिक प्रभाव से सुविधा का मुखर प्रयास किया। पुरोहित राजा के समक्ष राज्याभिषेक के अवसर पर इस बात की घोषणा करता था कि वह अभिषिक्त व्यक्ति सब लोगों का राजा है किन्तु ब्राह्मणों का राजा सोम है<sup>4</sup>। इस प्रकार अपनी सामाजिक महत्ता को अधुण्डा रखने के लिये सदैव उन्होंने अपने को राजाओं के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर रखने का प्रयास किया। क्षत्रियों को पौरोहित्य जैसे धार्मिक कार्यों से पृथक् तो किया ही गया साथ ही यत्र तत्र उनको पुरोहितों को नियुक्त करने व निकालने की स्वतंत्रता भी जाती रही। जनमेजय परिक्षित ने कश्यपों को अपने पौरोहित्य से पृथक् कर दिया था किन्तु अतितमूग ने उन्हें पुनः पौरोहित्य में लगाने के लिये विवश किया<sup>5</sup>। विश्वन्तर सौशदमन ने अपने पुरोहित को यज्ञ से बहिष्कृत करने के बाद पुनः नियुक्त किया था<sup>6</sup>।

---

1. शत० ब्रा० 14. 4. 1. 23

2. मैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, 6 बुक, पेज 96

3. तै०सं० 2. 5. 10. 1

4. शत० ब्रा० 11. 5. 7. 1

5. शत० ब्रा० 7. 27--34

6. अथर्व० 5. 19. 3, 8

महाभारत में कार्तवीर्य और विश्वामित्र की कहानी है जिन्होंने क्रमशः जमदग्नि और वसिष्ठ की गायों का अपहरण किया। अथर्ववेद में ब्राह्मणों तथा उनकी गायों को हानि पहुँचाने वाले राजान्यों को शाप दिया गया है कि उनका राज्य वैसे ही नष्ट हो जाये जैसे कि टूटी नौका जल में नष्ट हो जाती है<sup>1</sup>। इससे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणों के साथ दुर्व्यवहार करने वाले तथा उनकी गायों का अपहरण करने वाले राजान्य भी वैदिक युग में अज्ञात नहीं थे। अथर्ववेद के एक मन्त्र में ब्रह्मजाया के अपहरण की दुष्परम्परा का भी संकेत मिलता है। ऐसे राजान्य को ब्राह्मणों ने निर्धन और दरिद्र होने का शाप दिया है<sup>2</sup>।

उपनिषदों के काल तक यह संघर्ष और तीव्र हो गया। ब्राह्मणों को मान्यता के दो प्रमुख कारण थे। प्रथम उनका ज्ञान और दूसरा धार्मिक कार्यों में उनकी अनिवार्यता। अतः इन दोनों क्षेत्रों में क्षत्रियों ने अपने को ब्राह्मणों के समकक्ष लाने की कोशिश की। उपनिषत्कालीन राजान्य वर्ग ब्राह्मणों को कीर्ति अध्ययन अध्यापन, मनन-चिन्तन में संलग्न दिखाई देता है। जब समग्र याज्ञिक और कर्मकाण्डीय धर्म पुरोहितों के हाथ में केन्द्रीभूत हो गया तब इस दिशा में प्रवेश निषिद्ध देख क्षत्रियों ने धर्म के क्षेत्र में एक नये पथ का अनुसरण किया जिसके माध्यम से वे ब्राह्मणों के समान ही यश और प्रतिष्ठा पाने में समर्थ हुए। ब्रह्म और आत्मा के स्वस्व विश्लेषण से युक्त इसे ब्रह्मविद्या का उपनिषद् नाम अभिहित किया गया। इस नयी विद्या में राजान्यवर्ग यदि ब्राह्मणों से श्रेष्ठ नहीं तो समान अवश्य था। वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार जनक वेदों और उपनिषदों के ज्ञाता थे<sup>3</sup>। पञ्चाग्नि विद्या के प्रणेता स्वयं प्रवाहणा जैबलि थे<sup>4</sup>। अनेक सुविख्यात

1. अथर्व० 5.19.3, 8

2. नास्त्यक्षत्ता निष्कृणीव तूनानामेति अग्रतः।

यस्मिन् राष्ट्रे निस्थयते ब्रह्मजाया ि द्या ॥ अथर्व 5.17.14

3. तृ० उप० 4.2.1

4. छा० उप० 5.3.7

ब्राह्मणा विद्वान् भी इन क्षत्रिय विद्वानों के समीप जाते थे तथा ब्रह्मविद्या का ज्ञान प्राप्त करते थे । छान्दोग्य उपनिषद् में यह भी बताया गया है कि एक बार पाँच ब्राह्मणा उद्दालक आशुणि के पास एक समस्या के समाधान के लिये आये । स्वयं अनभिज्ञ होने के कारण वे उन्हें अवपति कैकेय के पास ले गये जिन्होंने समस्या का समुचित समाधान किया<sup>1</sup> । इस प्रकार क्षत्रियों ने अध्ययन अध्यापन में कीर्ति अर्जित की तथा ज्ञान के क्षेत्र में ब्राह्मणों के एकाधिकार को खंडित किया ।

जहाँ तक यज्ञ कर्मकाण्डों में ब्राह्मणों की अनिवार्यता का प्रश्न था इसका समाधान क्षत्रियों ने दूसरी रीति से किया । उन्होंने याज्ञिक धर्म के मूल पर प्रहार किया तथा उपनिषदों में हिंसात्मक यज्ञों के विरुद्ध नियम प्रतिपादित किये । आत्मयजन, चिन्तन और मनन की अपेक्षा यज्ञों की हीनता प्रदर्शित की गयी<sup>2</sup> । उत्तर वैदिक साहित्य में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के इस पारस्परिक संघर्ष के निवारण हेतु सहयोग की भावना को उत्पन्न करने का प्रयास भी दिखाई देता है । तैत्तिरीय संहिता में दोनों की महानता का यशोगान किया गया है<sup>3</sup> । इस ग्रन्थ के अनुसार राजन्य युक्त ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणों से श्रेष्ठ है तथा ब्राह्मण युक्त क्षत्रिय अन्य क्षत्रियों से श्रेष्ठ है<sup>4</sup> । ऐतरेय ब्राह्मण पुरोहित को क्षत्रिय की आधी आत्मा बताता है<sup>5</sup> । शतपथ ब्राह्मण में कई स्थानों पर इस बात का संकेत है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय का सहयोग कीर्ति और सफलता प्रदान करने वाला होता है । इसी ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि किसी विशेष कृत्य का सम्पादन

1. छा० उप० 5. 11

2. वही, 5. 15. 5, कौवी० उप० 2. 5

3. तै० सं० 5. 1. 10. 3

4. तस्मात् ब्राह्मणो राजन्यवानत्यन्यं ब्राह्मण तस्माद्राजन्यो ब्राह्मणवानत्यन्यं राजन्यम् ॥ तै० सं० 5. 1. 10. 3 ॥

5. अर्धात्मो हवा एष क्षत्रियस्य यत्पुरोहितः ॥ ऐत० ब्रा० 34. 4 ॥



करने वाले राजन्य को ब्राह्मण की सहायता लेनी चाहिये क्योंकि ब्राह्मण के सहयोग से किया गया क्षत्रिय का कार्य सफल होता है<sup>1</sup>।

महाभारत में ब्राह्मण एवं क्षत्रियों में संघर्ष की अपेक्षा सहयोग की उत्तर वैदिक भावना के ही दर्शन होते हैं। वस्तुतः महाभारतकाल में ब्राह्मण हो अथवा क्षत्रिय सभी स्व कर्तव्य परायण रहते थे। कोई भी अपने शास्त्र विहित कर्म को हीन अथवा त्पाज्य समझकर दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप करने का प्रयास नहीं करता था। क्षत्रियों ने जहाँ ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को स्वीकार किए लिया था वहीं ब्राह्मण भी क्षत्रियों का पूर्ण सम्मान करते हुए सामन्तजन्यपूर्ण व्यवहार करते थे। यही कारण है कि महाभारतकाल ब्राह्मणों की श्रेष्ठता व क्षत्रियों की उत्कृष्टता का वर्णन साथ-साथ करते हैं।

वेदाध्यायी विद्वान् ब्राह्मणों की सुरक्षा एवं उनके भरणपोषण की व्यवस्था करना क्षत्रिय का कर्तव्य है इस वैदिक मत का राजन्यों द्वारा पालन किया जाना धर्म समझा जाता था तभी तो अपने वनवास काल के दौरान पाण्डव द्वैत वन में निवास करने लगे तो वह विशालवन ब्राह्मणों से भर गया क्योंकि ब्राह्मणों को विश्वास था कि पाण्डवों से सुरक्षित होकर वह अपनी यज्ञ, अग्निहोत्र, तपस्या, साधना निश्चित होकर कर सकेंगे और वन की व्याधियाँ जैसे राक्षस, व्याघ्र आदि उन्हें सता नहीं पायेंगी। इस स्थिति का वर्णन अत्यन्त सुन्दर शब्दों में करते हुए महर्षि व्यास कहते हैं कि "कुन्तीपुत्रों के धनुष की प्रत्य चा का टंकार और बुद्धिमान ब्राह्मणों के वेदमन्त्रों का घोष दोनों मिलकर ऐसे प्रतीत होते थे मानो ब्राह्मणात्त्व और क्षत्रियत्त्व का सुन्दर संयोग हो रहा था<sup>2</sup>।"

1. तस्माद्बु क्षत्रियेण करिण्यमाणो नोप तर्तण्य एव ब्राह्मणाः । स हैवास्म तद्

ब्रह्मप्रसूत कर्मध्यते । श्लो ब्राह्म 4.1.4.6 ।।

2. ज्याघोषश्चैव पार्थानां ब्रह्मधोषश्च धीमताम् ।

तं शृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं भूय एव व्यरोचत् ।। महर्षि 3.26.4 ।।

महाभारतकार जहाँ यह कहते हैं कि क्षत्रिय का तेज ब्राह्मण के पास जाते ही समाप्त हो जाता है<sup>1</sup> वहीं यह भी कहा गया है कि "जब क्षत्रिय ब्राह्मण को त्याग देते हैं तब उनका वेदाध्ययन आगे नहीं बढ़ता । उनके पुत्रों की भी वृद्धि नहीं होती । उनके यहाँ दही दूध का मटका नहीं मड़ा जाता और न वे यज्ञ ही कर पाते हैं । इतना ही नहीं उन ब्राह्मणों के पुत्रों का वेदाध्ययन भी नहीं हो पाता<sup>2</sup> । "

### वेद एवं महाभारतकालीन वैश्य वर्ण

वैश्य शब्द का प्रयोग मात्र एक बार ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में हुआ है । विश का उल्लेख अवश्य स्थान-स्थान पर हुआ है जिसका तात्पर्य सर्वसाधारण से था । उत्तर वैदिक युग तक वर्ण विभाजन के परिणाम स्वस्म एक तीसरा साधारण जनों का वर्ग सामने आया जिसे वैश्य नाम से अभिहित किया गया । ब्राह्मणों व क्षत्रियों ने जब विश से अपने को पृथक् करके अपना अलग संगठन प्रारम्भ किया तब स्वभावतः विश के शेष लोग भी एक इकाई में बँध चले । तैत्तिरीय ब्राह्मण वैश्यों को अन्य वर्णों की अपेक्षा बहुसंख्यक बताता है<sup>3</sup> । उत्तर वैदिक युग में वैश्यवर्ण की स्थिति सामाजिक परिस्थितियों के दबाव के कारण क्रमशः हीन होती जा रही थी क्योंकि वैश्यों में अनार्य जनों का प्रवेश ब्राह्मणों और क्षत्रियों के सम्मान्य वर्णों की अपेक्षा कहीं अधिक हुआ होगा । वह वर्ग अपनी बहुसंख्यता व विविधता के कारण, जीवन के विभिन्न दैनिक कार्यों में शूद्रों से सम्पर्क के कारण तथा व्यावसायिक जीवन में अपेक्षाकृत समानता के कारण अनार्यजनों का सामाजिक बहिष्कार नहीं कर सका । सम्पन्न तथा महत्त्वपूर्ण व्यवसायों को धारण करने वाले अनार्य भी वैश्य वर्ण के अन्तर्गत समाहित हुए अहोंगे । वेद युगीन "पणि" शब्द का

1. क्षात्रेणापि हि संसृष्टं तेजः शाम्यति वै द्विजे ।। अनु० 59-24। ।।

2. नैषां ब्रह्म च वर्धते नोत पुत्रा- - - -यदा ब्रह्म क्षत्रियाः सत्यजन्ति ।। शा०प०73

3. तस्माद् भूयां सो न्येभ्यः ।। तै० ब्रा० 3.।2. 9

विकसित रूप ही वणिक् शब्द है जो वैश्य वर्ग के अन्तर्गत अनार्य व्यापारियों के प्रवेश को संकेतित करता है ।

तैत्तिरीय संहिता के अनुसार मनुष्यों में वैश्य और पशुओं में गाय समान हैं अतः ये दूसरों के लिये खाद्य हैं । इनकी रचना भी खाद्य सामग्रियों से हुयी है<sup>1</sup> । ऐतरेय ब्राह्मण में इन्हें "अन्यस्य बलिकृत" कहा गया है<sup>2</sup> । वाराह श्रौतसूत्र वैश्यों को भी शूद्रों की भाँति अश्वमेध यज्ञ में प्रवेश से वंचित करता है<sup>3</sup>।

वैदिक युग में वैश्यों की सामाजिक स्थिति विशेष महत्वपूर्ण न होते हुए भी उनकी आर्थिक दशा काफी अच्छी थी । पशुपालन व कृषि उनका व्यवसाय थी । तैत्तिरीय संहिता के अनुसार वैश्य पशु की प्राप्ति के लिये यज्ञ करता है<sup>4</sup> ताण्ड्य ब्राह्मण में कहा गया है कि वैश्य दूसरों द्वारा मुक्त होते हुए भी क्षीण नहीं होता क्योंकि उसकी उत्पत्ति प्रजापति की प्रजननेन्द्रिय से हुयी है । इसी लिये उसके पास बहुसंख्यक पशु हैं । सभी देवता उसके संरक्षक हैं । वर्षा उसके लिये अनुकूल ऋतु है<sup>5</sup>।

वैश्यों को यज्ञ करने तथा वेदाध्ययन का अधिकार था । ब्राह्मणों और क्षत्रियों की ही भाँति वैश्यों का भी उपनयन होता था । ऐतरेय ब्राह्मण वैश्यों की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहता है कि देवकर्म अथवा याज्ञिक क्रियाओं में वैश्य समुदाय का योग आवश्यक है<sup>6</sup> । तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और रथकार यज्ञाग्नि की स्थापना कर सकते थे<sup>7</sup> । इस

1. तै० सं० 2. 5. 10. 2

2. वैश्य कल्पस्ते प्रयाजामाजनिष्यते न्यस्यबलिकृदन्यस्या यो वथाकामज्येयो, ऐ० ब्रा० 7.2

3. वाराह श्रौतसूत्र 3. 1. 1. 1

4. पशुकामः खलु वैश्यो यजते ।। तै० सं० 2. 5. 10. 2 ।।

5. ताण्ड्य ब्रा० 6. 2. 10

6. ऐ० ब्रा० 1. 9

7. तै० ब्रा० 1. 1. 4. 8

प्रकार धार्मिक जीवन की प्रायः सभी सुविधायें वेदकालीन वैश्य को उपलब्ध थीं ।

महाभारतकालीन समाज में वैश्यों की संख्या अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक थी । यह बात मन्त्रिपरिषद् में वैश्य वर्ण के ही सबसे अधिक प्रतिनिधि लिये जाने के नियम से ही सिद्ध होती है । महाभारत में चारों वर्णों के लिये सामान्य आजीविका के जो साधन अर्थात् कृषि, पशुपालन और वाणिज्य बताये गये हैं<sup>1</sup> वे भी मूलतः वैश्यों के ही वर्ण-धर्म हैं<sup>2</sup>। वैश्यों के लिये भी वेदाध्ययन, यज्ञ एवं दान आवश्यक कर्तव्य थे । वेदाध्ययन से सम्पन्न होकर वैश्य द्वारा किये गये व्यापार, पशुपालन, खेती तथा अन्न-संग्रह आदि कार्य धर्मपूर्वक किये जायेंगे तथा दान करने की प्रवृत्ति यदि वैश्य में प्रबलता से होगी तो पर्याप्त धनी होते हुए भी वह कभी लोभ के वशीभूत नहीं होगा । इसी लिये वैश्य को वेदाध्ययन से सम्पन्न होकर तीनों वर्णों तथा आश्रित जनों को धन देकर सहायता करने तथा यज्ञों द्वारा तीनों अग्नियों की उपासना करने पर स्वर्ग में दिव्य सुखों की प्राप्ति होती है<sup>3</sup>। इसके अतिरिक्त सन्मार्ग का आश्रय लेकर सदाचार का पालन, अतिथि सत्कार, शम, दम, ब्राह्मणों का स्वागत, और त्याग ये सब वैश्यों के सनातन धर्म बताये गये हैं<sup>4</sup>। वाणिज्य वृत्ति अपनाने वाले वैश्यों के लिये कुछ पदार्थों का क्रय-विक्रय निषिद्ध था जिनमें तिल, चन्दन और रस मुख्य थे<sup>5</sup> ।

महाभारतकाल में अपने-अपने वर्ण के लिए विहित कर्मों का पालन करना तथा उपयुक्त गुणों से सुशोभित होना ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के लिये जितने गौरव की बात समझी जाती थी उतना ही वैश्यों के लिये भी स्वगुणकर्मनुकूल आचरण प्रतिष्ठा का विषय था । शान्तिपर्व में केकयराज कहते हैं कि मेरे राज्य में वैश्य अपने ही कर्मों में लगे रहते हैं । वे छलकपट छोड़ कर खेती, गौ रक्षा और

1. कृषि गोरक्ष वाणिज्यमिह लोकस्य जीवनम् ।। महेTO 3. 24. 5

2. कृषि गोरक्ष वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।। भीष्मपर्व 42-44

3. वैश्यो धीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियां च- - - स्वर्गे दिव्य सुखानिमुंक्ते ।। महेTO 5. 40. 27

4. वैश्यस्य सततंधर्मः पशुपालनं- - - वैश्यधर्मः सनातनः ।। महेTO 13. 14. 54-55

5. तिलान् गन्धान् रसां चैव- - - वैश्यः सत्पथमाश्रितः ।। महेTO 13. 14. 56

व्यापार से जोषिका चलाते हैं, प्रमाद में न पड़ कर सदा सत्कर्मों में संलग्न रहते हैं, उत्तम व्रतों का पालन करने वाले और सत्यवादी हैं। वे अतिथियों को भोजन देकर उसके बाद खाते हैं, इन्द्रियों को संयम में रखते हैं, शौचाधार का पालन करते हैं और सबके प्रति सौहार्द बनाये रखते हैं<sup>1</sup>।

पशुधन के प्रति प्रेम वैश्य वृत्ति की विशेषता है। कहा गया है कि विधाता ने पशुओं की सृष्टि करके उन्हें वैश्य को ही सौंपा है। राजा का कर्तव्य है कि जब वैश्य रक्षा न कर पाये तभी अन्य वर्णों को पशुपालन करने की अनुमति दी जाये<sup>2</sup>। वैश्य का भी धर्म है कि वह दान, अध्ययन और यज्ञ के साथ-साथ पवित्रतापूर्वक धन का संघय करे जिस प्रकार पिता अपने पुत्रों का करता है<sup>3</sup>।

### वेद एवं महाभारतकालीन शूद्र वर्ण

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में शूद्र शब्द का उल्लेख प्रथम बार हुआ है। ब्रह्मण्य युग में शूद्रों को आर्य भाषा संस्कृत का ज्ञान अत्यन्त अल्प था। शूद्रों को वेदाध्ययन से वंचित करने का प्रमुख कारण उनका संस्कृत भाषा से अपरिचित होना था। शूद्र वर्ण अन्य वर्णों की अपेक्षा अत्यन्त हीन अवस्था में था। राजसूय यज्ञ के प्रसङ्ग में चारों वर्णों की स्थिति का संकेत करते हुए शूद्रों को अन्यत्र प्रेष्य कामोत्थास्य और यथाकामवध्य कहा गया है<sup>4</sup>। शूद्रों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध अनुचित समझा जाता था। यद्यपि वैश्यों और शूद्रों के बीच विवाह सम्बन्ध मान्य थे तथापि वाजसनेयी संहिता में कहा गया है कि शूद्रा का आर्य पति समृद्धि की प्राप्ति नहीं कर पाता<sup>5</sup>। यह बात भी प्रामाणिक है कि सामाजिक विरोध के

1. शान्ति 77.15--16

2. शान्ति 60.23, 27

3. शान्ति 60.22

4. ऐ० ब्रा० 7.29

5. वाज० सं० 23.30 मै० सं० 3.13.1

होते हुए भी ब्राह्मण एवं क्षत्रिय भी स्वतंत्रतापूर्वक शूद्रा स्त्रियों से विवाह करते थे । लगभग एक दर्जन ऐसे श्रद्धियों के नाम भविष्य पुराण में संगृहीत हैं जिनकी मातारें शूद्रवर्णा थी<sup>1</sup> । महाभारत के अनुसार महर्षि व्यास धीवर कन्या से, पराशर श्वपाक नारी से, कपि जाबाद चंडाल स्त्री से, वसिष्ठ गणिका से तथा मुनि मदनपाल नाविक की कन्या से उत्पन्न हुए थे<sup>2</sup> राजा की चौथी और न्यूनतम समादृत पत्नी पालागली शूद्रा होती थी<sup>3</sup> । किन्तु आर्यों की शूद्रा पत्नियों को धर्मपत्नी होने का गौरव प्राप्त नहीं था ।

समाज का अविच्छिन्न अंग होते हुए भी शूद्र अन्य तीन वर्गों से पृथक् था । उसे न तो उपनयन का अधिकार प्राप्त था न वेदाध्ययन का । सूत्र साहित्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के उपनयन के लिये श्रुतियों का निर्धारण है किन्तु शूद्र के लिये नहीं<sup>4</sup> । अन्यत्र कहा गया है कि उपनीत व्यक्ति को शूद्र से बात नहीं करनी चाहिये<sup>5</sup> ।

जन्मगत हीनता के कारण शूद्र को यज्ञ से बहिष्कृत किया गया । शतपथ ब्राह्मण यज्ञ की अग्नि को शूद्र के लिये अस्पृश्य बताता है<sup>6</sup> । यद्यपि शूद्र अश्वमेध यज्ञ में प्रहरी का कार्य करता था तथापि वह यज्ञशाला में प्रवेश नहीं कर सकता था । शतपथ ब्राह्मण उसे निश्चित रूप से अयज्ञीय बताता है । इसी ब्राह्मण में अन्यत्र दीक्षित व्यक्ति के लिये शूद्र से बोलने तक का निषेध किया गया है<sup>7</sup> । वयविंशु ब्राह्मण में कहा गया है कि शूद्रों के न तो देवता हैं न उन्हें यज्ञ

1. भविष्य पुराण 1. 42. 22. 26

2. महो 5. 13. 19

3. शां ओ 16. 4. 4

4. शां ओ 26. 1. 20

5. वही, 7. 3. 14

6. शतो ब्रा 6. 4. 4. 9

7. वही, 3. 1. 1. 10

करने का अधिकार है<sup>1</sup> । अग्निहोत्र के लिये आवश्यक दुग्ध के दोहन का अधिकार भी शूद्र को नहीं है<sup>2</sup> । मैत्रायणी संहिता में तो यहाँ तक कहा गया है कि दुहने की धाली भी किसी आर्य द्वारा ही निर्मित होनी चाहिये<sup>3</sup> ।

शूद्र धार्मिक जीवन में बहिष्कृत होते हुए भी कतिपय याज्ञिक कृत्यों में भाग ले सकते थे । उदाहरण के लिये अन्य वर्णों के साथ वह यज्ञ की हवि तैयार करने में भाग लेता था । शतपथ ब्राह्मण में एक शूद्र के पितृमेघ यज्ञ करने का उल्लेख है<sup>4</sup> । किन्तु इन अपवाद स्वस्थ प्रमाणों के आधार पर शूद्रों का याज्ञिक धर्म में प्रवेश स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

शूद्र लोग आर्यों के सम्पर्क के पश्चात् भी अपने परम्परागत धार्मिक विश्वासों को सहज ही छोड़ने को तैयार नहीं थे । मूर्तिपूजक होने के कारण यज्ञ प्रधान वैदिक धर्म के प्रति उनकी अनासक्ति सर्वथा स्वाभाविक थी । साथ ही वैदिक मन्त्रों के उच्चारण की शुद्धता का भी धार्मिक महत्त्व था । शूद्रों के लिये संस्कृत भाषा से अल्प परिचय होने के कारण उच्चारण की शुद्धता, मन्त्रों का उचित पाठ तथा अनुष्ठानों का सही ढंग से उच्चारण अत्यन्त दुष्कर कार्य था । अतः इन व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण भी शूद्र याज्ञिक धर्म के प्रति हतोत्साहित हुए तथा हतोत्साहित किये गये ।

शूद्रों की आर्थिक स्थिति हीन थी । जैमिनीय ब्राह्मण में कहा गया है कि अश्वमेध यज्ञ के द्वारा वैश्य धनवान् होता है और शूद्र कुशल कर्मकर्ता<sup>5</sup> । बृहदारण्यक उपनिषद् में शूद्र को वैश्यों की ही भाँति पूजन कहा गया है<sup>6</sup> । सूत्र

1. पंच ब्रा० 8. 1. 11

2. तै० ब्रा० 3. 2. 3. 9-10

3. मैत्रा० सं० 1. 8. 3

4. शत० ब्रा० 13. 8. 3. 11

5. जै० ब्रा० 2. 266

6. बृ० उप० 1. 4. 3

साहित्य में इनके लिये व्यापार एवं वाणिज्य को भी व्यवस्था है<sup>1</sup> । पंचविश ब्राह्मण में शूद्र के बहुपशु होने का संकेत भी मिलता है<sup>2</sup> । मैत्रायणी संहिता में धनवान् शूद्रों का भी उल्लेख हुआ है<sup>3</sup> ।

वेदकालीन राजनैतिक जीवन में भी शूद्रों का स्थान अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण था । राजा द्वारा समाहूत बारह रत्निनों में शूद्रों का भी स्थान था । शतपथ ब्राह्मण गोविकर्तन और पालागल नामक रत्निनों का उल्लेख करता है<sup>4</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों रत्निन शूद्र वर्ग के थे । पालागल के शूद्रत्व की सम्भावना इस बात से होती है कि पालागली को शूद्रा कहा गया है<sup>5</sup> । गोपिकर्तन लिखे शतपथ ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों द्वारा भी रत्निनों की सूची में स्थान दिया गया है<sup>6</sup> । सायण द्वारा होन जाति वाला कहा गया है<sup>7</sup> । सायण ने इसी प्रकार सेनानी नामक रत्निन को भी शूद्र जाति वाला कहा गया है<sup>8</sup> । इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि राजनैतिक जीवन में शूद्रों का भी प्रतिनिधित्व था । राजसूय यज्ञ के एक कृत्य के अनुसार राजा ब्राह्मण को स्वर्ण, क्षत्रिय को धनुष और तीन बाणा, वैश्य को लाठी और शूद्र को बीज से भरा पात्र देता है तथा बदले में उनके गुणों को प्राप्त करने की कामना करता है । इस

1. वैदिक इण्डेक्स भाग 2 पृ० 389

2. पंच० ब्रा० 6.1.11

3. मैत्रा० सं० 4.2.7.10

4. शत० ब्रा० 5.3.1.10-11

5. शत० ब्रा० 13.5.2.8

6. मै० सं० 2.6.5

7. श० ब्रा० 5.3.2.2-4

8. शत० ब्रा० 5.3.2.2 सायण की टीका



प्रकार वह शूद्र से दीर्घजीवन प्राप्त करता है<sup>1</sup> । युधिष्ठिर के राजसूय के अवसर पर शूद्र भी निमन्त्रित हुए थे<sup>2</sup> । यजुर्वेद संहिताओं से ज्ञात होता है कि राजा राजसूय के अवसर पर सूर्य की उपासना करता हुआ आर्य और शूद्र के प्रति किये गये पाप का प्रायश्चित्त करता था<sup>3</sup> ।

अश्वमेध यज्ञ में सशस्त्र सैनिक के रूप में अश्व की रक्षा करते हुए भी शूद्रों का उल्लेख है<sup>4</sup> । तैत्तिरीय संहिता में भी शूद्र सैनिकों का उल्लेख है<sup>5</sup> । महाभारत में चारों वर्णों द्वारा शस्त्रधारणा की बात कही गयी है<sup>6</sup> । इस प्रकार राजसत्ता की रक्षा में शूद्रों का सशस्त्र योग भी इस युग में अज्ञात नहीं था । विशेष पवित्र एवं महत्त्वपूर्ण अनुष्ठानों में शूद्रों की उपस्थिति वर्जित थी । राजसूय यज्ञ में शूद्र अभिषेचन में भाग लेने का अधिकारी नहीं था<sup>7</sup> । वाजपेय यज्ञ में भी शूद्र को प्रवेश का अधिकार नहीं था<sup>8</sup> ।

इन सभी बातों के होते हुए भी शूद्र को समाज का अविच्छिन्न और अनिवार्य अंग समझा जाता था । समाज के सुख दुःख में उसका भी भाग था । अथर्ववेद में एक ऋषि कहता है कि मुझे देवताओं का प्रिय बनाओ, राजान्यों का प्रिय बनाओ शूद्रों व आर्यों का प्रिय बनाओ<sup>9</sup> । यजुर्वेद में अग्नि से चारों वर्णों को

1. काठको सं० 38. 1

2. विश्वच भावयान् शूद्राश्च सर्वानानयनेति च ॥ महो 2. 30. 14 ॥

3. तै० सं० 1. 8. 3. 1

4. शतम् शूद्रावरु धिनः ॥ आप० श्रौ० सू० 20. 5. 13

5. तै० सं० 6. 4. 8

6. उद्योगपर्व 94. 7

7. शत० ब्रा० 3. 5. 11. 14

8. शां० श्रौ० सू० 16. 17. 4

9. अथर्व० 19. 62. 1

“सूच्यम्” प्रदान करने की प्रार्थना की गयी है<sup>1</sup> । उपनिषदों के युग तक शूद्रों के प्रति हीन सामाजिक दृष्टिकोण का विरोध हुआ । बृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि आत्मा के क्षेत्र में कोई भेद अथवा दुराव नहीं रहता । यहाँ चण्डाल व पौलकश भी हीन नहीं माने जाते<sup>2</sup> । इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद चण्डाल को भी अग्निहोत्र के अवशेष का अधिकारी बतलाते है<sup>3</sup> ।

महाभारतकार भी शूद्रों की स्थिति से सम्बन्धित विभिन्न वैदिक सन्दर्भों का अनुकरण करते हुए प्रतीत होते हैं । शान्तिपर्व में तीनों वर्णों की सेवा के लिये ब्रह्माजी के दोनों पैरों से चौथे वर्ण शूद्र की रचना का प्रतिपादन किया गया है<sup>4</sup> । सभी आर्य एवं आर्यतर जातियाँ जिन्हें यज्ञोपवीत का अधिकार न था इसी वर्ण में गिनी जाती थीं । ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य भी शूद्रा कन्याओं के साथ विवाह करते थे तथा इन शूद्रा माताओं की सन्तानों को समाज में उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी । शूद्रों में गिनी जाने वाली अनेक जातियों के बड़े-बड़े जनपद और शक्तिशाली राज्य महाभारत युग में भी विद्यमान थे । महाभारत युद्ध में अनेक शूद्र वीरों ने भाग लिया था जिससे स्पष्ट होता है कि ये लोग शास्त्र जीवी भी होते थे । महाभारत में अनेकों स्थलों में जहाँ कहीं शूद्रों के वर्ण धर्म का विवेचन किया गया है वहीं तीनों वर्णों की परिचर्या करना उसका परम धर्म कहा गया है और कहा गया है कि उसे इस सेवावृत्ति द्वारा ही सुख मिलेगा , क्योंकि प्रजापति ने ही शूद्र को अन्य वर्णों का दास बनाया है । इसी प्रसंग में एक उद्धरण में कहा गया है कि शूद्र को कभी धन का संचय नहीं करना चाहिये क्योंकि धन पाकर वह महान् पाप में संलग्न

1. तै0 सं0 5. 7. 6. 4

2. बृ0 उप0 4. 3. 2

3. छ 0उप0 5. 24. 4

4. तेषां शुश्रूषणाच्यैव - - - - - वर्णान्नुपूर्वशः ।। शा0 प0 60. 29 ।।

हो जाता है और श्रेष्ठ पुरुषों को भी अपने अधीन रखने लगता है<sup>1</sup> । इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि महाभारतकाल में अनेक शूद्र पर्याप्त धनाढ्य होते थे और उनके यहाँ अनेक द्विज सेवा का कार्य करते थे ।

महाभारतकाल में शूद्र को वैदिक यज्ञों में भले ही अधिकार प्राप्त नहीं था किन्तु मन्त्र हीन पाक यज्ञों द्वारा वे यजन कर सकते थे तथा मानसिक यज्ञों द्वारा आत्मशुद्धि का अधिकारी तो प्रत्येक व्यक्ति था । शान्तिपर्व में ही महाभारतकार कहते हैं कि शूद्र स्वयं वैदिक व्रतों की दीक्षा न लेकर पाक-यज्ञों द्वारा यजन करें पाकयज्ञऽबलिवैश्वदेवऽ की दक्षिणा पूर्णमात्रमयी बतायी गयी है<sup>2</sup> । यहीं पैजवन नामक शूद्र का भी उल्लेख है जिसके बारेमें कहा गया है कि उसने ऐन्द्राग्न यज्ञ की विधि से मन्त्रहीन यज्ञ का अनुष्ठान करके उसकी दक्षिणा के रूप में एक लाख पूर्ण पात्र दान किये थे<sup>3</sup> । यही यह भी कहा गया है कि द्विज वर्णों के द्वारा कियेजाने वाले यज्ञों में उनकी सेवा करने वाले शूद्र को भी ब्रह्मा के कारण यज्ञ का पुण्य प्राप्त होता है । सभी वर्णों को आदेश दिया गया है कि वे अपने सेवक शूद्र का सभी प्रकार अन्न वस्त्र से पालन पोषण करें<sup>4</sup> । शूद्र का अपना कोई धन नहीं होता उसके सारे धन पर उसके स्वामी का ही अधिकार होता है । शान्तिपर्व में यज्ञ का अनुष्ठान तीनों वर्णों तथा शूद्र के

1. संघ्यांच्य न कुर्वीत - - - - कुर्याद गरीयसः । शान्तिपर्व 60. 30

2. तस्माच्छूद्रः पाकयज्ञैर्यज्ञतावतवान् स्वयम् ।

पूर्णपात्रमयीमाहूः पाकयज्ञस्य दक्षिणाम् ॥ शान्तिपर्व 60. 38

3. शूद्रः पैजवनो नाम सहस्राणां शतं ददौ ।

ऐन्द्राग्ने विधानेन दक्षिणामिति नः श्रुतम् ॥ वही 60. 39

4. यतो हि सर्व वर्णानां यज्ञस्तस्यैव भारत । शान्तिपर्व 60. 40

अवश्य भरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते ॥ शान्तिपर्व 60. 32

लिये भी आवश्यक बताया गया है । शूद्र के यज्ञ में स्वाहाकार, वषट्कार तथा वैदिक मन्त्रों का प्रयोग नहीं होता<sup>1</sup> । स्वामी सन्तानहीन हो तो शूद्र को ही उसके लिए पिण्डदान करना चाहिये । यदि स्वामी बूढ़ा या दुर्बल हो तो उसका भरण पोषण करना चाहिये<sup>2</sup>।

### आश्रम व्यवस्था

वर्णव्यवस्था के साथ आश्रमव्यवस्था का धनिष्ठ सम्बन्ध है ।

वर्णव्यवस्था यदि मनुष्य को व्यक्तिगत जीवन में अनुशासित एवं कर्तव्यपालन के प्रति निष्ठावान् बनाती है तो आश्रम व्यवस्था मनुष्य की नैसर्गिक सामाजिक प्रवृत्ति और विचारशीलता को सुसंगठित रूप प्रदान करती है मनुष्य की पूर्ण आयु को 100 वर्ष की मानते हुये उसे समान चार भागों में बाँटकर 25-25 वर्षों की अवधियाँ निश्चित करके मानव जीवन में चार आश्रमों की व्यवस्था की गयी थी । ये चारों आश्रम थे ब्रह्मचर्याश्रम {शिक्षाप्राप्ति काल} गृहस्थाश्रम {स्नातक होने पर घरेलू-उत्तरदायित्वों का काल} वानप्रस्थाश्रम {प्रौढ़ होने पर वनवासी जीवन} संन्यासाश्रम {निवृत्ति और त्याग का जीवन} ब्रह्मचर्याश्रम में नियम संयम रूपी योग सम्बन्धी व्रत का पालन करते हुये विद्या प्राप्ति के लक्ष्य को सावधान होकर पूर्ण करने के उपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके पश्चाद्वर्ती आश्रम में प्राप्त की गयी शिक्षा को क्रियात्मक अथवा प्रयोगात्मक रूप प्रदान करते हुये धर्म पूर्वक अर्थ एवं काम का उपभोग करके शानैः शानैः मन को मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त करते हुये वानप्रस्थाश्रम में विषयासाक्ति का परित्याग करके निर्लिप्तभाव से रहना तथा संन्यासाश्रम में निर्विकार रहकर मोक्ष प्राप्त करना, यही आश्रमधर्म के मूल संदेश हैं ।

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, इस पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति ही प्रत्येक सदाचारी मनुष्य का लक्ष्य होता है जिनको आश्रम धर्म के पालन द्वारा सरलता पूर्वक प्राप्त

4. स्वाहाकारः वषट्कारो मन्त्रः शूद्रे न विद्यते । वही 60. 37

5. देयः पिण्डोडनपत्याग - - - - - भर्ता द्रव्य परिक्षये ॥ वही 60. 35, 36

किया जा सकता है। शान्तिपर्व के अनुसार मनुष्य जीवन को सार्थक बनाने के लिये स्वयं भगवान् ने आश्रमधर्म की व्यवस्था की है<sup>1</sup>।

### वेद में आश्रम व्यवस्था

यद्यपि आश्रम शब्द का उल्लेख वेदों में नहीं मिलता लेकिन आश्रम सम्बन्धी विभिन्न अवस्थाओं का उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। ब्रह्मचारी शब्द ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में पाया जाता है। ब्रह्मचर्य की चर्चा तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण में हुयी है। ऋग्वेद में अग्नि को गृहपति कहा गया है<sup>2</sup>। ऋग्वेद में विवाह सूक्त में यह उल्लेख है कि देवताओं ने यति को पत्नी गार्हपत्य के लिये ही दी<sup>3</sup>। इससे स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद में गृहस्थ रूप में आश्रम की दूसरी अवस्था का भी ज्ञान था।

वेदों में वानप्रस्थ जैसी किसी अवस्था का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। ताण्ड्य महाब्राह्मण में वैखानस ऋषियों को इन्द्र का प्रिय कहा गया है<sup>4</sup>। वैखानस का तात्पर्य वानप्रस्थ से ही होगा अतएव वानप्रस्थ आश्रम के ज्ञान का आभास भी वैदिक साहित्य से ही होता है।

चतुर्थ आश्रम सन्यास की जानकारी हमें यति एवं मुनि शब्दों से प्राप्त होती है। यति का उल्लेख ऋग्वेद<sup>5</sup>, तैत्तिरीय संहिता<sup>6</sup>, काठक संहिता<sup>7</sup>, ऐतरेय ब्राह्मण<sup>8</sup>, कौषीतकि उपनिषद्<sup>9</sup>, अथर्ववेद<sup>10</sup> और ताण्ड्य महाब्राह्मण<sup>11</sup> में

1. पूर्वमिव भगवता ब्रह्मणा लोकहितमनुतिष्ठता धर्मसंरक्षणार्थमाश्रमाच्चत्वारोऽभिनिर्दि-

ष्टाः ॥ शान्तिपर्व ११. ८

2. ऋ २. १. २

3. ऋ १०. ८५. ३६

4. ताण्ड्य १३. ४. ७

5. ऋ ८. ३. ९

6. तैत्तिरीय ६. २. ७. ५

7. काठक संहिता ८. ५

8. ऐतरेय ब्राह्मण ३५. २ यतीन् तालावुकेभ्यः प्रादद ॥

9. कौषीतकि उपनिषद् ३. १

10. अथर्ववेद २. ५. ३

11. ताण्ड्य महाब्राह्मण ८. १. ४

हुआ है। विभिन्न सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि यति इन्द्र के शत्रु रूप में थे। उन्हें आर्यों ने इन्द्र की सहायता से समाप्त किया और उनके शरीर को शृगालों के भोजन हेतु फेंक दिया। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में जाकर यति इन्द्र के भक्त विदित होते हैं<sup>1</sup>। संभवतः उन्होंने वैदिक संस्कृति को अपना लिया। ऋग्वेद में मुनियों का उल्लेख हुआ है जिन्हें इन्द्र का मित्र कहा गया है<sup>2</sup>। ऐसा प्रतीत होता है कि अनार्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले साधुओं को यति तथा आर्यों के सन्यासियों को मुनि कहा जाता था।

चारों आश्रमों का एक साथ संकेत सर्वप्रथम ऐतरेय ब्राह्मण में हुआ है। वहाँ भी इन्हें अप्रचलित नामों यथा "मलः गृहस्थाश्रमः अजिनः ब्रह्मचर्याश्रमः शमश्रूणि वानप्रस्थः तपः परित्याजक अथवा संन्यासाश्रमः" द्वारा उल्लिखित किया गया है<sup>3</sup>। ऐतरेय ब्राह्मण में यह आख्यान है कि इक्ष्वाकुवंशीय हरिचन्द्र अपुत्र थे। उनको सौ स्त्रियाँ थी परन्तु इन्हीं सन्तान की प्राप्ति नहीं हुयी। एक बार पर्वत और नारद ऋषि उनके घर आये। उन दोनों से राजा ने प्रश्न किया कि पुत्र से क्या प्राप्त होता है यह बताइये। इस प्रकार प्रश्न किये जाने पर नारद ने दस गाथाओं के द्वारा पुत्र प्राप्ति की प्रशंसा की। इस आख्यान से स्पष्ट होता है कि आर्य समाज में पुत्रोत्पादन एक आवश्यक कर्म समझा जाता था। उसके लिये गृहस्थाश्रम भी आवश्यक होता था। छन्दोग्य उपनिषद् में स्पष्ट संकेत है कि धर्म की तीन शाखाओं में से प्रथम यज्ञ-अध्ययन एवं दान गृहस्थाश्रम से सम्बद्ध है। द्वितीय तप है-तप वानप्रस्थाश्रम से सम्बद्ध है<sup>4</sup>। तप से अभिप्राय शरीर शोषण द्वारा प्राणाशक्ति का खप्य एवं कर्म द्वारा ज्ञान शक्ति का उपार्जन है।

1. ऋ0। 0.। 26. 2.। 36. 4

2. ऋ0 8.। 7.। 4

3. किं नु मलं किमजिनं, किमु शमश्रूणि, किं तपः।

पुत्रं ब्राह्मण इच्छन्, स वै लोकोड्बदावदः ॥ ऐं0 ब्रा0 33. 11. ॥

4. छा0 उप0 2. 23.।

ब्रह्मचर्य का उल्लेख करते हुए उसके दो भेद बताये हैं । प्रथम--जो ब्रह्मचारी अध्ययन की अवधि पर्यन्त गुरुकुल में वास करता है और अध्ययन समाप्त करके गुरु की आज्ञा पाकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है उसे उपकुर्वाणा कहा गया है । द्वितीय--जो ब्रह्मचारी यावज्जीवन गुरुकुल में ही निवास करने व गृहस्थाश्रम में प्रवेश न करने का व्रत लेता है उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा गया है । चतुर्थ - आश्रम को ब्रह्मसंस्था कहा गया है उससे अमृतत्व की प्राप्ति होती है ।<sup>1</sup>

जाबाल उपनिषद् में अधिक स्पष्ट रूप से आश्रमों की चर्चा की गयी है जहाँ ब्रह्मचर्य को पूर्ण करके गृहस्थ होने, गृहस्थ होने के बाद वनी होने तथा वनी होने के बाद प्रव्रजन करने की शिक्षा दी गयी है<sup>2</sup> । इस उपनिषद् में चारों आश्रमों की आवश्यकता पर बल दिया गया है क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम में गार्हस्थ्य धर्म के यथाविधि पालन की योग्यता का सम्पादन होता है तथा गृहस्थाश्रम के द्वारा ही मनुष्य अपने देवश्रणा, श्रिष्टिश्रणा तथा पितृश्रणा से मुक्त हो सकता है । इसी उपनिषद् में जहाँ चारों आश्रमों की आवश्यकता पर बल दिया गया है । वहीं बाद में यह भी कहा गया है कि इससे अन्यथा भी हो सकता है । ब्रह्मचर्य से ही अथवा गृहस्थाश्रम से ही अथवा वानप्रस्थ से ही तन्यासाश्रम में प्रवेश कर सकता है ।

यज्ञ, दान, तप, एवं श्रणों से मुक्ति विष्णुक आश्रम सम्बन्धी कार्य व्यापार मनुष्य को आत्मज्ञान कराने में सहायक होते हैं जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि "उस आत्मा को ब्राह्मणा वेदानुवचन यज्ञ दान तप और उपवास के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं । इसी को ज्ञात करके मुनि होता

-----

1. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञो ऽध्ययनं दानमिति प्रथमः । तप एव द्वितीयो,

ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयो त्यन्तमात्मानमाचार्यकुलडवसादयन्,

सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति । ब्रह्मसंस्थाड्मृतत्वमेति ॥ छा०उ० 2. 23 ॥

2. ब्रह्मचर्य समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्जाबाल.

उप०४----वेदों में भारतीय संस्कृति ।

है । इसी आत्मलोक की इच्छा करके संन्यास ग्रहण करते हैं । इस प्रकार परमज्ञान की उत्पत्ति के लिए यज्ञ, दान, तप आदि आश्रम धर्मों को साधन मानते हैं<sup>1</sup> । इस परम ज्ञान का साधन होने के कारण इन आश्रम धर्मों का अनुष्ठान आवश्यक कोटि में माना गया है । परन्तु विशेष अवस्था वाले मनुष्यों के लिए ऐसा करना आवश्यक नहीं माना जाता था । जिन मनुष्यों ने पूर्व जन्म कृत पुण्य कर्मों के फलानुसार अथवा योगाभ्यास आदि के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया हो तथा आत्मज्ञानी के गुणों से युक्त हों तो उनके लिये इन आश्रम धर्मों का पालन करना उतना महत्त्व नहीं रखता । बृहदारण्यक उपनिषद् में ही जहाँ गृहस्थादि धर्मों का पालन आवश्यक बताया गया है उसके बाद ही यह भी, कहा गया है कि पूर्व के विद्वान् प्रजा तन्तान को कामना नहीं करते थे । प्रजा से हमें क्या प्रयोजन, हमारा यह आत्मा ही लोक है वे पुत्रैषणा वित्तैषणा तथा लौकैषणा से ऊपर उठकर भिक्षार्च्य रहते थे<sup>2</sup> । श्वेताश्वतर उपनिषद् में "अत्याश्रमिभ्यः" का प्रयोग हुआ है तथा इस प्रकार का उल्लेख भी है कि ब्रह्मज्ञानी श्वेताश्वतर ने इन लोगों को जो आश्रम नियमों के ऊपर उठ चुके थे ज्ञान का पाठ दिया<sup>3</sup>।

धर्मसूत्रों के समय में आश्रमों की संख्या चार थी परन्तु उनके नाम और क्रम में अन्तर मिलता है । आपस्तम्ब धर्मसूत्र में "मौन" का उल्लेख संन्यास के लिये है तथा यहाँ गृहस्थ को महत्ता दृष्टिगत रखते हुए उसे प्रथम स्थान दिया है<sup>4</sup>। वसिष्ठ धर्म सूत्र ने चार आश्रम गिनाये हैं ब्रह्मचर्य गृहस्थ-वानप्रस्थ एवं परिव्राजक

1. तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशाकेन एतमेव

विदित्वा मुनिर्भक्ति, एतमेव प्रजाजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति ॥ बृह030 4. 4 ॥

2. एतदस्मि पूर्व विद्वान्तः प्रजा न कामन्ते, किं प्रजा करिष्यामो मेषां नोडयमात्मा अयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च, वित्तैषणायाश्च, लौकैषणायाश्च

ष्युत्थायाथ भिक्षार्च्यं चरन्ति ॥ बृ03प0 4. 4 ॥

3. श्वेताश्व0 उ90 6. 21

4. चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थमिति ॥ आप0 घ0 2. 9. 21. 1



अथवा यति<sup>1</sup> । बोधायन धर्मसूत्र में आश्रमों का नामोल्लेख करते हुए उनके उद्भव के विषय में कहा गया है कि प्रह्लाद के पुत्र असुर कपिल ने देवताओं से बैर के कारण इन आश्रमों का प्रारम्भ किया<sup>2</sup> । मनु ने चार आश्रमों का उल्लेख किया है--ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास या यति<sup>3</sup> ।

महाभारतकालीन आश्रम व्यवस्था

---

महाभारतकार ने भी आश्रम व्यवस्था की चारों अवस्थाओं पर समान रूप से बल दिया है ।

ब्रह्मचर्याश्रम

---

कुमारावस्था से ही ब्रह्मचर्य के पालन पूर्वक विद्या एवं वेदां का अध्ययन ब्रह्मचर्याश्रम के मूलभूत तत्त्व थे । इस आश्रम के आवश्यक नियमों का निर्देश करते हुए महाभारत में कहा गया है कि<sup>4</sup> जगत् का कल्याण करने वाले भगवान् ब्रह्मा ने पूर्वकाल में ही धर्म की रक्षा के लिए चार आश्रमों का निर्देश किया था । उनमें से ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक गुरुकुल वास को ही पहला आश्रम कहते हैं । उसमें रहने वाले ब्रह्मचारी को बाहर भीतर की शुद्धि, वैदिक संस्कार तथा व्रत नियमों का पालन करते हुये अपने मन को वश रखना चाहिये, सुबह और शाम दोनों सन्ध्याओं के समय सन्ध्योपासना सूर्योपस्थान और अग्निहोत्र के द्वारा अग्निदेव की आराधना करनी चाहिए । तन्द्रा और आलस्य को त्याग कर गुरु को प्रणाम करें और वेदों का अभ्यास तथा श्रवण से अपनी अन्तरात्मा को पवित्र करे । सवेरे

---

1. वO धO सूO 7.1--2

2. बोO धO सूO 2.6.17

3. मनुO 6.87

4. पूर्वमेव भगवता ब्रह्मणा लोकहितमनुतिष्ठिता धर्म संरक्षणार्थमायत्र शौच संस्कार नियम व्रत विनितात्मा उभे सन्ध्ये भास्कराग्निदेवतान्युपस्थाय विहाय तन्द्रालस्ये गुरोरभिवादन वेदाभ्यास श्रवण पवित्रो कृतान्तरात्मा त्रिषवणमुपस्पृश्य ब्रह्मचर्याग्नि-परिचरणा गुरुशुश्रूषा नित्यभिक्षाभैक्ष्यादि सर्वनिवेदितान्तरात्मा गुरुवचन निर्देशानुष्ठाननाप्रतिपूलो गुरुः प्रसाद लब्ध स्वाध्यायतत्परः ।। शाO पO 191.8

शाम और दोपहर तीनों समय स्नान करे । ब्रह्मचर्य का पालन अग्नि की उपासना और गुरु की सेवा करे । प्रतिदिन भिक्षामार्ग कर लाये तथा भिक्षा में जो कुछ मिले वह सब गुरु के अर्पण कर दे अपनी अन्तरात्मा को भी गुरु के चरणों में निछावर कर दे । गुरु जी जो कुछ कहें जिसके लिये संकेत करें और जिस कार्य के सिमित्त स्पष्ट शब्दों में आज्ञा दें उसके विपरीत आचरण न करें । गुरु के कृपा प्रसाद से मिले हुए स्वाध्याय में तत्पर हों ।

ब्रह्मचारी गुरु की सेवा करे, नतमस्तक हो उनके प्रत्येक आदेश का पालन करें । गुरु के सोने पर ही स्वयं सोने जाय और गुरु के उठने से पहले ही शय्या त्याग कर दे । शिष्य एवं भृत्य के जो जो कार्य हैं गुरु के वे सब कर्म शिष्य को प्रसन्नता पूर्वक करने चाहिए<sup>1</sup> । अध्ययन के आरम्भ में शुद्ध भाव से गुरु के दोनों चरण पकड़ कर विनीत भाव से प्रार्थना करनी चाहिए "भगवन् मुझे विद्यादान कीजिये"<sup>2</sup> । ब्रह्मचर्य के प्रतिकूल तीक्ष्ण गंध, रस का व्यवहार न करे<sup>3</sup> । व्रत एवं उपवास करके शरीर को कष्ट-सहिष्णु बनाये । इस प्रकार जीवन का प्रथम चतुर्धांश साधारणतः चौबीस वर्ष तक गुरु के घर रहने का नियम है ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए आचार्य की सेवा द्वारा वेद के तत्त्व से अवगत हो<sup>4</sup> । उपयुक्त रूप से ब्रह्मचर्य पालन करना दुष्कर कार्य है । काम क्रोध आदि रिपुओं को दशाभूत करने के लिये ब्रह्मचारी को कठोर तपस्या करनी चाहिए । समस्त प्रलोभनों से स्वयं को मुक्त रखें, विशेषतः स्त्रियों से वार्तालाप का निषेध है । गुरु पत्नी के संबंध में यह नियम लागू नहीं है । चित्त में किसी भी प्रकार का विकार उपस्थित होने पर तत्क्षणा विचार पूर्वक कठिन प्रायश्चित्त करने का विधान है । शरीर व मन की समस्त बुराइयों से सावधानी पूर्वक रक्षा करनी चाहिये<sup>5</sup> ।

- - - - -

1. जघन्यशायी पूर्व - - - - -कर्मसु कोविदः ॥ शा०प० 241.18
2. अभिवाद्य गुरुं ब्रूयादधीश्व - - - - -यापिकृतं मया ॥ वही 241.23
3. यांस्तुगन्धान् तरसान् वापि ब्रह्मचारी न सेवते । वही 241.25 ॥
4. वेदव्रतोपवासेन - - - - - समावर्तेद्यध्यविधि ॥ वही 241.28 29
5. ब्रह्मचारी व्रतं नित्यं दीक्षापरो वशी ॥ इत्यादि शा०प० 61-19-21

ब्रह्मचर्य के चार चरणा हैं । प्रथम चरणा है गुरु श्रद्धा, वेदाध्ययन अभिमान एवं क्रोध को जीतना । द्वितीय चरणा है आचार्य के प्रिय कर्मों का पूर्ण रूप से अनुष्ठान आचार्य पत्नी एवं पुत्रों को यथोचित सेवा । तृतीय चरणा है आचार्य के अनुग्रह को स्मरणा रखते हुए हमेशा उनके प्रति श्रद्धा रखना और चतुर्थ है विनीत भाव से निरभिमानी होकर गुरु को भक्तिपूर्वक दक्षिणा देना<sup>1</sup> ।

ब्रह्मचर्य व्रत पालन के लाभों के संबंध में तनत्पुजात पर्व के तनत्पुजात उपदेश में §344 वाँ अ० § बहुत सी बातें कही गयी हैं । जैसे देवताओं ने भी ब्रह्मचर्य को शक्ति से हो देवत्व प्राप्त किया है । ऋषियों की ब्रह्मलोक प्राप्ति भी ब्रह्मचर्य के ही अधीन है जो लोग ब्रह्मचर्य के तत्त्व से अवगत हैं संसार में उन्हें भय का कोई कारण नहीं है । वे निर्भय आत्म तृप्त तथा चिर प्रफुल्ल हैं । ब्रह्मचर्य द्वारा हर वस्तु प्राप्त की जा सकती है<sup>2</sup>।

ब्रह्मचारी शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ करते हुए महाभारतकार कहते कि जो मन वचन और कर्म से ब्रह्म की सेवा कर सके वही ब्रह्मचारी है<sup>3</sup>। ब्रह्म शब्द का अर्थ है ईश्वर एवं वेद । निष्ठठा शब्द का अर्थ है मृत्यु तथा नैष्ठिक का मृत्यु पर्यन्त । इसी अर्थ में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले के लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं रह जाता तथा अन्त में वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है । ब्रह्मचर्य के तेज से उनकी पापराशि भस्म हो जाती है । तपस्वी ब्रह्मचारियों से इन्द्र भी भयभीत होते हैं । ऋषियों में जो अलौकिक क्षमता पायी जाती है वह भी ब्रह्मचर्य का ही फल है ब्रह्मचर्य मनुष्य को दीर्घजीवी बनाता है<sup>4</sup>। जो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पालन करते हैं उन पर पितरों का कोई श्रृंण नहीं रहता । अतः गार्हस्थ्य

1. विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या- - - -।। उद्योग 44. 2-15

2. ब्रह्मचर्येण वै लोकान् जयन्ति परमर्षयः ।। शा० प० 24।. 6

3. ब्रह्मण्येव चारः कायवाङ्मनसां प्रवृत्तिर्येषाम् ।। शा० प० 192-24

4. ब्रह्मचर्यस्य च गुणं त्वं वसुधाधिपः ।। 75. 35-40

ब्रह्मचर्येण जीवितम्- - - -।। अनु० 7-14

5. अष्टावक्र संवाद । अनु० 18, 20 अध्याय

धर्म के अनुसार विवाहादि न करने पर भी वे पाप के भागी नहीं होते<sup>1</sup>।  
ब्रह्मचारी गुरु की अनुमति से उन्हें यथाशक्ति दक्षिणा दान द्वारा व्रत का  
उद्घाटन करके गुरु का आशीर्वाद लेकर अपने घर लौट आते थे। इसी का  
नाम समावर्तन था<sup>2</sup>।

#### स्नातक

समावर्तन के बाद गृहस्थ होने के लिये तैयार ब्रह्मचारी को स्नातक  
कहा जाता था। स्नातक के तीन प्रकार हैं--विद्यास्नातक, व्रत स्नातक तथा  
विद्या व्रत स्नातक। अल्पकाल में जो मात्र एक वेद का अध्ययन करके गुरु के घर  
से लौट आते थे उन्हें विद्यास्नातक कहा जाता था। जो गुरु के पास बारह  
वर्ष तक सिर्फ व्रत का पालन करते थे उन्हें व्रत स्नातक कहा जाता था और जो  
विद्या व व्रत दोनों के अंतिम छोर तक जाते थे उन्हें विद्या-व्रत-स्नातक कहा जाता  
था<sup>3</sup>।

#### गृहस्थाश्रम

जीवन का द्वितीय भाग गृहस्थ के रूप में व्यतीत करने का विधान है।  
गुरु-गृह छोड़ने के बाद ब्रह्मचारी को शुभलक्षणा पत्नी ग्रहण करके विवाह करना  
चाहिये तथा यथाविधि गृहस्थ धर्म का पालन करना चाहिये। गृहस्थ की चार  
प्रकार की जीविकारें थीं---कुशुलधान्य --प्रचुर धन का संघय कुंभधान्य--अल्पधन का  
संघय न करना तथा कापोती वृत्ति--कपोत की तरह खेत से धान्य कण बीन कर  
उसके द्वारा ही जीविकोपार्जन करना। इसे उच्छ्वृत्ति भी कहा गया है। ये  
वृत्तियाँ क्रमशः एक दूसरे से श्रेष्ठ हैं<sup>4</sup>।

-----

1. अष्टावक्र संवाद। अनु० 18, 20 अध्याय

2. गृह्ये दक्षिणां दत्त्वा समावर्तेद्यथाविधि ॥ शा० प० 191.10

3. वेदव्रतोपवासेन चतुर्थो वायुषो गते ॥ शा० प० 241-29

4. गृहस्थ वृत्तयैव चतस्रः कविभिः स्मृताः

कुशुलधान्यः प्रथमः कुंभधान्यस्त्वनन्तरम् ॥ इत्यादि शा०प० 242.23

शान्तिपर्व में भिन्न-भिन्न स्थलों पर गृहस्थाश्रम धर्म विषयक वर्णन हुआ है जहाँ गृहस्थ के समस्त कर्तव्यों को व्रत नाम से अभिहित किया गया है। यह व्रत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। खाद्य संग्रह केवल अपने उद्देश्य से नहीं करना चाहिये। यज्ञ के अलावा और किसी उद्देश्य से प्राणि हिता नहीं की जानी चाहिये। दिन में संध्या के बाद गोधूलि के समय और रात्रि के अन्तिम भाग में सोना नहीं चाहिये। केवल एक बार दिन में और एक बार रात्रि में भोजन करना चाहिए। अतिथि सेवा का गृहस्थधर्म में सर्वोपरि स्थान है। माता, पिता, पत्नी, पुत्र, भृत्य तथा अतिथियों के बाद भोजन करना कुलोचित धर्म में आस्था रखते हुए उसी को जीविका का साधन बनाना<sup>1</sup>, उत्तम उपायों से धनोपार्जन करके उसके द्वारा देवता, अतिथि तथा पौष्यवर्ग की सेवा करना तथा किसी के भी धन पर लोभ न रखना ये दो नियम गृहस्थ के लिये आवश्यक हैं<sup>2</sup>।

गृहस्थ के लिये प्रतिदिन पंच महायज्ञ करने का विधान है---अध्ययन एवं अध्यापन नामक ब्रह्मयज्ञ, तर्पण नामक पितृयज्ञ, अग्नि में मन्त्रोच्चार पूर्वक दैवयज्ञ, बलि अर्थात् सर्वभूत उद्देश्य से भूतयज्ञ और अतिथि सत्कार पूर्वक नृयज्ञ। प्रत्येक गृहस्थ के द्वारा इन पंच यज्ञों का अनुष्ठान करना आवश्यक माना गया है<sup>3</sup>।

श्री-वासव संवाद में ऐश्वर्य लाभ के उपायों के रूप में गृहस्थ के आचरण योग्य कई उत्तम कर्मों का उल्लेख किया गया है यथा---अपने धर्म का पालन, धैर्य-शीलता, दान, अध्ययन यज्ञ, देवताओं और पितरों की पूजा, गुरु तथा अतिथि का सत्कार, सत्यवादिता, श्रद्धा, अनुसूया, अनहंकार जितेन्द्रियत्व आदि प्रमुख हैं<sup>4</sup>।

1. शा० प० 6। वौ० अध्याय, 19। वौ० अध्याय, 22। वौ० अध्याय

2. धर्मार्गतं प्राप्य धनं- - - - - गृहस्थोपनिषत् पुराणी ॥ आदि 9।. 3

3. पंचयज्ञास्तु यो मोहान्न करोति गृहाश्रमी ।

तस्य नायं च परो लोको भवति धर्मतः ॥ शा० प० 146. 7 ॥

4. स्वधर्ममनुतिष्ठत्सु - - - - - सत्त्वेषु निरताह्यहम् ॥ शा० प० 228-29-49 //

गृहस्थ के प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने गृहस्थ के पालन करने योग्य अनेक सदाचारों का वर्णन किया है। जैसे---राजपथ पर, गोशाला में या धान के खेत में मलमूत्र त्याग नहीं करना। शौच व आचमन एकान्त में ही करना चाहिये। देवार्चना व पितृतर्पणा नित्य करने चाहिये। सूर्योदय से पूर्व शय्या त्याग देनी चाहिये। हाथ पाँव मुँह अच्छी तरह धोकर पूर्वाभिमुख होकर भोजन करना चाहिए। यज्ञ-शाला, देवालय, वृष, ब्राह्मण आदि की प्रतिदिन प्रदक्षिणा करनी चाहिए। अभक्ष्य वस्तुओं का आहार नहीं करना चाहिए<sup>1</sup>।

उमा-महेश्वर संवाद में कहा गया है कि अहिंसा, सत्यवचन, प्राणिमात्र पर दया, अदत्तवस्तु ग्रहण न करना, मद्य, मांस का वर्जन आदि गृहस्थ धर्म के उत्तम लक्षणा हैं<sup>2</sup>।

गृहस्थाश्रम में रहकर ही मनुष्य जन्म से प्राप्त चार अणों से उच्च हो सकता है यज्ञानुष्ठान द्वारा देवअण से, वेदाध्ययन व तपस्सा द्वारा अक्षिअण से, पुत्रोत्पादन एवं श्राद्ध द्वारा पितृअण से मुक्त हुआ जाता था। अतिथिअण भी एक प्रकार के अणों में गण्य है। अतिथि की सेवा करके यह अण उतारना पड़ता था<sup>3</sup>।

चारों आश्रमों के मध्य गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता महाभारतकार द्वारा वर्णित की गयी है। ब्रह्मचारी, परिव्राजक व भिक्षुक गृहस्थ का ही आश्रय लेते हैं एवं दूसरे जीव जन्तु भी गृहस्थ द्वारा ही प्रतिपालित होते हैं। चातुर्वर्ण्य धर्म

1. शां० प० १३ वाँ अध्याय

2. अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम् ।

शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थ्यो धर्मउत्तमः ॥ इत्यादि अनु० १५।७ //

3. अणौ चतुर्भिः संयुक्ता- - - - -॥ आदि० १२०।१७-२२

अणामुन्मुच्य देवानामुषिणां च तथैव च ॥ आदि २१९।११-१५ //

पितृणामथ विप्राणामतिथिना च पंचमम् ॥ इत्यादि अनु० ३७।१७-१८

यज्ञैस्तु देवान् प्रीणाति स्वाध्याय तपसा मुनीन् ॥ आदि १२०।१९

के प्रधान अनुष्ठान का क्षेत्र गार्हस्थ्य आश्रम है । सागर जिस तरह समस्त नद-  
नदियों का अन्तिम आश्रय है, गृहस्थ भी उसी तरह समस्त आश्रमियों का आश्रय  
स्थान है<sup>1</sup> ।

### वानप्रस्थाश्रम

जीवन के तृतीय भाग में वानप्रस्थ सम्बन्धी आश्रम धर्मों के पालन में  
सर्वप्रथम बात यह है कि शरीर में वृद्धावस्था की सूचना मिलते ही गृहस्थ को सम्पत्ति  
आदि पुत्र के हाथों में सौंप कर संसार से विमुख होकर जीवन यापन करना चाहिये ।  
ईश्वर मनन में समय बिताने के निमित्त गृहस्थ को वन की शरणा लेनी चाहिये ।  
घर छोड़कर वन में रहना पड़ता है इसीलिये इस आश्रम का नाम वानप्रस्थ है<sup>2</sup> ।  
पत्नी भी यदि पति के साथ वन में जाने की इच्छुक हो तो पत्नी को साथ लेकर  
गृहस्थ वन की ओर प्रस्थान करे नहीं तो पत्नी को पुत्रादि के पास छोड़ जाये<sup>3</sup> ।  
वानप्रस्थी उपनिषदों व आरण्यकों का अध्ययन करे<sup>4</sup> तथा तीर्थ अथवा नदी के उद्गम  
जैसे शान्त क्षेत्र में जाकर तपस्या करे । वन में उत्पन्न फल, मूल, ओषधि तथा  
शुष्क पत्र ही वानप्रस्थी का भोजन तथा कास, कुश, चर्म एवं वल्कल ही उनके वस्त्र होते  
ये । शमश्रु-कर्तन उनके लिये विधिबद्ध था । एक मात्र धर्माचरण के लिये ही वे  
शरीर धारण करते थे । सर्वभूत में मैत्री रखना उनका कर्तव्य था । यथाकाल  
स्नानादि से निवृत्त होकर अग्निहोत्र एवं यज्ञानुष्ठान करना, समिधा, कुश एवं  
पुष्प आदि का संग्रह करना एवं परमतत्त्व से साक्षात्कार के अनुकूल चिन्ता में निमग्न  
होकर काल यापन करना ही वानप्रस्थ धर्म है जो इस प्रकार तृतीय आश्रम के

1. यथा मत्तरमाश्रित्य - - - - वर्तन्त इतराश्रमाः ॥ शा० प० 268-6

यथा नदीनदाः सर्वे- - - -यान्ति संस्थितम् ॥ शा० प० 295-39

2. तृतीयमाधुषो भाग वानप्रस्थाश्रमे वसेत् ॥ शा० प० 243. 5, उषो० 37-39

3. सदारो वाप्य दारो वा आत्मवान् संयतेन्द्रियः ॥ शा० 61.4

4. तत्रारण्यक शास्त्राणि- - - -गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥ शा० 61-5

कर्म का अनुष्ठान करते हैं वे समस्त क्लृप्ताओं से निष्कृति पा जाते हैं<sup>1</sup>।

वानप्रस्थ आश्रम में भी चार प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख है सद्य संन्यस, मासिक संन्यस, वार्षिक संन्यस एवं द्वादश वार्षिक संन्यस । जो एक साल या बारह साल की उपयोगी खाद्य सामग्री का संन्यस करते थे उनका उद्देश्य अतिथि सेवा व यज्ञानुष्ठान था<sup>2</sup> । अत्यन्त कष्ट साधना द्वारा चित्त को शुद्ध करना वानप्रस्थ धर्म का प्रधान उद्देश्य है । परमात्मदर्शन के निमित्त स्वयं को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से गृहस्थ को वानप्रस्थ का अवलम्ब लेना पड़ता है<sup>3</sup> ।

महाभारत में धृतराष्ट्र, गांधारी, कुन्ती विदुर व संजय के वानप्रस्थ ग्रहण का चित्र आश्रम वासिक पर्व में चित्रित हुआ है । केकयराज शतायुष, ययाति एवं महाराज पाण्डु के भी वानप्रस्थ ग्रहण के वर्णन महाभारत में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं ।

#### संन्यासाश्रम

जीवन के अन्तिम भाग में वानप्रस्थ का काल यापन करने के बाद संन्यास ग्रहण का विधान है । शरीर जब नितान्त जराग्रस्त हो, बाना प्रकार की व्याधियों से आक्रान्त हो, उस वक्त प्राजापत्य का अनुष्ठान करके सब कुछ त्याग करने का विधान बनाया गया है । शास्त्रीय विधान में विहित कर्म का त्याग करना ही संन्यास है । संन्यास आश्रम में स्त्री, पुत्र, परिजन किसी को भी साथ नहीं रखा जा सकता । केश दाढ़ी मूछ आदि का भी मुण्डन करने का नियम है<sup>4</sup> । विधिपूर्वक अग्नि का परित्याग करके थोड़े से उदराज के लिये सर्वत्यागी संन्यासी को गृहस्थ से भिक्षा लेनी

1. शा० प० 192.1-2 अनु० 142.1-19

2. वानप्रस्थाश्रमेऽप्येताश्चतस्रो वृत्तयः स्मृताः ॥ इत्यादि शा०प० 243. 8-14

3. सर्वेष्वेवर्षिधर्मेषु ज्ञेयोत्मा संयतेन्द्रियैः ॥ अनु० 141-108

4. जरया च परिधूनो- - - चतुर्थे चायुषः शेषे वानप्रस्थाश्रमं त्यजेत् ॥ शा० 243-22. 30



चाहिये । भिक्षापात्र व वल्कल वस्त्र ये दो वस्तुएँ ही उनके लिये प्रयोजनीय हैं । उनका निर्दिष्ट वास स्थान नहीं होता, मान-अपमान दोनों उनके लिये समान हैं । एकमात्र ईश्वरचिन्तन के अलावा और सब विषयों के प्रति उदासीनता ही संन्यासी का यथार्थ लक्षणा है<sup>1</sup> । सभी प्राणियों के प्रति समताभाव व मैत्री संन्यासी के हृदय में सदा रहनी चाहिये । आत्मचिन्तन के साथ-साथ संन्यासी को सर्वभूत को कल्याण कामना भी करनी चाहिये । हृदय अगर अपवित्र हो तो दंडधारण मुंडन, उपवास अग्निहोत्र, ब्रह्मचर्य, वनवास आदि सब कुछ निष्फल हो जाता है<sup>2</sup> ।

संन्यासियों को चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है---कुटीचक संन्यासी ---ये एक जगह ही बैठकर ईश्वर चिन्तन में लीन रहते हैं । अपने स्त्री पुत्रादि से भी भिक्षा ग्रहण करने में इन्हें कोई आपत्ति नहीं होती । बहूदक संन्यासी ---सत्पनिष्ठ ब्राह्मण गृहस्थ से भिक्षा लेते हैं दंड, कमण्डलु यज्ञोपवीत, शिखा, काषायवस्त्र का परित्याग नहीं करते । हंस-संन्यासी शिखा आदि रखते हैं लेकिन किसी भी स्थान पर एक रात्रि से अधिक व्यतीत नहीं करते । ये केवल एक दंड धारण करते हैं । परमहंस संन्यासी ---ये समस्त विधि निषेधों से ऊपर होते हैं । इन्हें शौच अशौच का विचार न हो तो भी कोई बात नहीं । सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनों गुण इनकी वश्यता स्वीकार लेते हैं । ये निस्त्रैगुण्य होते हैं<sup>3</sup> । शास्त्रानुसार संन्यासाश्रम के लिए विहित धर्म के पालन का फल ब्रह्मत्व की प्राप्ति है ।

1. शां० प० 244 वाँ अध्याय

2. सर्वाण्येतानि मिथ्या सूर्यदि भावो न निर्मलः ।। वनपर्व 199-97

3. यतुर्विधा भिक्षवस्ते कुटीचक बहूदकौ ।

हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात् स उत्तमः ।। अनु० 141-89

xxxx

# षष्ठ अध्याय वैदिक आख्यान

### वैदिक आख्यान

महाभारत में प्राप्य वैदिक सन्दर्भों के मध्य आख्यान भी आते हैं। महाभारत में बहुत से ऐसे आख्यान हैं जिनका मूल वेदों तक जाता है। वेदों में ये आख्यान सूत्र रूप में तथा अतम्बद्ध और बिखरे रूप में मिलते हैं जबकि महाभारत में इन्हें सुतम्बद्ध तथा विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। महाभारत-कार ने जिन प्रमुख वैदिक आख्यानों को अपने महान् ग्रन्थ में स्थान प्रदान किया है वे हैं इन्द्र आख्यान, मत्स्य, गमन, वराह, हयग्रीव विषयक अवतारों के आख्यान, च्यवन सुकन्या आख्यान, शुनःशेपाख्यान, नाचिकेत उपाख्यान तथा तौषण्णआख्यान। मूलभूत वैदिक तर्कितों, प्रेरणाओं तथा विवरणों को लेकर काल-क्रम में महाभारतकार ने विस्तृत और ललित आख्यानों की रचना कर डाली है।

### इन्द्र आख्यान

वैदिक गड.मय में इन्द्र का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इन्द्र प्रमुख रूप से विद्युत के देवता हैं। अवर्षा और अन्धकार के राक्षसों पर विजय प्राप्त कर जलों को प्रवाहित करना, प्रकाश का विस्तार करना इनका प्रमुख कार्य है। गौण रूप से वे युद्ध के देवता हैं। वे पण्डितों पर विजय प्राप्त करने में आयुषों की सहायता करते हैं।

अवर्षा और अन्धकार के राक्षसों में प्रमुख "वृत्र" का वध करना इन्द्र का प्रमुख कार्य है। इन्द्र द्वारा वृत्र-वध के कारणों की चर्चा करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि अन्तरिक्ष से उठकर सब पदार्थों को आच्छादित करने के कारण इन्द्र ने वृत्र को परास्त किया<sup>1</sup>। इन्द्र-वृत्र युद्ध तम्बन्धी मन्त्रों के अध्ययन

1. उ०ध० ह्यस्यादध्यन्तरिक्षे या वृत्राय प्र वृधं जंभार ॥ अ. 2. 30. 3

से प्रतीत होता है कि वृत्र ने न केवल लोकों को आच्छादित कर रखा था अपितु उनमें स्थित जड़ पेतन सभी पदार्थों के लिये अत्यावश्यक पाँच तत्त्वों आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी को किसी न किसी रूप में बाँध रखा था। इन्द्र ने वृत्र को पृथ्वी से खींच कर मारा तथा आकाश से खींच कर वध किया<sup>1</sup>। इन्द्र ने वृत्र को मारकर नदियों को प्रवाहित होने के लिए मुक्त किया तथा वायु को बहने के लिये प्रेरित किया,<sup>2</sup> सूर्यों को मुक्त करके अन्धकार का नाश किया, तामिस्त्र से ढकी हुयी अनेक उषाओं व वर्षा को इन्द्र ने वृत्र का वध करके विमुक्त कर दिया तथा वृत्र द्वारा रोके हुए जल को भी छोड़ा।<sup>3</sup>

इन्द्र का प्रमुख अस्त्र वज्र है। इसी के द्वारा राक्षसों का वध करने का वर्णन ऋग्वेद में पाया जाता है। यहाँ इसको भिन्न-भिन्न मन्त्रों में त्वष्टा के द्वारा निर्मित बताया है।<sup>4</sup> साथ ही इसे दधीचि की हड्डियों से भी निर्मित बताया गया है।<sup>5</sup> इन्द्र वृत्र को मारने से पूर्व अत्यधिक मात्रा में सोमपान भी करते हैं।<sup>6</sup> मन्त्रों में मरुद्गणा भी वृत्र-वध में इन्द्र के सहायक रूप में वर्णित हुए हैं।<sup>7</sup> एक मन्त्र में कहा गया है कि देवताओं ने इन्द्र को अपना नेता बनाया जबकि मरुद्गणों को छोड़कर अन्य सभी देवताओं के वृत्र से भयभीत होकर भागने की बात अनेक मन्त्रों में आयी है।<sup>8</sup> वृत्र-युद्ध में अग्नि और सोम तथा विष्णु अनेक बार इन्द्र के सहायक बनते हैं। कुछ मन्त्रों में वृत्र की उपमा मृग से दी

1. निरिन्द्र भूम्या अपि वृत्रं जघन्यथ निर्दिवः ॥ अ. 1. 80. 4 ॥

2. इन्द्रो वृत्रस्य दोषतः सानुं वज्रेण ह्रीकृतः ॥ अ. 1. 8. 5 ॥

3. पूर्वीस्थसः शूरदयं गुतां वृत्रं जघन्वाँ अतृजद्वितिन्यून ॥ अ. 4. 19. 8 ॥

4. अपु त्वष्टा ते मुह उग्र वज्रं सहस्रभृष्टि - - - - - ॥ अ. 6. 17. 10 ॥

5. इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्य प्रतिष्कतः । जघान नवतीर्नव ॥ अ. 1. 84. 13 ॥

6. नि मायिनो दानवस्य माया अपादयत्पपिवान्सुतस्य ॥ अ. 2. 11. 10 ॥

7. येभिर्वृत्रस्येषितो विवेदामर्मणो मन्यमानस्य मर्म ॥ अ. 3. 32. 4 ॥

8. वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखाय ॥ अ. 8. 96. 7 ॥

गयी है तथा वृत्र के शरीर से उत्पन्न होने वाले वृत्र के क्रोध स्वल्प राक्षस को शुष्णा कहा गया है जिसे इन्द्र मारते हैं<sup>1</sup>। वृत्र की उपमा मेघ से देते हुए कहते हैं ---मेघ अन्तरिक्ष में जाकर जल सहित घूमने लगा तब संचारी मेघ में छिपे हुए वृत्र का इन्द्र ने वध किया<sup>2</sup>।

वृत्र वध करने पर इन्द्र को लगे ब्रह्महत्या के पाप को वेद में जलों द्वारा फेन रूप में धारण करने की बात कही गई है।<sup>3</sup>

विश्वरूप के वध के विषय में ऋग्वेद में कहा गया है कि हे इन्द्र । तुमने त्रित की मित्रता के लिये त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को नष्ट किया था<sup>4</sup>। अन्यत्र इसी विषय में कहा गया है कि त्रित आप्त्य ने अपने पैतृक अस्त्रों के बल पर इन्द्र के द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर त्वष्टा के त्रिशीर्ष पुत्र से युद्ध किया और उसका वध करके गौओं को उन्मुक्त किया ।

### तैत्तिरीय संहिता

तैत्तिरीय संहिता में इन्द्र द्वारा विश्व रूप वध विषयक आख्यान आया है । यहाँ विश्वरूप को त्वष्टा का पुत्र, देवताओं का पुरोहित तथा अशुरों का भानजा कहा गया है । प्रत्यक्षतः देवताओं को यज्ञ में भाग समर्पित करते हुए परोक्ष रूप से अशुरों को भाग देने के कारण हुयी अशुरों की वृद्धि से क्षुब्ध हुए इन्द्र वज्र से विश्वरूप की हत्या कर देते हैं तथा अपने ऊपर लगे ब्रह्महत्या के पाप को पृथ्वी, वृक्ष एवं स्त्रियों में बाँट देते हैं।<sup>6</sup>

1. त्वस्यं चिन्महृतो निर्मुगस्य वधर्जवानु तविषो भिरिन्द्रः ॥ अ. 5. 32. 3 ॥  
वजेण वज्री निजथानशुष्णाम् ॥ अ. 5. 32. 4 ॥

2. इन्द्रो मुहां सिन्धुमाशयानं वृत्रमस्फुरन्तिः ॥ अ. 2. 11. 9 ॥

3. किमुष्विदस्मै निविदो भनोतेन्द्र स्यावध दिधिषन्तआपः ॥ अ. 4. 18. 7 ॥

4. अस्मभ्यं तत त्वाष्ट्रं विश्वस्ममरन्थ्यः साख्यस्यत्रिताय ॥ अ. 2. 11. 19 ॥

5. त्रिशीर्षाणिं सप्तरश्मि जघन्वान्त्वाष्ट्रस्य चिन्मिः तसृजेत्रितो गाः ॥ अ. 10. 8. 8 ॥

6. तै0 सं0 2. 5. 1 ॥

इन्द्र और विष्णु की मित्रता की प्रगाढ़ता को वर्णित करते हुए कहा गया है कि वृत्र-वध के समय इन्द्र द्वारा विष्णु से सहायता माँगे जाने पर विष्णु अपने तृतीयांश को पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश में स्थापित कर देते हैं<sup>1</sup>।

काठक संहिता, ऐतरेय, शतपथ, जैमिनीय तथा ताण्ड्य ब्राह्मणों में भी उक्त आख्यान पर्याप्त विभिन्नताओं एवं विस्तार के साथ वर्णित हुए हैं<sup>2</sup>।

### महाभारत के अनुसार इन्द्र-वृत्र आख्यान

वेदों की भाँति महाभारत में भी इन्द्र का निकटतम प्रतिद्वन्दी वृत्र ही है यहाँ हमें इन्द्र-वृत्र युद्ध सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं का प्रादुर्भाव भी मिलता है। महाभारत के विभिन्न पर्वों में स्थान स्थान पर प्रसङ्ग वश इन्द्र-वृत्र आख्यान आया है तथा प्रत्येक स्थान पर आये आख्यान से जिन समान एवं विरोधी तथ्यों का ज्ञान होता है वे निम्न हैं<sup>3</sup>----

### इन्द्र-वृत्र के वैदिक आख्यान के प्रस्तुतीकरण में महाभारत की संगति

महाभारतकार ने वैदिक तथ्यों की अक्षुण्णता व मर्यादा को निरन्तर बनाये रखा है। इन्द्र-वृत्र आख्यान इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। इस आख्यान के अन्तर्गत परिवर्तन कम हुए हैं तथा वैदिक प्रतीकों को ही प्रायः विकसित तथा सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया गया है। विवरण इस प्रकार है---

1. तै० सं० 6. 5. 1. 4. 5

2. का० सं० 12. 3. 8-10; 12. 10. 29-30; ऐ. ब्रा. 24. 9. 26; 2. 6. 33;

3. 12. 9. 20; 3. 12. 5. 16; 3. 8. 7. 15

जै. ब्रा. 2. 134; 2. 153-155; श. ब्रा. 1. 6. 3. 6; 5. 5-5. 2; 3. 4. 4-14;

16. 4. 1-3; तां. ब्रा. 18. 1. 9. 20. 15. 6,

3. वन. 18. 1-99; 3. 98; 104, उद्यो. 9. 22-48; 10. 29-43; 13. 16-17;

शान्ति. 272. 21-31, 273. 6-55; आश्व 11-9

1. त्वष्टा के पुत्र त्रिशिरा के तप व सत्य से भयाक्रान्त होकर इन्द्र उसका वध कर देते हैं ।<sup>1</sup>
2. पुत्रवध से क्रोधित होकर त्वष्टा द्वारा अग्नि में सोम की आहुति देकर "इन्द्रशत्रु वर्धस्व" कहकर इन्द्र के शत्रु रूप में वृत्र को उत्पन्न करना तथा त्वष्टा द्वारा किया गया उच्चारण अशुद्ध होना ।<sup>2</sup>
3. वृत्रासुर का भूलोक और आकाश घेरकर खड़े होना ।<sup>3</sup>
4. प्रजापति त्वष्टा द्वारा ऋषि दधीयि की हड्डियों से वज्र निर्माण ।<sup>4</sup>
5. वज्र का षड्कोणाकृति तथा भयंकर गड़गड़ाहट पैदा करने वाला होना ।<sup>5</sup>
6. इन्द्र का देवताओं से सुरक्षित होकर वृत्र से युद्ध करना ।<sup>6</sup>
7. दैत्यों से भयभीत देवताओं का अपने दल से बिछुड़ कर भागना ।
8. इन्द्र का मोहाच्छन्न होना तथा भगवान् विष्णु का उनमें अपना तेज स्थापित करना<sup>7</sup>।
9. भगवान् विष्णु तथा मत्स्यगणों द्वारा वृत्रवध में इन्द्र की विशेष सहायता करना ।<sup>8</sup>

- 
1. अथ वैश्वानर निर्म- - - - -॥ महत. 5. 9. 22 ॥
  2. अग्नौ हुत्वा समुत्पाद्य- - - - -॥ महत. 5. 9. 46 ।
  3. श. ब्रा. 1. 6. 3. 6--॥
  3. आससाद ततो वृत्रं स्थितिभावृत्य रोदसी- - - ॥ महत. 3. 1. 1. 1  
निरिन्द्र भूया अधिवृत्रं - - - - ॥ श. 1. 80. 4 ॥
  4. महत. 3. 98. 1--24; श. 1. 84. 13
  5. महत. 3. 98. 22
  6. इन्द्र वृत्राय हन्तवे देवास्तो दधिरे पुर:- - -॥ श. 8. 12. 22 ॥  
महत. 3. 104. 1
  7. वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाण्णा विश्वे देवाः अजहुर्ये सखायः ॥ श. 8. 96. 7॥
  8. श. 10. 100. 12, 8. 12. 27, 3. 3. 24  
विष्णुना गोपितं शक्र- - - -॥ महत. 3. 99. 10

10. अङ्गिराओं द्वारा वृत्र-वध में इन्द्र की सहायता की बात जिस प्रकार वेद में आयी है उसी प्रकार महाभारत में भी अङ्गिरावंशी बृहस्पति वृत्र वध के लिये रुद्र से प्रार्थना करते हैं ।<sup>1</sup>
11. इन्द्र पर लगी ब्रह्महत्या का जल द्वारा ग्रहण करना<sup>2</sup>।
12. इन्द्र द्वारा अपने ऊपर लगे ब्रह्महत्या के पाप को वृक्ष, नदी, पर्वत, पृथ्वी, स्त्री-समुदाय में बाँट देना ।<sup>3</sup>
13. इन्द्र द्वारा अश्वमेध यज्ञ करके पापमुक्त होना ।<sup>4</sup>
14. वेद के समान महाभारत में भी इन्द्र की उपमा सूर्य से दी गयी है ।
15. महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में वृत्रासुर द्वारा क्रमशः पृथ्वी-जल-वायु-आकाश तथा स्वर्ग इन्द्र में प्रवेश करके उनके विषयभूत रतों को ग्रहण करने की बात कही गयी है जो कि वैदिक तथ्यों के सर्वथा विपरीत नहीं है । वेद में भी विभिन्न ऋचाओं द्वारा ऐसा वर्णन किया गया है कि वृत्रासुर ने इन सभी तत्त्वों पर अपना अधिकार जमा लिया था जहाँ इन्द्र ने उसे वज्र प्रहार के द्वारा भगाया था । वृत्र का इन्द्र में प्रविष्ट होना इन्द्र के मोहित होने को ही भिन्न शैली में प्रस्तुत करता है । जहाँ यह कहा गया है कि इन्द्र ने शरीरस्थ वृत्रासुर का अदृश्य वज्र के द्वारा संहार किया वहाँ वृत्र विभिन्न सुराक्ष्यों का प्रतीक प्रतीत होता है ।

महाभारतकार द्वारा इन्द्र-वृत्र आख्यान में की गई नवीन उद्भावनाएँ एवं उनका

### प्रयोजन

महाभारतकार द्वारा वैदिक इन्द्र वृत्र आख्यान के अन्तर्गत की गई नवीन उद्भावनाएँ आख्यान को औचित्यपूर्ण बनाने में सहायक हुयी हैं । यहाँ

1. अ. 10. 100. 12, 8. 12. 27, 3. 3. 24

विष्णुना गोपितं शक्र- - - 11 मह. 3. 99. 10

2. अ. 4. 18. 7, मह. 5. 10. 42

3. मह. 12. 273. 55

4. मह. 5. 13. 6



कुछ तत्त्वों को पूर्णातः अपनी ओर से न जोड़कर वेद में ही कहे गये अधूरे से लगने वाले तथ्यों को पूर्णाता प्रदान करना ही उनका उद्देश्य रहा है ।

1. वेद में तथा महाभारत में भी वृत्र आवरक शक्ति का प्रतीक है अर्थात् वह कभी जलों को अपने आवरण में समेटता है कभी प्रकाश को कभी वायु को तो कभी सूर्य को अपने में समाहित कर सम्पूर्ण विश्व में उनका अभाव पैदा करता है । इसके विपरीत इन्द्र अभिव्यक्ति अथवा प्राकट्य के प्रतीक हैं । वे इन सभी को विश्व के लिये उपलब्ध कराकर जीवन प्रदान करते हैं । यद्यपि वेदों में इन्द्र को सूर्य रूप में प्रस्तुत किया गया है ।<sup>1</sup> तथापि वृत्र के बढ़ते हुए आकार और आवरक शक्ति के कारण महाभारत में उन्हें प्रलयकालीन सूर्य की उपमा दी गयी है<sup>2</sup> जोकि सामान्य सूर्य को भी अपने में समाहित करके सम्पूर्ण लोकों को सन्तप्त करता है ।
2. इन्द्र को वृत्र के मुख से निकालने के लिये देवताओं द्वारा की गयी जैभाई की तृष्टि<sup>3</sup> प्रलय के उपरान्त पुनः तृष्टि का प्रतीक है जबकि समस्त आवरक एवं अभावात्मक शक्तियों की हार होकर नये तिरों से सृजन एवं अभिव्यक्ति का शुभारम्भ होता है ।
3. इन्द्र का वृत्र से युद्ध के समय मूर्छित होकर भाग जाना, देवताओं का वृत्र से भयभीत होकर भागना, मरुद्गणों का पलायन, तथा इन्द्र का ब्रह्महत्या से ग्रसित होना वृत्र की विषमीकरण की शक्ति अथवा आवरक शक्ति के कारण होता है । उसी प्रकार महर्षि वसिष्ठ को रथन्तर ताम द्वारा अथवा बृहस्पति का उत्तेजक वचनों द्वारा इन्द्र को मूर्छाविहीन करना, देवताओं व ऋषियों द्वारा अपने-अपने तेज से इन्द्र का बलवर्धन, विष्णु,

1. एष वा इन्द्रो य एष तपति ।। श. ब्रा. 3. 4. 2. 15 ।।

2. अपावृत्त्य स जगत् - - - - ।। महा. 5. 9. 46

3. त्वान्यङ्गान्यभि संक्षिप्य - - - - ।। महा. 5. 9. 48

इन्द्र, मरुद्गणा, रुद्र आदि देवताओं का इन्द्र की सहायता करना, ब्रह्म-हत्या का विभिन्न वस्तुओं में वितरित कर व अश्वमेध यज्ञ करके इन्द्र का पापमुक्त होना, यह सब विश्व की विभिन्न अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली तथा प्राकट्य की शक्तियों के प्रभावस्वरूप होता है ।

4. जब सहायता प्रदान करने वाले देवताओं द्वारा इन्द्र को अपने अपने तेज से युक्त करने की बात ब्राह्मणों में आयी है<sup>1</sup> तो वृत्र के स्वयं अपने पिता के तेज से युक्त होने की बात वहाँ क्यों नहीं कही गयी है जबकि वृत्र बल व आकार में इन्द्र से कम नहीं था तथापि उद्योगपर्व में वृत्र के भी त्वष्टा के तेज व बल से युक्त होने की बात कही गयी है<sup>2</sup>।
5. विनाशकारी शक्तियाँ प्रायः बुलकर सामने नहीं आतीं तथा छिपकर ही अपने काम करते रहना पसन्द करती हैं । यही कारण है कि वृत्र को अपने कार्यों के निर्विघ्न सम्पादन के लिये किसी न किसी आवरण की आवश्यकता होती है । इसी कारण वृत्र पाँचों तत्त्वों तथा इन्द्र में प्रविष्ट होकर उनके विषयभूत रसों का पान करते हुए विश्व में उन शक्तियों का अभाव पैदा कर देता है<sup>3</sup> । इसी प्रकार इन्द्र वस्तुतः वृत्र का वध इसी लिए करते हैं क्योंकि वह विरूपता तथा विषमीकरण की शक्ति है तथा विश्व के लिये हानिकारक है । परन्तु ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न किये जाने के कारण वह ब्राह्मण था । अतः वह वध के योग्य होते हुए भी वध के योग्य नहीं था । इसी लिए इन्द्र उसको मारकर ब्रह्महत्याजन्य मानसिक संताप से पीड़ित तथा तेजोहीन होकर जल में प्रवेश कर जाते हैं । जिस प्रकार वृत्र विशालकाय

1. विष्णुना गोपितं शक्र- - - - -॥ महत. 3. 99-10 ॥

2. अग्नौ हुत्वा समुत्पाद्य- - - - -॥ महत. 5-6. 46 ॥

3. वृत्रेण पृथिवी व्याप्ता- - - - -॥ महत. 14. 11. 9 ॥

होते हुए भी गलत कार्यों के कारण तेज में इन्द्र के समान नहीं था वह छिपा, छिपा रहता था उसी प्रकार इन्द्र भी ब्रह्महत्या रूपी पाप के कारण तेजोहीन होकर जल में विचरने वाले सर्प की भाँति प्रतीत होते हैं क्योंकि जल में विचरने वाला सर्प आकार में बड़ा होते हुए भी जहरीला नहीं होता इसी लिये यहाँ तेजोविहीन इन्द्र की उपमा जलीय सर्प से दी गई है ।<sup>1</sup>

4. महाभारत में वर्णित देवताओं का वृत्र से सन्धि-प्रस्ताव तैत्तिरीय संहिता व ब्राह्मणों में वर्णित वृत्र के देवताओं से सन्धि प्रस्ताव का ही परिवर्तित रूप है<sup>2</sup>। काठक संहिता,<sup>3</sup> तैत्तिरीय संहिता,<sup>4</sup> शतपथ ब्राह्मण,<sup>5</sup> में इन्द्र जब वृत्र पर प्रहार करने को उद्यत होते हैं तो वृत्र इन्द्र को यह कहकर रोकता है कि मुझे मत मारो मैं तुम्हें अपने अन्दर निहित शक्ति दूँगा । वह कहीं अपनी शक्ति के रूप में उक्त्य प्रदान करता है कहीं यज्ञ तथा कहीं यजुः शब्द तथा साम प्रदान करता है तथा वे शक्तियाँ विष्णु में प्रविष्ट हो जाती हैं । अन्ततः वृत्र जब पूर्णतः शक्तिहीन हो जाता है तब इन्द्र वृत्र को मारते हैं । महाभारत में भी वृत्र द्वारा अपने सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ भगवान् विष्णु में समाहित होने की बात कही गयी है ।<sup>6</sup>

1. सोऽनन्तमाश्रित्य लोकानां- - - - -॥ महा. 5.10.43 ॥

2. तै. सं. 2.5.1

3. इन्द्रो वृत्राय वज्रमुद्यच्छत्सोऽब्रवीत् वीर्यं वा इदं- - - - -॥ का. सं. 12.3.8.10

4. तै. सं. 6.5.1-5

5. स ह विष्णुमुवाच । वृत्राय वै वज्रं प्रहरिष्याम्यनु- - -॥ श. ब्रा. 5.5.5.2 -6 ॥

6. स्वमुक्ता स कौन्तेये वृत्रः प्राणानवाप्तवान् ।

योजयित्वा तथाऽत्मानं परं स्थान्भवाप्तवान् ॥ महा. 12.280.59 ॥

5. यह तथ्य भी विचारणीय है कि तैत्तिरीय एवं काठक संहिताओं तथा शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ वृत्र के शरीर से विभिन्न शक्तियों के निकलकर विष्णु में समाहित होने की बात कही गयी है<sup>1</sup> वहाँ क्या कारण है कि इन वैदिक ग्रन्थों व महाभारत में भी वृत्र के शरीर से निकली हुयी ब्रह्महत्या इन्द्र को ही पकड़ती है<sup>2</sup> जबकि विष्णु भी वृत्र वध में इन्द्र के बराबर के ताक़्तीदार हैं।<sup>3</sup> क्योंकि विष्णु सर्वातिशायी शक्ति हैं विश्व की सभी अच्छाइयाँ व बुराइयाँ उन्हीं में से प्रकट होती हैं एवं उन्हीं में समाहित हो जाती हैं। फिर भी वे परमदेव होने के नाते इससे परे हैं। इन्द्र और वृत्र में एक अच्छाई है तो दूसरी बुराई, एक प्राकट्य की शक्ति है तो दूसरी तिरोधाम की। अतः वे पाप और पुण्य से सर्वथा अछूते नहीं रह सकते जबकि भगवान् विष्णु इन दोनों से परे हैं। वे सम्पूर्ण लोकों को जन्म देने वाले हैं तथा प्रलयकाल में सभी लोक उन्हीं की माया द्वारा उन्हीं में समाहित हो जाते हैं तो भी वे किसी पुण्य अथवा पाप से लिप्त नहीं होते। जिस प्रकार पृथ्वी से उठती धूल वायुमण्डल को तो दूषित कर सकती है परन्तु सूर्य को मैला नहीं कर सकती उसी प्रकार वृत्र-वध का ब्रह्म हत्या रूपी पाप उन्हें दूषित नहीं कर सकता। इसके विपरीत अपने ऊपर लगे ब्रह्महत्या रूपी पाप को दूर करने के लिये इन्द्र विष्णु की उपासना यज्ञ द्वारा करते हैं।<sup>4</sup>

6. ऋग्वेदानुसार इन्द्र पर लगे हुए ब्रह्महत्या के पाप को जलों द्वारा फेन रूप में ग्रहण करने की बात कही गयी है।<sup>5</sup> वह अधूरी सी लगती है।

1. तै. स. 6. 5 1-5, का. सं. 12. 3. 8-10

2. जग्राह वध्या देवेन्द्र- - - - -॥ महा. 12. 273. 16 ॥

3. सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व- - - - -॥ अ. 8. 100. 12 ॥

4. तत्राश्वमेधः सुमुहान्- - - - -॥ महा. 5. 13. 16 ॥

5. किमुष्विदस्मै निविदो भनतेन्द्र त्पाव्यं दिधिषन्त आपः ॥ 14. 18. 7 ॥

जबकि फेन द्वारा ही वृत्र-वध की बात न कही जाये ।<sup>1</sup> महाभारतकार ने समुद्र में उठते फेन द्वारा वृत्र-वध की बात कह कर अपूर्ण अथवा प्रतीकात्मक भाषा में कहे गये वेदोक्त तथ्य को पूर्णता प्रदान की है ।

7. शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अग्नि व सोम का वृत्र के शरीर से निकल कर शीतोष्ण ज्वर द्वारा वृत्र को पीड़ित करने के बजाय महाभारत में यही काम शिव के तेज द्वारा कराया गया है ।<sup>2</sup> महाभारत में ही प्रजापति दक्ष के यज्ञ-विध्वंस के प्रसङ्ग में कहा गया है कि उस समय शिवजी अपने पत्नीने की बूंदों से एक विकराल पुच्छ को जन्म देते हैं जोकि शिव की आज्ञा से दक्ष-यज्ञ का विध्वंस करता है । उसे ज्वर नाम से अभिहित किया गया है जिसको कि बाद में पशु-पीक्षी-मनुष्य आदि घेतन प्राणियों में विभिन्न रूपों में विभक्त कर देते हैं ।<sup>3</sup> इसी ज्वर द्वारा पीड़ित होने पर वृत्र वध की बात यहाँ कही गयी है ।<sup>4</sup> यहाँ वृत्र के विषय में कहा गया है कि भगवान् विष्णु की भक्ति के प्रभाव से ही उसने अपनी विशाल काया द्वारा जगत् को व्याप्त कर लिया था । अतः युद्ध में मारे जाने पर उसने विष्णु धाम को प्राप्त किया ।<sup>5</sup>

यहाँ रुद्र के तेज से उत्पन्न वृत्र वध की बात महाभारतकार स्वतः ही नहीं कहते । इसकी पुष्टभूमि ऋग्वेद में ही प्राप्त होती है जहाँ रुद्र का साम्य अग्नि से प्रस्तुत करते हुए अनेक मन्त्र आये हैं<sup>6</sup> तथा सोम के साथ उः मन्त्रों में

-----

1. स वज्रमथ फेनं तं- - - - - ।। महा. 5-10. 42 ।।
2. अथास्य जृम्भतः - - - - - ।। महा. 12. 273. 8 ।।
3. यश्चैव पुस्त्रो जातः स्वेदात् ते विनुधोत्तम- - - - ।। महा. 12. 273. 47 ।।
4. सतन्माहश्चरो ते जो ज्वरो नाम सुदास्या- - - ।। वही 12. 283. 57
5. विष्णुभक्त्या हि तेनेदं जगत् व्याप्तमभूतत दा- - - ।। वही 12. 283. 60 ।।
6. अग्निं सुम्नाय दधिरे पुरोजना - - - - - ।। ऋ. 3. 2. 5 ।।

स्वयं युग्म रूप में आये हैं जहाँ अग्नि व सोम के सम्मिलित रूप को ही रुद्र माना गया है ।

8. महाभारत में घुत्र का उत्कर्ष हुआ है क्योंकि यहाँ इन्द्र अनेक बार घुत्र से युद्ध करते समय पलायन करते हैं यहाँ तक कि देवताओं को उससे सन्धि भी करनी पड़ जाती है ।<sup>1</sup> महाभारत में घुत्र को अत्यन्त खानी तथा विष्णु भक्त भी कहा है<sup>2</sup> इसका कारण यह हो सकता है कि महाभारत काल में कुराई ने अपनी जड़ें जमानी शुरू कर दीं थीं जबकि वेद का कार्य आदर्शों की स्थापना है वहाँ सदैव सत्य की प्रतिष्ठा का ही वर्णन किया गया है । मुण्डकोपनिषद् में कहा भी है कि सत्य के पथ पर चलते हुए ही विजय प्राप्त की जा सकती है असत्य के बल पर नहीं ।<sup>3</sup>

---

1. न शुष्केणा न घग्निना - - - - - ॥ महा. 5.10.29 ॥

2. महा. 12.281.25

3. सत्यमेव जयति नानृतम् मुण्डकोपनिषद् 3.1.6 ॥

### अवतार सम्बन्धी आख्यान

---

अव्यक्त रूप से विद्यमान परमात्मा का व्यक्त हो जाना अथवा सर्वशक्ति सम्पन्न निर्विशेष शक्ति का उद्देश्य विशेष के लिये विग्रह धारणा करना है। अवतार है। दूसरे शब्दों में लोकहितार्थ ईश्वर का भूमि पर जन्म लेना ही उनका अवतार ग्रहण करना है। अवतारवाद वैदिक काल की देन नहीं है वहाँ केवल देवताओं के निमित्त यज्ञोपासना ही विहित हैं किन्तु परवर्ती काल में उपासना में भक्ति के प्राधान्य के साथ-साथ अवतारवाद की धारणा भी उत्पन्न हुयी। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में इन्द्र सर्वोच्च देव के रूप में प्रतिष्ठित रहे। तत्पश्चात् स्थिति में परिवर्तन आया। रामायण एवं महाभारतकाल तक आते आते परमसत्ता विष्णु में निहित हो गयी। इतने महत्वपूर्ण परिवर्तन का कारण तो अस्पष्ट है परन्तु जनसामान्य इस व्यवस्था को निर्विवाद व स्वाभाविक रूप से स्वीकार कर चुका था<sup>1</sup>। अब विष्णु की कल्पना आत्यन्तिक सत्ता के सगुण रूप ईश्वर मात्र में नहीं की जाने लगी प्रत्युत उन्हीं के व्यक्तित्व में उपनिषदों का सर्वातिशायी, निराकार ब्रह्म भी समाहित हो गया।

अवतार ब्रह्म अथवा पुरुष का न होकर उसके साकार रूप ईश्वर का होता है। अवतार ग्रहण करने की आवश्यकता क्यों पड़ती है। इस प्रश्न का उत्तर श्रीमद् भगवद्गीता में स्वयं श्रीकृष्ण ने यह कहकर दिया है कि "जब जब धर्म की हानि एवं अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब मैं स्वयं को प्रकट करता हूँ।"<sup>2</sup> अतएव प्रत्येक युग में सज्जनों की रक्षा तथा दुर्जनों के विनाशार्थ ईश्वर अवतार ग्रहण करते हैं।

---

1. महा० शान्तिपर्व, 329 : ब्राह्मणों द्वारा इन्द्र को अभिषेक करना

2. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजामहे ॥ भा०गी० 4. 7

### वैवस्वत मनु एवं मत्स्य आख्यान

चराचरात्मिका पृथ्वी के जलमग्न होने पर वैवस्वत मनु एवं मत्स्य की कथा अगली सृष्टि का बीज लेकर अवतीर्ण होती है। यह आख्यान प्रलय एवं नूतन सर्जना को जोड़नेवाली एक कड़ी है। संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त विश्व के अन्य साहित्यों को भी प्रभावित करने के कारण इसकी विश्वव्यापी लोकप्रियता व प्रतिष्ठा रही है। भारतोत्तर साहित्य में यूनानी, बेबीलोनी, इस्लामी, पारसी, ईसाई, सुमेरियन, चीनी आदि साहित्य जिस कथा को वर्णित करते हैं उसका किसी न किसी रूप में जल प्रलय व नवल सृष्टि से सम्बन्ध है और वह इस आख्यान से कई तथ्यों में समानता रखता है। इस आख्यान के प्राचीनतम रूप हमें वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं।

#### वैदिक साहित्य में आख्यान का रूप

ऋग्वेद में हमें स्पष्ट रूप से मनु एवं मत्स्य का आख्यान तो उपलब्ध नहीं होता किन्तु एक जल प्रलय का वर्णन अवश्य प्राप्त होता है जिसमें वस्त्रा एक नाव द्वारा वसिष्ठ की रक्षा करते हैं। इन श्रयाओं से ज्ञात होता है कि जल प्लावन के समय वसिष्ठ अपने प्राणों की रक्षा के लिये एक बार वस्त्रा के साथ नाव पर सवार हुए थे<sup>1</sup>। मत्स्य भगवान एवं मनु का उल्लेख न होने के कारण इसमें उनके भावी रूप की भूमिका का मात्र अनुमान किया जा सकता है। वसिष्ठ और अगस्त्य के जन्म के साथ एक महायुतिमान मत्स्य की उत्पत्ति का वेद में स्पष्ट उल्लेख है।

इसी प्रकार ऋग्वेद के दसवें मण्डल के नासदीय सूक्त में सृष्टि को जिस प्रकार प्रलयावस्था में स्थित बताया है<sup>2</sup> उससे भले ही आख्यान के कोई साक्षात् बीज

1. वसिष्ठ ह वैस्त्रा नो नाव्याधुहृषि चकार स्वपा महोभिः । अ० 7. 88. 4  
क्वत्पानि नो सुखा बभूवुः सधावहे यद्वृकं पुराधित् । अ० 7. 88. 5 ।।
2. ना सदा सीम्नो सदासीत् तृदान्ती नासी द्रजो नो व्योभा परो यत् ।  
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ।। अ० 10. 129. 1



प्रकीर्ण नहीं मिलते फिर भी लौकिक साहित्य में वर्णित जलार्णव की स्थिति से यहाँ पर्याप्त मात्रा में साम्य है। ऋग्वेद के पाँच सूक्तों में सूर्यपुत्र वैवस्वत मनु को ऋषि के रूप में स्मरण किया है जिनमें से तीन स्थलों पर उन्हें प्रजा के पितृभूत पिता, उत्पादक के रूप में स्मरण किया है। जिससे मनु के आदि पुत्र्य होने के स्पष्ट संकेत मिलते हैं।

अथर्ववेद में कुष्ठ नामक ओषधि का वर्णन करते हुए उसे हिमालय के उस शिखर पर उत्पन्न बताया है जहाँ शून्य से भटकती एक स्वर्णिम नाव पहले उतरती थी। यह तथ्य आख्यान को वैदिक घोषित करने में एक सबल प्रमाण है।<sup>1</sup>

काठक संहिता में भी प्रलयोपरान्त एकमात्र मनु के अवशिष्ट रहने एवं यज्ञ के द्वारा सृष्टि को विस्तार प्रदान करने की बात कही गयी है।<sup>2</sup>

सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में मत्स्योपाख्यान बड़ा यज्ञ प्रसङ्ग में वर्णित हुआ है।<sup>3</sup> जैमिनीय ब्राह्मण में भी उक्त आख्यान का कुछ आभास मिलता है।<sup>4</sup>

महाभारत के वनपर्व में मत्स्योपाख्यान अत्यन्त विस्तार से वर्णित है।<sup>5</sup> यहाँ आख्यान के वैदिक स्वस्व में किये गये परिवर्तनों एवं उनके प्रयोजनों का ही वर्णन किया जायेगा।

महाभारतकार द्वारा वैदिक आख्यान में किये गये परिवर्तन एवं प्रयोजन

शतपथ ब्राह्मण एवं वनपर्व में वर्णित आख्यान में कई अन्तर हो गये हैं जो निम्न प्रकार हैं ---

-----

1. हिरण्ययी नौरघर द्विरण्यबन्धनादिवि- - - - ।। अथर्व० १९. ३७. १०. ७. ९ ।।
2. आपो वा इन्द्र निरमृजन्- - - - - ।। का० सं० ११. २. ११ ।।
3. म नवे ह वै प्रातः । अवेनेग्यमुदकमाजहनुयथिदं- - - ।। श० ब्रा० १. ८. ११. १० ।।
4. स एते सामनी अपश्यत् - - - - - ।। जै० ब्रा० ३. ९१ ।।
5. मह० ३. १८७. ४---५७

1. शतपथ ब्राह्मणा में जब आचमन के लिये जल डाला जाता है तो सहसा एक शिशु मत्स्य मनु के हाथ में दिखाई देता है। आचमन के परिमित जल में इस प्रकार मत्स्य का आ जाना अत्यन्त आश्चर्यजनक लगता है। वनपर्व में मनु व मत्स्य की भेंट स्वाभाविक स्थिति में हुयी है। जब मनु घीरिणी नदी के तट पर तपस्या कर रहे होते हैं तब शिशु मत्स्य उनके समक्ष आकर व्या की याचना करता है। महाभारतकार ने सर्वथा मौलिक तथ्य की अवधारणा आख्यान को स्वाभाविक बनाने की दृष्टि से की होगी।
2. वनपर्व का शिशु मत्स्य बाद में अपना रहस्योद्घाटन करते हुए अपने को प्रजापति ब्रह्मा घोषित करता है और इसका विशाल मत्स्य के रूप में विस्तार अनेकों वर्षों में होता है किन्तु शतपथ ब्राह्मणा इस विषय में मौन है। वह किस देवता का अवतार है इस तथ्य के अभाव का कारण यह हो सकता है क्योंकि शतपथ ब्राह्मणा में मत्स्य मनु को पहले से ही जल प्लावन की सूचना दे देते हैं अतः उनका कोई दिव्य शक्ति होना स्वतः स्पष्ट हो जाता है जबकि महाभारत में मत्स्य जलप्लावन की पूर्व सूचना मनु को नहीं देते हैं अतः मत्स्य भगवान को दिव्यशक्ति प्रतिपादित करने की दृष्टि से उनका परिष्य बाद में प्रजापति ब्रह्मा के रूप में देना स्वाभाविक रूप से आवश्यक हो जाता है। शतपथ ब्राह्मणा के भाष्य में मत्स्य भगवान् का देवत्व इस प्रकार अवश्य उल्लिखित है "भाविनो अर्थस्य सिद्धार्थ देवता एव मत्स्यरूपेण आजगाम" और उसके तुरन्त एक अलौकिक विभूति होना सूचित हो जाता है।
3. शतपथ ब्राह्मणा का शिशु मत्स्य विशाल मत्स्य होने से पूर्व ही मनु को भावी जल-प्रलय की सूचना देता है जिसमें सभी लोक निमज्जित होने वाले थे और इस जलप्रलय की स्थिति में मत्स्य द्वारा सुरक्षा के लोभ से उसे कथित स्थानों में रख वर्धित करते हैं जबकि वनपर्व का शिशु मत्स्य विशाल देह प्राप्त कर मनु के मनोयोग की सराहना करता है तथा समुद्र में पहुँच कर उन्हें भावी जल-प्रलय की सूचना देता है।<sup>1</sup>

---

1. तत्र वसुधे राजन् मत्स्यः परमसत्कृतः - - - - - बीजानि चैत सर्वाणि ।।

4. शतपथ ब्राह्मण में घटनास्थल का कोई निर्देश नहीं है जबकि वनपर्व में घोरिणी नदी को घटनास्थल बताकर आख्यान के घटनास्थल को एक और निश्चित रूप दिया गया है ।
5. शतपथ में जल-प्रलय के समय दो ही जीव मनु व मत्स्य अवशिष्ट बचते हैं जबकि जल-प्रलय के समय वनपर्व में नौ प्राणियों की स्थिति बतायी है । इनमें मनु के अतिरिक्त सप्तर्षि तथा मत्स्य हैं<sup>1</sup> । इसी लिये ब्राह्मण में नौका बाँधने का कार्य मनु करते हैं तथा वनपर्व में सप्तर्षि ।
6. शतपथ में मनु जहाँ रहे थे वह स्थान मनोखसर्पण कहा जाता है<sup>2</sup> जबकि वनपर्व में नाव का बन्धन स्थल आज भी नौका बन्धन कहा जाता है<sup>3</sup> ।
7. शतपथ में इडा यज्ञ-विधि का महत्त्व प्रतिपादित करने के लिये मनु द्वारा सृष्टि रचना का कार्य कराया गया है । इस यज्ञ में मनु पिता का कार्य करते हैं । पाक यज्ञ में उत्पन्न की गयी इडा नामक नारी उनकी इस कार्य में सहायता करती है क्योंकि वह अभिलक्षित पदार्थ प्रदान करने वाली है । जबकि वनपर्व इस पाक्यज्ञ के विषय में सर्वथा मौन है । वहाँ मनु ही प्रलय के पश्चात् सर्वसृष्टा के रूप में आते हैं । ब्रह्मा की कृपा से सृष्टि-निर्माण कार्य वे अकेले ही करते हैं<sup>4</sup> क्योंकि उनके पास समस्त जगतिक पदार्थों के बीज हैं । किन्तु शतपथ ब्राह्मण में इडा यज्ञ विधि का महत्त्व प्रतिपादित करने के लिये मनु द्वारा सृष्टि रचना का कार्य कराया गया है । इस कार्य में मनु पिता का दायित्व निभाते हैं । पाक्यज्ञ में उत्पन्न की गयी इडा नामक नारी उनकी इस कार्य में सहायता करती है । क्योंकि वह अभिलक्षित पदार्थ प्रदान करने वाली है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वनपर्व में शतपथ ब्राह्मण से कई महत्त्वपूर्ण अन्तर हो गये हैं ।

1. मेटो 12.187.32

2. शोब्रटो 1.8.10.11-15

3. वेगेन महता नावं-----तद्य नौकाबन्धनं नाम ॥ 3.187.50 ॥

4. तपसा चापि तीक्ष्ण-----सर्वा प्रजा मनुः साक्षात् ॥ 3.187.54-57 ॥

## वाराह अवतार आख्यान

### संहिता सम्बन्धी विवरण

वाराह अवतार की कथा का सूत्रपात ऋग्वेद में ही हो जाता है । ऋ० १. ६१. ७ में कथा का प्राचीनतम किन्तु अत्यन्त अस्पष्ट रूप प्राप्त होता है । यहाँ कहा गया है कि शक्तिशाली विष्णु ने पकने वाली हविष को पुरा लिया, वराह के ऊपर प्रहार किया और पर्वत को तिरहे फेंक दिया<sup>१</sup>। इस मन्त्र के चतुर्थ पाद "विध्यद वराहं तिरो अद्रिमस्ता" में विष्णु का वराहवध के लिये इन्द्र के प्रति कथन है और तृतीय पाद में इन्द्र विष्णु से उस धन को लाने के लिये कहते हैं, "मुषायद विष्णुः पयतं सहीयान्" । इस मन्त्र में वराह वध वृत्र वध का ही आलंकारिक वर्णन है वराह वृत्र का ही प्रतीकात्मक नाम है । त्रित आप्तु ऋग्वेद में वृत्र वध के समय इन्द्र के सहायक के रूप में वर्णित हैं उन्हें ऋ० १०. ११. ६ में वराह का वध करते हुए वर्णित किया गया है<sup>३</sup>। वार अथवा वर शब्द जल का वाची है । स्वादिगणी अह धातु का अर्थ व्याप्त करना है<sup>४</sup>। जल को आच्छादित कर लेने और उसे प्रवाहित न होने देने से वृत्र की ही संज्ञा वाराह या वराह है । ऋग्वेद में पर्वत के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग मेघों के लिये भी हुआ है अतः मेघों या अन्तरिक्ष में विद्यमान वृत्र का हनन तथा उसकी सम्पत्ति का आहरण ही इन श्लोकों का कथ्य जान पड़ता है ।

ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र का अर्थ करते हुए सायणा कहते हैं कि अतुरों का जो इक्कीसवाँ नगर पत्थरों से निर्मित है उसमें बहुत सम्पत्ति है उसमें पशु हैं, क्षीरपाक है, ओदन है । उन सारी चीजों को विष्णु ने वराह रूप धारण करके

१. मुषायद्विष्णुः पयतं सहीयान्तिध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता ।। ऋ० १. ६१. ७

२. ऋ० ८. ७७. १० पर स० भ०

३. अत्य त्रितो न्वोज सा वृथानो विषा वराहमयो अग्राया हन् ।। ऋ० १०. ११. ६

४. दृष्टव्य पा० धातु पाठ १२७३ "अह व्याप्ता" अहनोति॥

इन्द्र की प्रेरणा से हरण किया अथवा सम्पत्ति को चुराने वाले वराह का हरण किया<sup>1</sup> । यहाँ अनेक पाठभेद होने से अर्थ अस्पष्ट है ऋग्वेद के ही एक अन्य मन्त्र में भगवान् विष्णु के अनेक अवतारों का उल्लेख लक्षित होता है यहाँ {कुचरः} पृथ्वी पर या पृथ्वी के लिये विचरणा करने वाला वराह अवतार बताया गया है ।<sup>2</sup>

वाजसनेयी संहिता में पृथ्वी के आदि रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे पृथ्वी आगे भगवान् वराह के द्वारा उद्धार के समय तु प्रादेश मात्र थी ।<sup>3</sup>

तैत्तिरीय संहिता में भी दो स्थलों पर आख्यान का विवरण है जिनमें से एक में यज्ञ रूपी विष्णु के पृथ्वी में प्रविष्ट होने तथा इन्द्र के द्वारा तात पर्वतों के पार रहने वाले असुर को मारने तथा विष्णु द्वारा उस वराह को यज्ञ रूप में लाकर देवों को भेंट करने का उल्लेख है ।<sup>4</sup>

तैत्तिरीय संहिता में प्राप्त आख्यान के दूसरे रूप में सृष्टि पूर्व जलमयी स्थिति का वर्णन है तथा वायुरूप प्रजापति वराह रूप धारण करके अपने अगले दाँतों द्वारा भूमि को जल के ऊपर निकालते हैं तदनन्तर विश्वकर्मा रूप धारण करके उसे विस्तार प्रदान करते हैं ।<sup>5</sup>

अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त के एक मन्त्र में आख्यान के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं ।<sup>6</sup>

1. विश्वेता विष्णुराभरदस्कृमस्त्येषितः ।

श्रुतं महिषान्क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र समुषम् ॥ श्रु ८. 77. 10 पर सायण भाष्य

2. प्र त द्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचुरो गिरिष्ठाः

यस्योत्सूत्रिषु विक्रमणोऽवधिक्लियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ श्रु 1. 54. 2  
श्रु. यजु 5. 20

3. इत्पग्रा आसीन् मवस्य तेथ शिरो राध्यासे... ॥ शु 0 यजु 0 बौ 0 तै 0 37. 5 ॥

4. यज्ञो देवेभ्यो निलायत् विष्णुस्त्वं कृत्वा स--- ॥ तै 0 तै 0 6-3. 4. 2-3

5. आपो वा इदमितीदानीं दृश्यमानं गिरी नदी- - - ॥ तै 0 तै 0 7. 1. 5. 1 ॥

6. मत्त्वं विभ्रती गुह्यं भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः ।

वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय ॥ अथर्व 12. 1. 48

### ब्राह्मणों में प्राप्त विवरण

शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ के सन्दर्भ में पृथ्वी को प्राचीनकाल में प्रादेशमात्र तथा समूष नामक सूअर जिसे प्रजापति भी कहा गया है के द्वारा उभारा गया वर्णित किया है<sup>1</sup>।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में सृष्टि पूर्व स्थित जल में पुङ्कुर पर्ण को देखकर उसके आधार का अनुमान लगाते हुए वराह रूप धारण करके जल में प्रवेश करके पृथ्वी को ऊपर लाते हैं तथा वायु प्रवाहित होकर उसे सूखी मिट्टी से सुदृढ़ करती है।<sup>2</sup>

तैत्तिरीय आरण्यक में पृथ्वी का उद्धार करने वाले काले वराह को एक सहस्र हाथों वाला वर्णित किया है।<sup>3</sup>

### महाभारत में वराह अवतार आख्यान

पूर्वकाल में विष्णु द्वारा किये गये वराह अवतार का वर्णन महाभारत के वनपर्व एवं शान्तिपर्व में कुछ विशिष्ट अन्तरों के साथ वर्णित है।

वनपर्व में अत्यधिक भार के कारण पृथ्वी के सैकड़ों योजन दूर चले जाने पर पृथ्वी भगवान विष्णु से प्रार्थना करती है तथा भगवान विष्णु वराह रूप धारण करके अपनी एक दाढ़ द्वारा पृथ्वी को पुनः सौ योजन ऊपर उठा देते हैं।<sup>4</sup>

शान्तिपर्व में वराह अवतार का उद्देश्य देवताओं की रक्षा तथा दानवों का विनाश करना है।<sup>5</sup>

---

1. ह्यती वा ह्यमग्रे पृथिवी आस प्रादेशमात्री । ताम् समूष इति वराह उज्जघान ।

तः अस्याः पतिः प्रजापतिः--- ॥ श० ब्रा० १४.१२.११

2. आपो वा ह्यमितीदानीं ह्ययमानं गिरि- - - -॥ तै० स० ७.१.५

3. उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना- - - -॥ तै० अ० १.१०.८

4. मह० ३.१६.३५--४०

5. वही १२.२०२.७--३५

### महाभारतकार द्वारा वैदिक आख्यान में किये गये परिवर्तनों का प्रयोजन

1. ऋग्वेद के कुयरः आदि विशेषणों के द्वारा उनके वराह रूप की प्रकल्पना निहित है। संभवतः उसी को आधार बनाकर महाभारतकार वराह का सम्बन्ध विष्णु के साथ स्थापित करता है।
2. जहाँ वेद में वराह का सम्बन्ध सृष्टि से है जैसा कि तैत्तिरीय संहिता, ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण इत्यादि में वराह के द्वारा पृथ्वी के निर्माण की बात कही गई है। वहाँ महाभारत के अनुसार वराह का सम्बन्ध स्थिति और प्रलय दोनों से है। स्थिति की बात विस्तार से है तथा प्रलय की बात एक मात्र उस मन्त्र में आयी है जहाँ वनपर्व में यह कहा गया है कि भगवान् वराह इस भूतल का उद्धार करते हुए प्रलयकालीन अग्नि के समान प्रतीत हो रहे थे<sup>1</sup>। इस श्लोक का पूर्वाभास ऋग्वेद के इस मन्त्र द्वारा होता है---युलोक के वराह, दीप्तिमान स्वल्प वाले जटाजूटधारी भास्करस्वल्प स्त्र का वन्दना के द्वारा हम आह्वान करते हैं। वे हाथ में श्रेष्ठ औषधियों को धारण किये हमें शान्ति सुरक्षा और आश्रय प्रदान करें<sup>2</sup>। यहाँ स्त्र को वराह कहा है जिन्होंने सब औषधियों की जननी पृथ्वी को हाथ में ले रखा हो।
3. महाभारत के अनुसार पृथ्वी का अपने स्थान से हटना महत्त्वपूर्ण है तथा यह ज्योतिष के तथ्यों को सूचित करता है। पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है तथा सूर्य से आकर्षण शक्ति की वजह से ही उससे एक निश्चित दूरी तथा अपना स्थान बनाये रखती है। पृथ्वी का अपने स्थान से हटने का मतलब है प्रकृति विस्फोट कार्य होना जो कि एक बहुत बड़े विप्लव या फिर अतामयिक प्रलय का कारण बन सकता है। उससे बचने के लिये जरूरी है कि पृथ्वी अपनी कक्षा में ही बनी रहे या फिर हटने पर उसे पुनः अपने स्थान पर ला दिया जाये। इस तरह वराह वह भागवत् शक्ति, वैश्व शक्ति या नियामक शक्ति है जिसके द्वारा पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती हुई भी अपनी

1. दृष्टव्य पृ० सं०

2. दिव्योवराहमखं कपर्दिनं- - - - -॥ श्र० १.११४.५

कक्षा में बनाई रखी जाती है । वहाँ पर उसकी व्युत्पत्ति फिर वही होगी वरम् आहरति इति वराहः । अब किस कारण से पृथ्वी अपनी कक्षा से हटती है इसके विषय में अवधारणाएँ समयानुसार बदलती रहती हैं । कहीं उसका कारण जल में डूबा हुआ होना है कहीं उस पर प्राणियों का अतिशय आधिक्य होना है तो कहीं दानवों का अत्याचार अर्थात् अधर्म की प्रवृत्ति का बढ़ना है ।

4. महाभारत में वेदों के समान सृष्टि-प्रक्रिया की अपेक्षा पृथ्वी की स्थिति पर बल दिया है इसी लिये वराह से सम्बन्ध प्रायः प्रजापति से हैं जो कि जगत की स्थिति के लिये होता है परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि महाभारतकार यह परिवर्तन निराधार कर लेता है । ऋग्वेद में कुचरः आदि । विशेषणों द्वारा उनके वराह रूप की प्रकल्पना की गयी है, सम्भवतः उसी को आधार मानकर महाभारतकार वराह का सम्बन्ध विष्णु से स्थापित करता है तथा उसे विष्णु के अवतार के रूप में उपस्थापित करता है । इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में एक मन्त्र में वराहवतार के आख्यान के आगे विकसित होने वाले बहुत से तत्त्व विद्यमान हैं ।



### वामन अवतार आख्यान

#### संहिता सम्बन्धी विवरण

भगवान् विष्णु के वामन अवतार का अंकुरण ऋग्वेद में ही हो जाता है । यद्यपि वहाँ वामन अवतार का स्पष्ट उल्लेख नहीं है परन्तु उनके द्वारा तीन पदक्रमों का रखा जाना, तीन प्रकार से विचक्रमणा करते हुए सारे जगत को व्याप्त कर लेना जैसी विशिष्टताओं का वैदिक संहिताओं में स्थान-स्थान पर उल्लेख है<sup>1</sup>। ऋग्वेद 1.154. 2 में कहा गया है कि विष्णु के इन्हीं विस्तृत चरणा न्यासों के अन्तर्गत सम्पूर्ण लोक विभ्रम करते हैं<sup>2</sup>। मधु से पूर्ण तीन पदक्रमों में से जो तीसरा सबसे ऊपर है वह तो मधु का अनन्त स्रोत ही है<sup>3</sup>। जो कि मानवी दृष्टि तथा पक्षियों की उड़ान से बाहर है<sup>4</sup> तथा जो यक्ष के समान आकाश में स्थित दिखाई देता है ।<sup>5</sup>

वाजसनेयी संहिता में विष्णु के इन पदक्रमों को आकाश, पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष से सम्बद्ध बताया है ।<sup>6</sup> तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि विष्णु ने अपना तृतीयांश पृथ्वी में स्थापित किया, तृतीयांश अन्तरिक्ष में और इतना ही आकाश में<sup>7</sup>। मैत्रायणी संहिता में विष्णु के निमित्त ह्रस्वाकार पशु के आलम्बन का तथा खर्वाकृति वृषभ दक्षिणा में देने का विधान है ।<sup>8</sup>

1. इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूहमस्य पाँसुरे ॥

ऋ0 1. 22. 7, वा0 सं0 5-15, 34-43 सा0 वे0 2. 1020 अ0 वे0 7. 20. 5

यः पार्थिवानि विमने रजासि- - - विचक्रमाणास्त्रेधोऽस्त्राय ॥ ऋ0 1. 154. 7

2. यत्पयोस्त्रु त्रिषु विक्रमणेषु अधि- - - ॥ ऋ0 1. 154. 2 ॥

3. विष्णोः पदे परमे मधुवः उत्सः- - - ॥ ऋ0 1. 154. 7 ॥

4. तृतीयमस्य न किरा दधर्षति- - - ॥ ऋ0 1. 155. 5 ॥

5. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति- - - ॥ ऋ0 1. 22. 20 ॥

6. दिवि विष्णुर्व्य कृतं जागतेनुच्छन्दसा- - - ॥ वा0 सं0 2. 25 ॥

द्विषो वा विष्णु उत वा पृथिव्या - - - ॥ वा0 सं0 5. 19 ॥

7. स विष्णुस्त्रेधा आत्मानुं विन्यधत्- - - ॥ तै0 सं0 2. 4. 12 ॥

8. देवाश्च वा असुराश्चास्पर्धन्ति- - - ॥ मै0 सं0 2. 5. 3 ॥

### ब्राह्मण सम्बन्धी विवरण

ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु द्वारा अपने तीन घरण न्यासों से क्रमशः त्रिलोकी वेद तथा पाक् को जीतने का वर्णन है। इन्द्र बटवारे के समय असुरों को विष्णु के पदक्रमों से अवशिष्ट भूमि देने का वचन देते हैं लेकिन बाकी कुछ बचता ही नहीं।<sup>1</sup>

शतपथ ब्राह्मण में अनेक स्थलों पर देवों के कार्य के लिये विष्णु द्वारा पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश को एक-एक पदक्रम से व्याप्त कर लेने का उल्लेख है। यहीं राजसूय यज्ञ के अवसर पर व्याघ्र चर्म पर राजा के लिये तीन पग चलने का विधान है क्योंकि इन विष्णु पदक्रमों का अनुकरण करने से राजा भी इन सब लोकों से ऊपर हो जाता है पहले वह इनके भीतर ही था।<sup>2</sup>

शतपथ ब्राह्मण में इसी सम्बन्ध में एक संक्षिप्त आख्यान आया है जिसमें असुरों से दुर्बल पड़ने पर देवता वामन रूप विष्णु को लिटा कर उन्हें छन्दों से घेर कर विष्णु रूपी यज्ञ की उपासना द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी को प्राप्त करते हैं<sup>3</sup>। इस प्रकार ब्राह्मणों में विष्णु के वामनत्व तथा त्रिविक्रमत्व का पृथक्-पृथक् उल्लेख है। त्रिविक्रमत्व की अवधारणा वैदिक है एवं वामनत्व की ब्राह्मणकालीन।

### महाभारत में वामन अवतार

महाभारतकाल तक विष्णु का अपने तीन घरण न्यासों द्वारा त्रिलोक को नापने अथवा जीतने के आख्यान का उल्लेख महाभारत में यत्र तत्र विकीर्ण रूप में प्राप्त होता है साथ ही वनपर्व तथा शान्तिपर्व में इससे सम्बन्धित संक्षिप्त कथाएँ

1. इन्द्रश्च ह वै विष्णुश्च आसुरैः युयुधाते । तान् ह स्म जित्वा उचतु

कल्पामहे - - - - -॥ २० ब्रा० 6. 3. 7 ॥

2. अथेनमन्तरेव शार्दूलचर्मणि विष्णुकृमान् क्रमयति- - - - -

इमे वै लोका विष्णोर्पिक्रमणाम्- - - - -॥ श० ब्रा० 5. 4. 2. 6

3. देवाश्च वाऽसुराश्च उभये प्राजापत्याः पशूधिरे- - - - -॥ श० ब्रा० 1. 2. 5. 1

भी उल्लिखित हैं जिनका क्रमशः संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है-----

वनपर्व में कहा गया है कि वामनवतार के समय वह कश्यप जी के तेजस्वी पुत्र के रूप में अदिति द्वारा उत्पन्न हुए थे । वे वक्षस्थल में श्री वत्स चिन्ह से विभूषित ब्राह्मण का रूप धर कर दानवराज बलि की यज्ञशाला में जाकर उसके अनुन्य करने पर तीन पग पृथ्वी माँगते हैं तथा तीन पग में तीनों लोक नाप कर देवराज इन्द्र को दे देते हैं ।<sup>1</sup>

शान्तिपर्व में भगवान् कृष्ण नारद जी को विश्वरूप दर्शन देकर उन्हें अपने भविष्य में होने वाले अवतारों के विषय में बताते हैं । यहाँ वर्णित वामन-वतार विषयक चर्चा वनपर्व के ही समान है<sup>2</sup> ।

महाभारत विष्णु सहस्र नाम में विष्णु को त्रिधामा तथा त्रिधातु विशेषणों से युक्त बताया है ।

महाभारतकार द्वारा वैदिक आख्यान में किये गये परिवर्तन एवं उनका प्रयोजन

1. ब्राह्मण ग्रन्थों में त्रिविक्रमत्व की अवधारणा जब अत्यन्त परिपक्व थी तभी विष्णु के वामन रूप की अवधारणा का शनैः शनैः उद्भव हुआ परन्तु ब्राह्मणों में कहीं भी दोनों अवधारणाओं को मिलाकर उसे एक आख्यान का रूप नहीं दिया गया है । विष्णु के त्रिविक्रमत्व तथा वामनत्व की मान्यताओं का एकीकरण महाभारतीय आख्यान को सुसम्बद्ध रूप प्रदान करता है । ब्राह्मणों में जहाँ कहीं भी दैत्यों से त्रिलोकी का राज्य छीनने की बात आयी है वहाँ देवताओं के द्वारा इस प्रक्रिया को यज्ञ की सहायता से ही पूर्ण किया है । वहाँ कहीं भी तीन पदक्रमों द्वारा पृथ्वी नाप कर दैत्यों से उसका राज्य छीनने की बात नहीं आयी है । महाभारतकाल में चूँकि यज्ञादि कर्मकाण्डों के प्रति विश्वास घट रहा था अतः वहाँ विष्णु के त्रिविक्रमत्व को वामनत्व

1. महेTO 3-272 62-70

2. वही 12-339. 79-83

के साथ जोड़ने की आवश्यकता हुयी तथा देवगणा यज्ञों के द्वारा नहीं अपितु विष्णु के तीन पदक्रमों द्वारा त्रिलोकी का राज्य पाते हैं ।

2. निरुक्त में ऋग्वेद 1. 22. 17 की व्याख्या करते हुए आचार्य यास्क ने इस सम्बन्ध में अपने पूर्व के दो वैदिक विद्वानों शाकपूणि तथा और्णवाभ के मत का उल्लेख किया है<sup>1</sup> तथा दुर्गाचार्य ने उनके मत की व्याख्या की है जिससे स्पष्ट होता है कि यास्क और उसके पूर्वजों के अनुसार विष्णु भौतिक सूर्य का ही आधिदैविक रूप है । शाकपूणि का मत है कि पृथ्वी पर अग्नि रूप से अन्तरिक्ष में विद्युत रूप से तथा द्युलोक में विद्युत रूप से विष्णु के तीन पदक्रम स्थापित हैं तथा और्णवाभ के मतानुसार प्रातः मध्याह्न तथा संध्या में सूर्य की क्रमशः उदयाचल, मध्याकाश तथा अस्ताचल पर स्थिति ही विष्णु के तीन पदक्रम हैं । एक पद उसका पूर्व दिशा में पड़ता है दूसरा मध्याकाश तथा तीसरा पश्चिम के क्षितिज पर ।

महाभारतकार भी विष्णु के इस सूर्यात्मक रूप से सर्वथा अपरिचित नहीं थे । इसका परिचय विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र में आये विष्णु के नामों से होता है जहाँ आदित्य, मरीचिः शिपिविष्ट प्रतापनः भास्करघृति, भानुः, हिरण्यगर्भ, उग्रः, गभस्तनेभि, सहस्र्रांशुः आर्यिष्मान्, सहस्र्रार्यि, रविः, विरोचन्, सूर्यः, सविता, रविलोचन ज्योतिः आदि ऐसे नामों का प्रयोग विष्णु के लिये किया गया है जो सूर्य के लिये अधिक प्रख्यात हैं<sup>2</sup>। इन नामों का महाभारतकार द्वारा विष्णु के लिये प्रयोग विष्णु और सूर्य में वही तादात्म्य स्थापित कहता है जो कि वेदों में किया गया है । परन्तु महाभारतकार वामनवतार आख्यान में विष्णु के इस रूप को चर्चा इसलिये नहीं करते क्योंकि आख्यान में उतने ही अंश की चर्चा की गयी है जितनी कि प्रश्नकर्ता को अभिप्रेत है ।

1. यदिदं किंच तद् विक्रमते विष्णुः । त्रैधा निधते पदम् त्रैधा भावाय पृथिव्या-  
मन्तरिक्षे दिवि इतिशाकपूणि । समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसि इति  
और्णवाभः- - - - - ॥ नि० १२-१९
2. विष्णुरादित्यः । कथमित्याह । त्रैधानिदयेपदम् । निधतेपदम्- - - - -
3. महाभारत १३. १४९ विष्णु सहस्रनामस्तोत्र ॥

### च्यवन सुकन्या आख्यान

#### संहिताओं में प्राप्त विवरण

च्यवन भार्गव ऋग्वेद 10/19 के ऋषि हैं। इनके नाम का उल्लेख तो ऋग्वेद में कई स्थलों पर उपलब्ध होता है तथा कुछ मन्त्रों में आख्यान की प्रमुख घटनाओं का भी उल्लेख हो गया है जैसे च्यवन द्वारा यौवन प्राप्ति तथा अश्विनी कुमारों द्वारा मधुविद्या ग्रहण करना। ऋग्वेद में जहाँ कहीं भी च्यवन द्वारा यौवन प्राप्ति तथा विवाह का उल्लेख है वे सूक्त अश्विनीकुमारों के भेषज्य से सम्बन्धित हैं। वैदिक साहित्य में अश्विनीकुमारों की वैद्य के रूप में ख्याति है तथा उन्होंने रोगियों की चिकित्सा भी की है। ऋ0 1.116.10 में च्यवनाख्यान के मुख्य तत्त्वों को प्रतिपादित किया गया है।

ऋग्वेद के कुछ अन्य मन्त्रों में च्यवन द्वारा यौवन प्राप्ति की घटनाओं का तो उल्लेख किया ही है साथ ही "उतत्प दवाँ जुस्ते अश्विता भूच्यवानाय प्रतीत्यं हविर्दे" में च्यवन के हव्यदाता होने का भी स्पष्ट उल्लेख है। जिससे ज्ञात होता है कि इस घटना से पूर्व अश्विनीकुमार यज्ञ में अपने भाग के अधिकारी न थे। बाद में च्यवन ने अपनी सामर्थ्य से यह अधिकार प्राप्त कराया और यह घटना आख्यान की श्रृंखला में एक मुख्य कड़ी बनकर जुड़ गयी। ऋग्वेद 1.116 में दध्यद्वा ऋषि द्वारा अश्व तिर से अश्विनीकुमारों को मधुविद्या प्रदान करने का उल्लेख है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि ऋग्वेद में च्यवनाख्यान से सम्बद्ध घटनाओं का विभिन्न मन्त्रों में उल्लेख हो गया है तथा इन विच्छिन्न मन्त्रों के कथा सूत्रों को सम्बद्ध कर देने से आख्यान की संक्षिप्त रूपरेखा भी हमारे समक्ष आ जाती है जैसे ऋषि च्यवन का वार्षक्य, अश्विनोद्वारा उन्हें यौवन प्रदान किया जाना, कन्याओं का पति होना तथा प्रत्युपकार में यज्ञ में तोमपान का अधिकारी बनाना। इसी तोमपान की घटना से मधुविद्या ग्रहण करने की कथा के साथ भी अन्विति बैठाई जा सकती है।

### तैत्तिरीय संहिता

तैत्तिरीय संहिता में अश्विनी कुमारों द्वारा यज्ञ के शीर्ष को पुनः स्थापित करने तथा बहिष्कृतमान से शुद्ध होकर यज्ञ में भाग प्राप्त करने का उल्लेख है<sup>1</sup>। जो उद्देश्य ऋग्वेद की मधुविद्या का है वही तैत्तिरीय संहिता के वर्णन का भी है अन्तर केवल इतना है कि वह कथा का शास्त्रात्मक रूप है तो वह क्रियात्मक। वहाँ वे यज्ञ में भाग निर्धारण का यद्वि उपाय जान लेते हैं तो यहाँ वे यज्ञ में अपना भाग ग्रहण कर लेते हैं<sup>1</sup>।

### ब्राह्मण ग्रन्थों में आख्यान का रूप

स्तरेय ब्राह्मण में महाभिषेक विधि प्रसंग में कहा गया है कि भृगुपुत्र च्यवन ने मनुपुत्र शर्यात का अभिषेक किया और शर्यात ने सम्पूर्ण पृथ्वी को विजित कर अश्वमेध यज्ञ रचाया। देवताओं के यज्ञ में यह शर्यात गृहपति हुआ<sup>2</sup>।

शातपथ ब्राह्मण में यह आख्यान व्यवस्थित सुतम्बद्ध तथा विशद रूप में वर्णित हुआ है। ऋग्वेद में जो तथ्य अस्पष्ट अथवा संक्षिप्त थे उनका स्पष्टीकरण यहाँ कर दिया गया है<sup>3</sup>।

1. यज्ञस्य शिरः अधिष्ठतं ते देवा अश्विनौ तक्षुवन भिषजौ वै स्थः इदं यज्ञस्य शिरः प्रत्ययतम् इति । तौ अब्रूताम् वरं वृणावहे । गृहा एवं नौ अत्रापि गृह्यताम् इति ताभ्यामेतत् आश्विनम् - - - - - ॥ तै० सं० 6. 4. 9. 1-2

2. ब्रह्मणे महाभिषेकेण च्यवनो भार्गवः शार्यात अभिषिष्ये ।

तस्माद् शार्यातां मानतः समस्तं सर्वतः पृथिवीं जयन् ॥

परीयायाश्व मेधेन च मेधेनेज । देवानां हापि सत्रे गृहपति रात - - - ॥

ऐ० ब्रा० 8. 4. 2।

3. श० ब्रा० 4. 1. 5. 1--15

### शतपथ ब्राह्मण में वर्णित आख्यान की मुख्य-मुख्य

#### बातें तथा ऋग्वेद से उनका अन्तर

1. शतपथ ब्राह्मण में वर्णित आख्यान एक प्रकार से ऋग्वेद में उल्लिखित अति संक्षिप्त कथासूत्रों को विस्तृत रूप प्रदान करने वाला है। वहाँ च्यवन के वंश पर प्रकाश डालने के लिये भार्गव तथा अंगिरस दो विशेषण जोड़ दिये गये हैं<sup>1</sup>। भृगु पुत्र होने से च्यवन का भार्गववंशी होना तो युक्तियुक्त जान पड़ता है किन्तु अंगिरस विशेषण के प्रति जिज्ञासा शेष रह जाती है गोपथ ब्राह्मण में भृगु की उत्पत्ति के विषय में एक कथा कही गयी है। जहाँ बताया गया है कि ब्रह्देव के स्थूलित रेतस् के स्निग्ध भाग से भृगु तथा बुरदुरे भाग से अंगिरा का जन्म हुआ<sup>2</sup>। इससे स्पष्ट है कि च्यवन का पारस्परिक स्नेह अंगिरा से भी सम्बन्ध है। संभवतः इसी दृष्टिकोण से उन्हें अंगिरसवंशी भी कहा गया है। इस प्रकार से यह विशेषण उनके वंश के सूचक है।
2. यहाँ पर वर्णित च्यवन का जीर्ण शीर्ण रूप ऋग्वेद के समान है किन्तु उन्हें अनर्थकारी सम्झते हुए कुमारों का उन पर टेलों से प्रहार करना तथा मुनि का गोपालों को संज्ञाशून्य बनाकर दल में पारस्परिक द्रोह उत्पन्न करना एक भिन्नता है।
3. ऋग्वेद में हमें शर्मात् मानव तथा च्यवन का पारस्परिक सम्बन्ध वर्णित नहीं मिलता। इससे पूर्व ऐतरेय ब्राह्मण में च्यवन शर्मात् का अभिषेक करते बताये गये हैं। शतपथ ब्राह्मण में शर्मात् मानव मुनि के प्रति किये गये कुमारों के व्यवहार को सुनकर उनके पास जाते हैं तथा अपनी पुत्री सुकन्या को जाति के

1. अनुशा० 51-55

2. गोपथ ब्रा० 1. 3

कल्याण के लिये उन्हें प्रदान करते हैं ।

4. शतपथ ब्राह्मण में हुआ सुकन्या तथा अश्विनीकुमारों का साक्षात्कार आख्यान की निजी मौलिकता है तथा च्यवन के निर्देश से उन्हें उनकी अपूर्णता बताने से पूर्व युवा करा लेना भी यहाँ की सर्वथा नवीन अवधारणा है ।
5. यौवन प्राप्ति के लिये च्यवन के सरोवर में प्रविष्ट हो युवा होने का सिद्धान्त सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में ही प्रतिपादित हुआ है ।
6. यौवन प्राप्त कर प्रत्युपकार में अश्विनी कुमारों को यज्ञ में तोम भाग के अधिकारी होने का केवल मात्र उपाय बता देते हैं, यह जानकर अश्विनीकुमार कुक्षेत्र में हो रहे यज्ञ में अपना भाग माँगते हैं किन्तु देवता उन्हें अशुद्ध बताकर यज्ञ में भाग देना अस्वीकार कर देते हैं ।

#### ब्राह्मणों में आख्यान का स्वरूप

जैमिनीय ब्राह्मण में वास्तुपत्य ब्राह्मण के ज्ञानचर्चा प्रसङ्ग में सुकन्या के आख्यान का वर्णन विस्तार से हुआ है जो स्वरूप में शतपथ ब्राह्मण से पर्याप्त मात्रा में साम्य रखता है किन्तु जैमिनीय ब्राह्मण का आख्यान शतपथ ब्राह्मण के आख्यान की अपेक्षा अधिक विस्तृत व व्यवस्थित है<sup>1</sup>

ताण्ड्य या षड्विंश ब्राह्मण में भी यह आख्यान संक्षिप में वर्णित है<sup>2</sup>।

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में शर्याति के केवल यज्ञ का उल्लेख हुआ है<sup>3</sup>।

निरुक्त में च्यवन शब्द के प्रसङ्ग में आख्यान के कुछ तथ्यों का संक्षिप में संकेत मात्र दिया गया है<sup>4</sup> । बृहद्देवता में महर्षि दध्यङ्ग द्वारा अश्विनीकुमारों को मधुविषा

1. च्यवनो वै भार्गवो वास्तुपत्य ब्राह्मणम् अवेत् । स पुतान् अब्रवीद- - - - -

तं मा वास्तो निधाय - - - - - ।। जै० ब्रा० ३. १२०-१२८

2. च्यवनो ह वो दाधीचोऽश्विनो प्रिय आसीत्- - - ।। ता० ब्रा० १४. ६. ।।

3. जै० उ० ब्रा० ४. ७. ।

4. च्यवन ऋषिर्भवति च्यावयिता स्तामानाम्- - - ।। नि० ४. १९ ।।



दिये जाने का वर्णन मिलता है<sup>1</sup> ।

### महाभारत में आख्यान का स्वरूप

महाभारत आदिपर्व में च्यवन ऋषि के जन्म एवं नामकरण से सम्बन्धित विषय सामग्री की उपलब्धि होती है यहाँ आख्यान का प्रमुख कथ्य यह है कि महर्षि च्यवन जब गर्भ में पल रहे थे तब पुलोमा नाम का दानव उनकी माता का हरण करके चला तो गर्भ च्युत हो गया इसी कारण इस बालक का नाम च्यवन पड़ा ।

वनपर्व के तीर्थयात्रा प्रसङ्ग में च्यवन-सुकन्या आख्यान अत्यन्त विस्तार के साथ आया है । अनुशासन पर्व में च्यवन के सुकन्या से सम्बद्ध पहलू पर प्रकाश नहीं पड़ा है अपितु उनकी यौगिक शक्ति पर प्रकाश डालने के लिये च्यवन के वृताचरणा तथा च्यवन द्वारा राजा रानी को पहुँचाई जाने वाली पीड़ाओं का वर्णन हुआ है ।

### वैदिक आख्यान पर महाभारतकार द्वारा की गयी नवीन उद्भावनाओं का

#### प्रयोजन

1. वनपर्व में महर्षि च्यवन पर वल्मीकादि बनने की स्थिति तोद्देश्य निर्मित की गयी है । सुकन्या च्यवन के प्रति ऐसी ही स्थिति में अपराध कर सकती थी । वह नहीं जानती थी कि उस बाँबी में कोई तपस्वी है । यही कारण है कि वह ऋषि के नेत्रों को जुगनु समझ कर क्षति पहुँचाती है ।
2. ब्राह्मणों में सुकन्या के प्रति हुए अपराध के प्रति कवि विशेष जागरूक नहीं लगता है । ब्राह्मण ग्रन्थों में राजकुमार च्यवन ऋषि के ऊपर देलों से प्रहार करके अपराध करते हैं तब भी अधिक दण्ड वहाँ सुकन्या भोगती है और अल्प दण्ड राजकुमारों व अन्य व्यक्तियों के द्वारा भोगा जाता है तथा निरपराध

---

1. प्रादाद ब्रह्मपि सुप्रीतः सुतायतदथर्वणाः स चाभव दुषिस्तेन ब्रह्मणा दीप्ति-  
मन्तरः- - - - - निमज्जति ।। बृ०दे० ३.१६.२४ ।।

होते हुए भी बुद्ध एवं जीर्ण व्यक्ति को पति रूप में स्वीकार करना पड़ता है । वनपर्व में आकर कवि ने सुकन्या से मुनि के प्रति अपराध कराकर एक उचित स्थिति उत्पन्न कर दी है जिसमें सुकन्या अपने द्वारा किये गये अपराध की तुलना में न्यायपूर्ण व्यवहार प्राप्त करती है और उसके दुर्व्यवहार का दुःख सैनिकों को भोगना पड़ता है । इस प्रकार औचित्य का निर्वाह करने के लिये महाभारतकार ने सुकन्या से अक्षय्य अपराध कराया है ।

3. वनपर्व में महाभारतकार ने श्रुषि के प्रति अपराध राजकुमारों की अपेक्षा सुकन्या द्वारा करवाना भी इसलिये अधिक उचित समझा होगा ताकि श्रुषि द्वारा सुकन्या का माँगा जाना भी औचित्यपूर्ण लगे क्योंकि नेत्रहीन हो जाने के कारण सेवा-गुलामी के लिये उन्हें अब एक सहारे की आवश्यकता थी और पत्नी से अधिक सबल सहारा और कोई नहीं हो सकता था । ब्राह्मण ग्रन्थों में श्रुषि मात्र घायल हुए थे नेत्रहीन नहीं । ऐसी स्थिति में किसी सहारे की अधिक आवश्यकता न होते हुए भी वह युवती कन्या से विवाह करते हैं जो उनको चरित्रगत कमजोरी सिद्ध करता है ।
4. श्रुषि द्वारा सुकन्या को माँगे जाने अथवा शर्याति द्वारा कन्या श्रुषि को स्वयं प्रदान किये जाने के सम्बन्ध में महाभारतकार ने मध्यम रवैया अपनाया है । वनपर्व में श्रुषि सुकन्या को राजा से माँगते तो हैं परन्तु यहाँ सुकन्या के पतिव्रत भाव को शतपथ ब्राह्मण के समान ही रखते हुए श्रुषि की पारिवारिक कमजोरी को कुछ हद तक छिपाया जा सका है । क्योंकि यहाँ सुकन्या जैमिनीय ब्राह्मण के समान श्रुषि के पास न रुक कर घर जाने का आग्रह नहीं करती अतः यहाँ श्रुषि को कृष्ण सर्प द्वारा सुकन्या को रोकने जैसा गलत कदम नहीं उठाना पड़ता ।
5. ब्राह्मण ग्रन्थों में ध्यवन अल्पतः सिद्ध श्रुषि होते हुए भी श्रुषित्व की मर्यादा से इतना घ्युत हो गये हैं कि महाभारतकार ने वनपर्व में इस मर्यादा को बनाने के लिये कुछ ऐसे कथासूत्रों को जोड़ना आवश्यक समझा । इसी लिये यहाँ

अश्विनीकुमारों को अपेक्षाकृत अधिक निःस्वार्थ तथा श्रद्धा च्यवन को उनके प्रति कृतज्ञ प्रदर्शित किया गया है। इसी कड़ी में इन्द्र द्वारा च्यवन की कीर्ति के लिये च्यवन द्वारा अपनी भुजा स्तम्भित करवाने तथा कृत्या उत्पन्न करवाने जैसे तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं।

6. वनपर्व में मधुविद्या वृत्तान्त के अभाव का कारण यह हो सकता है क्योंकि ब्राह्मण युग यज्ञीय कर्मकाण्डों का युग था। इसी लिये यज्ञीय भाग निर्धारित करवाने में अश्विनीकुमारों को इतना प्रयत्न करना पड़ा। तथा वेदोत्तर युग में आकर यज्ञ को इतना महत्त्व नहीं मिला। शर्मा के यज्ञ में च्यवन अपने प्रताप से अश्विनो का यज्ञ भाग निर्धारित करा देते हैं। च्यवन का यह आख्यान भी देवताओं पर श्रद्धियों के बढ़ते प्रभाव का सूचक है।
7. वनपर्व के इस वृत्तान्त से इन्द्र का निर्बल किन्तु परोपकारी रूप देखने को मिलता है। वे अन्त में च्यवन को बताते हैं कि उनकी कीर्ति के लिये उन्होंने यह स्थिति उत्पन्न की थी। ब्राह्मण ग्रन्थों में अश्विनीकुमार च्यवन के प्रति उपकार तो नहीं करते किन्तु वे अश्विनीकुमारों का शर्तपूर्ण स्थिति के कारण उनके प्रति उतना कृतज्ञतापूर्ण व्यवहार नहीं करते। वे अश्विनीकुमारों को सोमपायी होने का केवलमात्र उपाय बताते हैं तथा प्रयत्न उनके निजी होते हैं। वे कुक्षेत्र में हो रहे यज्ञ का सिर स्थापित करने के लिये इन्द्र की आपत्ति के उपरान्त भी पहले दध्यङ्ग से मधुविद्या ग्रहण कर लेते हैं तथा यज्ञ में अपना भाग निर्धारित करा लेते हैं।
8. ब्राह्मण ग्रन्थों में कृत्या की उत्पत्ति तथा उसके मद्यपान, स्त्री, घृत व मृगया में स्थापित किये जाने का कोई उल्लेख नहीं है। वनपर्व में इस घटना की संयोजना आख्यान की निजी मौलिकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वनपर्व में आकर मधुविद्या के वृत्तान्त को सर्वथा त्याग दिया गया है।

### सौपणाख्यान

यह आख्यान सोम से सम्बन्धित है। सोम पृथ्वी स्थानीय देवता माने जाते हैं। ऋग्वेद के नवम मण्डल में सभी सूक्त सोम के प्रति ही समर्पित हैं सोम एक विशेष प्रकार की लता से निकाला जाने वाला आनन्द एवं स्फूर्तिदायक तथा बलवर्धक पेय था। सोमयागों का वैदिक कर्मकाण्डों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इन यागों में दिन में तीन बार प्रातः मध्याह्न और सांय सोम का सेवन करके वैदिक देवताओं का तदनुसार विभाजन करके प्रत्येक समूह को सोमपान के लिये आमन्त्रित किया जाता था। इसी सोम से सम्बद्ध कुछ तथ्यों का विकास परवर्ती साहित्य में हुआ और इसे अन्ततः सौपणाख्यान कहा जाने लगा। संहिताओं में इससे सम्बन्धित जो विवरण प्राप्त होता है वह इस प्रकार है।

### संहिताओं में प्राप्त विवरण

#### ऋग्वेद

ऋग्वेद में सोम यद्यपि पृथ्वी स्थानीय है तथा उसकी उपस्थिति मुंजवत पर्वत पर मानी गयी है<sup>1</sup> परन्तु उसे दिव्य भी कहा गया है<sup>2</sup> तथा इसका वास परम व्योम में है<sup>3</sup> जहाँ से एक श्येन ने इसको पृथ्वी पर लाया है। यह श्येन तीक्ष्णगामी तथा सुन्दर पंखों से युक्त है<sup>4</sup>। मन के समान वेग वाले सुपर्ण ने एक लौहमय दुर्ग को भग्न किया और वे इन्द्र के लिये सोम को पृथ्वी पर लाये। सोम लौहपुरों के

1. सोमस्येव मौजवतस्यं भूक्षी- - - - -॥ ऋ० १०. ३५. १ ॥

2. अत्रैव वोऽपि नह्याभ्युमे आत्नो हव ज्यया - - - - -॥ ऋ० १०. १६६. ३ ॥

3. पदं यदस्य परमे व्योमन् यतो विश्वा- - - - -॥ ऋ० १०. १८७. १५ ॥

4. श्येनो यदन्धो अमरत् परावतः- - - - -॥ ऋ० १०. १६८. ६ ॥

मध्य सुरक्षित था किन्तु श्येन ने अपने वेग से सबको तोड़ दिया<sup>1</sup> । श्येन ने जाकर इन्द्र के लिये सोम के मधुसूक्त अंश को तोड़ दिया और उसे अपने पंजों में दबाकर पृथ्वी पर ले आया<sup>2</sup>। ऋग्वेद 4. 27. 3-4 में यह भी कहा गया है कि जब श्येन आकाश से सोम को ला रहा था तब कृशानु नामक धनुर्धारी ने उस पर बाण चलाया जिससे उसका पंख कट गया । एक मन्त्र में मातरिशवा द्वारा वृष्टि करने तथा श्येन द्वारा सोम को पृथ्वी पर लाने का साथ-साथ उल्लेख है<sup>3</sup> । ऋग्वेद में अन्य स्थलों पर भी सोम का सम्बन्ध जल अथवा पृथ्वी से घनिष्ठतया जोड़ा गया है<sup>4</sup> । संभवतः ब्लूमफील्ड इसी आधार पर आकाश से श्येन के पृथ्वी पर लाने की गाथा को जलवृष्टि का रूपक मानते हैं<sup>5</sup> ।

तैत्तिरीय संहिता में गायत्री, जगती और त्रिष्टुप् छन्दों द्वारा पक्षी रूप में उड़कर सोम को आकाश से लाने के प्रयत्न का वर्णन अत्यन्त रोचक बन पड़ा है<sup>6</sup>।

काठक संहिता में यह आख्यान तैत्तिरीय संहिता से बहुत ही कम अन्तरों के साथ प्रस्तुत है ।

शतपथ एवं श्वेतराय ब्राह्मणों में भी सौपर्णाख्यान संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट रूप से वर्णित है ।

#### महाभारत में सौपर्णाख्यान

महाभारत में यह कथा विस्तार से आयी है । जनमेजय के नागयज्ञ में ही महर्षि व्यास के शिष्य वैशम्पायन महाभारत की कथा सुनाते हैं । उस यज्ञ की भूमिका में ही उक्त आख्यान आया है । आख्यान का प्रमुख कथ्य यही है कि कश्यप ऋषि की पत्नी विमला के पुत्र गस्त्या आकाश से अमृत लाकर अपनी माता को सर्पों की

- 
1. शतं मा पुर आयुसी ररधुन्नथ श्येनो जुवता- - - -॥ ऋ0 4. 27. 1 ॥
  2. यं ते श्येनः पदाभरत् तिर्रो रजात्यत्पूतम्- - - -॥ ऋ0 8. 8. 9 ॥
  3. आन्य दिवो मातरिशवा जभारामथनादन्य परिश्येनो अद्रेः ॥ ऋ0 1. 93. 6 ॥
  4. पतिः सिन्धुना भवन्- - - -॥ ऋ0 9. 15. 6 ॥
  5. ब्लूमफील्ड, रिक्लीजन ऑफ द वेद, पेज 146
  6. ऋ0 6. 1. 5

माता कद्रु के दास्य भाव से मुक्त कराते हैं । इस प्रमुख कथ्य को प्रस्तुत करने के लिये जिन अवान्तर तथ्यों का प्रयोग किया गया है उनका उल्लेख यथास्थान किया जायेगा ।

महाभारतकार द्वारा वैदिक सौपणास्थान में किये गये परिवर्तनों के प्रयोजन

ऋग्वेद में सौपणास्थान का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है परन्तु वहाँ प्रायः सभी तथ्यों को सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत किया गया है । अतः वहाँ कोई भी आख्यान विस्तार प्राप्त नहीं कर पाया है । जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ कर्मकाण्ड प्रधान होने के कारण वेदोक्त मन्त्रों का अर्थ यज्ञपरक शैली में करते थे तथा ऋग्वेदादि के स्तुति प्रधान मन्त्रों को यज्ञ प्रधान बना देते थे उसी प्रकार महाभारत में भी वेद विहित तथ्यों की व्याख्या अथवा उनका विस्तार करते समय महाभारतीय अन्य तथ्यों से उनका सामन्वजस्य स्थापित करने के लिये उन्हें उसी रूप में ढाल दिया गया है ।

हस्तिनापुर नरेशा जन्मेजय को जब यह पता चलता है कि उसके पिता महाराज परीक्षित की मृत्यु नागराज तक्षक द्वारा इस लिये जाने पर हुयी थी तो वे क्रोध में आकर अनायास ही तीनों लोकों के नागों को नागयज्ञ की अग्नि में भस्म करने की प्रतिज्ञा कर लेते हैं । अब ऐसी स्थिति में महाभारतकार के लिये नागों के जन्म, उनके माता-पिता तथा उनके स्वभाव इत्यादि का भी परिचय देना आवश्यक हो जाता है जिसके लिये महाभारतकार वेदोक्त सौपणास्थान को चुनते हैं तथा उसमें तदनुरूप कुछ परिवर्तन भी कर लेते हैं । परन्तु वे ये परिवर्तन अकारण नहीं करते । वेद किसी न किसी रूप में उन परिवर्तनों को सहमति प्रदान करते हैं ।

1. ब्राह्मणों में कद्रु व सुपर्णा को क्रमशः वाक् तथा आकाश रूपिणी बताया है । महाभारतकार इन दोनों को क्रमशः सौपों व पक्षियों की मता बताकर वेदोक्त तथ्य का अनुसरण करते प्रतीत होते हैं । कद्रु पृथ्वी स्वरूपा तथा सपों की जननी है क्योंकि सौपों का जन्म पृथ्वी में ही होता है । उसी प्रकार

सुपर्णा को वाक् स्वस्था कहा है। भारतीय दर्शन के अनुसार शब्द के आकाश से सम्बद्ध होने के कारण विनता पक्षियों की माता है।

2. ब्राह्मणों में यज्ञ की प्रधानता होने के कारण वहाँ प्रायः सभी तथ्यों की व्याख्या यज्ञपरक होती है। इसी कारण इस आख्यान में भी कद्रु व विनता द्वारा देखे गये अश्व को शतपथ ब्राह्मण में यज्ञीय अश्व कहा गया है तथा इसी कारण ब्राह्मणों में सोम को परम व्योम से लाने वाला छन्द कहा गया है तथा सुपर्णा को छन्दों की माता। उसी प्रकार महाभारतकार द्वारा की गयी व्याख्यान इतिहास प्रधान होने के कारण वहाँ अश्व को समुद्र मन्थन से निकला ऐतिहासिक अश्व उद्यैश्रवा बताया गया है तथा ब्राह्मणोक्त छन्द रूपी पक्षियों को वास्तविक पक्षी विनता पुत्र गच्छा कहा है।
3. ब्राह्मणों में कद्रु को पृथ्वी स्वस्था बताया गया है। पृथ्वी क्योंकि माता के रूप में देखी जाती है तीनों लोकों का अनेक प्रकार से पालन करती है अत्यन्त सहनशील होती है अतः वहाँ यदि उसके स्वभाव में क्रूरता नहीं है तो यह पृथ्वी के स्वभाव के अनुस्यू ही है जबकि महाभारत में कद्रु साँपों की माता है। साँप तो स्वयं ही जहरीले तथा दया, विनम्रता आदि गुणों से रहित होते हैं। तो फिर साँपों की माता का तो छली और क्रूर होना स्वाभाविक ही है।
4. वेदोक्त सुपर्णा वाक् की प्रतीक है। वाक् आकाश का गुण है तथा आकाश का धर्म विनम्रता है। सम्भवतः इसी कारण महाभारतकार उसे विनता नाम देते हैं।
5. सोम अथवा अमृत और कुछ नहीं अपितु वेदों का सार तत्त्व है। वेद रूपी अथाह समुद्र का सूक्ष्म स्वाध्याय रूपी मधानी से मथने पर जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है वह अमृतत्व प्रदान करने वाला होता है। इस सार तत्त्व का ज्ञान असाधारण उपायों द्वारा ही सम्भव है। संभवतः वेदों में इसी तत्त्व को सोम तथा महाभारत में अमृत कहा गया है।

6. सोमरक्षकों की चर्चा करते समय महाभारतकार वेद एवं ब्राह्मणों का सम्मिलित रूप प्रस्तुत करते हैं। वेद में सोम को लौहनिर्मित पुरों के मध्य स्थित बताया है। उसके स्थान पर महाभारतकार ने लौहचक्र को लिया है। शतपथ ब्राह्मण में दीक्षा व तप को सोमरक्षक बताया है। महाभारत में उसके स्थान पर दो नागराजों को लिया है तथा प्रज्वलित अग्नि यज्ञाग्नि की प्रतीक है।
7. महाभारतकार द्वारा किये गये इस महत्वपूर्ण परिवर्तन से एक और महान् अन्तर दोनों आख्यानो में यह आ गया है कि वेद और ब्राह्मणों में जो आख्यान का स्वरूप है उसमें आध्यात्मिक तत्त्व का सन्निवेश है जो दीक्षा और तप शब्दों के माध्यम से सूचित होता है किन्तु महाभारत में इसका स्थान भयंकर सर्प व अग्नि द्वारा ले लिये जाने से महाभारत में यह तत्त्व लुप्त प्राय हो गया है।
8. ब्राह्मणों में वेद के ज्ञानामृत रूपी सोम को प्राप्त करने के साधन दक्षिणा, दीक्षा व तप को माना जाता था। अतः वहाँ दीक्षा व तप को सोम-रक्षक नियुक्त किया गया है जबकि महाभारतकार द्वारा इस आख्यान के प्रस्तुतीकरण का मुख्य उद्देश्य जनमेजय के नागयज्ञ की भूमिका प्रस्तुत करना है जो अपने आप में एक भयानक कृत्य है। अतः यहाँ सोमरक्षकों के रूप में सर्पों व अग्नि की उपस्थिति नागयज्ञ का पूर्वाभास प्रतीत होती है।
9. वेदों में ज्ञान प्राप्त करने के लिये देवताओं ऋषियों इत्यादि के समान सात्त्विक प्रवृत्तियों का होना आवश्यक है दानवी प्रवृत्तियों को इसका ज्ञान साधारण स्वाध्याय से नहीं हो सकता। अतः वे इसको पुराने के प्रयास करती हैं। महाभारत में सर्पों की माता कद्रु द्वारा अपने पुत्रों के लिये इस अमृत को मँगवाना भी इसी प्रकार के एक प्रयास का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है।
10. महाभारत में कद्रु अपने पुत्रों के लिये अमृत इसलिये मँगवाती हैं क्योंकि वह पहले ही अपने पुत्रों को अग्नि में भस्म होने का श्राप दे चुकी है तथा बाद में उस शाप के परिणाम पर विचार करके ही संभवतः उनके लिये अमृत मँगवाने का उद्योग करती है।



11. ब्राह्मणों में विश्वावसु द्वारा सोम का हरण वेदार्थ के हरण के प्रयास को दर्शाता है जबकि महाभारत में नागों के पात से इन्द्र द्वारा सोम का हरण बहुत सी वैदिक शाखाओं के लोप को प्रदर्शित करता है क्योंकि जैसे-जैसे पृथ्वी पर दानवी प्रवृत्तियों का आधिपत्य हुआ त्यों-त्यों वेदाध्ययन का महत्व घटता गया। वेदाध्ययन की कमी से वेदों का प्रचार-प्रसार रुक गया जिसके कारण बहुत सी वैदिक शाखाओं का लोप हो गया जिसका वर्णन यहाँ प्रतीकात्मक रूप से आख्यान में किया गया है।

12. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

श्रु 1.164.46 ॥

ऋग्वेद के इस मन्त्र का सौपर्णाख्यान से गहरा सम्बन्ध प्रतीत होता है। इस मन्त्र के "दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्" पद में गरुण को सुन्दर पंखों से युक्त तथा दिव्य बताया है। ऋग्वेद में सोम लाने वाले श्येन को सुपर्ण कहा गया है तथा शतपथ ब्राह्मण में जो सुपर्ण है तथा वाक् स्वस्था है महाभारत में उसी सुपर्ण को विनता तथा गरुण की माता कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि शतपथ ब्राह्मण में सुपर्ण तथा महाभारत में गरुण की अवधारणाओं का मूल उत्स ऋग्वेद के इसी मन्त्र में विद्यमान है।

महाभारतीय आख्यान में अमृत लाने का कार्य इन्द्र भी करते हैं तथा इस अमृत को सोम भी कहा है। उक्त मन्त्र में वस्तुतः जिसे "एकं सत्" कहा है वही सोम है, वही अमृत है तथा वेद स्वी अमृत का सारतत्त्व भी वही है। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि उसके वाचक हैं, प्रतीक हैं, ज्ञापक हैं तथा इस रूप में मानों पृथ्वी पर उस तत्त्व की अवतारणा करने वाले हैं। इस प्रकार इस आख्यान का तात्पर्य हुआ मूल वेदार्थ और वेद प्रतिपादित तत्त्व को सामान्य जन के लिये सुलभ बनाना। छन्द तथा देवता क्योंकि उस मूल वेदार्थ के ज्ञापक हैं इसी लिये उन्हें विविध रूपों में सोम की अवतारणा की कथा में सहायक के रूप में विनियुक्त किया गया है।

## नाचिकेतोपाख्यान

### संहिताओं में प्राप्त विवरण

#### ऋग्वेद

इस आख्यान का मूल उत्स ऋग्वेद 10.135 में मिलता है। इस सूक्त में सात मन्त्र हैं। इस सूक्त की व्याख्या करते समय स्वयं आचार्य सायणा ने नाचिकेतोपाख्यान के अनेक तत्त्व इसमें दूटे हैं जिससे ऋग्वेद में नाचिकेतोपाख्यान अपने मूल रूप में उपस्थित है, इस तथ्य की पुष्टि होती है। सायणा भाष्य के अनुसार इन मन्त्रों का आशय इस प्रकार है।

1. जिस छायादार वृक्ष के नीचे देवताओं के साथ वैवस्वत यम पान करता है वहीं पर हमारे पिता [आदित्य] पुराणा पुस्त्यों की कामना करते हैं<sup>1</sup>। इस मन्त्र के भाष्य में आचार्य सायणा कहते हैं कि नचिकेता नामक कुमार, पिता वाजश्रवत् के द्वारा यमलोक भेजा गया था। वह यम को देखकर उन्हें प्रसन्न करके पुनः इस लोक में लौट आता है। यमलोक में यम को प्रसन्न करने के लिये इस सूक्त का उच्चारण करता है।
2. नचिकेता ने यम से कहा कि जब मेरे पिता ने मुझसे पुराणा पुस्त्यों अर्थात् पूर्वजों के साहचर्य में रहने को कहा तो पिता के मन की इस पाप भावना का अनुभव करते हुए और कुछ ईर्ष्या की भावना के साथ मैंने उन्हें देखा और उनके लिये फिर कामना की<sup>2</sup>। यहाँ कठोपनिषद् में नचिकेता द्वारा यम से

1. यस्मिन्वृक्षे वृषत्वाशे द्वैः संपिबते यमः ।  
अत्रा नो विश्रपति! पिता पुराणो अनुवेनति ॥ अ० 10.135.1 ॥
2. पुराणा अनुवेनन्तुं चरन्तं पापया मुया ।  
असूयन्नुपचाकशुं तस्मा अस्पृह्यं पुनः ॥ अ० 10.135.2 ॥

माँगे गये प्रथम वरदान का आभास होता है जिसके अन्तर्गत उन्होंने यम से माँगा था कि पिता की ग्लानि दूर हो, उनका सर्वमिथ यज्ञ पूर्ण हो तथा जब मैं जाऊँ तो मुझे पहचान लें<sup>1</sup> ।

3. हे कुमार । जिस नये रथ का निर्माण तुमने मन से किया जो एक प्राणा से अनुप्राणित है चारों तरफ भ्रमण करने वाला है, आगे जाने वाला है और जिस पर तुम अज्ञानपूर्वक बैठे हो । इससे कठोपनिषद् का वह अंश पूर्वाभासित होता है जिसके अन्तर्गत आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी तथा मन की लगाम के रूप में कल्पना की गई है<sup>2</sup> ।
4. हे कुमार नाचिकेतस । तुमने मेधावियों के पास से जिस शरीर रूपी रथ को चलाया उसके पीछे-पीछे साम की ध्वनि होती रही और यहाँ से उसे नाव पर रखा गया<sup>3</sup> । इस मन्त्र के द्वारा कठोपनिषद् 1.1.25 में नाचिकेता को यम के द्वारा दिये जा रहे प्रलोभनों के उस अंश का पूर्वाभास होता है जहाँ यम द्वारा नाचिकेता को रथ और बाजों सहित रमणियाँ देने की बात कही गयी है<sup>4</sup> ।
5. कितने कुमार को बनाया कितने रथ को बनाया । इस बात को आज हमें कौन बतायेगा । यदि कोई हमें यह बात बता दे तो हम उसके श्रणी रहेंगे<sup>5</sup> । यहाँ संसार का रहस्य रथ का स्मक है । शरीर रूपी रथ को बनाने वाले

-----

1. शान्त संकल्पः सुमना यथा स्यादीतमन्युर्गोतमो माधि- - - ॥ कठो० 1.1.10
2. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव त ।  
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ कठो० 1.3.3 ॥
3. यं कुमारं प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि ।  
तं सामानुप्रावर्तत समितो नाव्याहितम् ॥ श्रु० 10.135.4 ॥
4. इमा, रामा सरथा सतूया, न ह्रीदृशा लम्बनीय मनुष्यै- - - ॥ कठो० 1.1.25
5. कः कुमारमजन्यद्रथं को निरवर्तयत् ।  
कः स्विस्तद्वप नो ब्रूयादनु देवो यथामवत् ॥ श्रु० 10.135.5 ॥

ब्रह्मतत्त्व आत्मतत्त्व के अणी रहेगी और यदि यह अर्थ सही है तो लक्षित होता है कि नचिकेता के द्वारा यम से पूछे गये तीसरे प्रश्न कि मृत्यु के बाद आत्मा रहता है या नहीं का यहाँ पूर्वाभास होता है<sup>1</sup> । कठोपनिषद् में आत्मा को शरीररूपी रथ का स्वामी बताया गया है<sup>2</sup> ।

6. क्योंकि हम सब उसके प्रति कृतज्ञ हैं इस सत्ते प्रकट होता है कि वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ जिसके प्रति हम आत्यन्तिक रूप से कृतज्ञ हैं उसे सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ होना चाहिए । सबसे पहले पेंदी थी उसी से विकास सम्पन्न किया गया<sup>3</sup> । इस मन्त्र में आदि तत्त्व के रूप में ब्रह्म को प्रतिपादित किया गया है जिसके प्रति सभी के कृतज्ञ होने की बात कही गयी है । जिस प्रकार से पात्र पेंदी की तरफ से बनाया जाता है तथा पेंदी पर ही उसका अग्रिम कलेवर निर्धारित होता है उसी प्रकार ब्रह्म पर सम्पूर्ण जगत् आधारित होता है ।
7. यह ब्रह्म का घर है । जिसे देवनिर्मित कहा गया है यह यम का वाघ बज रहा है और वह यमराज के घर उसके देवनिर्मित होने, वाघ के बजने तथा मन्त्रों के द्वारा पवित्र होने की बात आयी है<sup>4</sup> । कठोपनिषद् में भी यम के घर तथा वहाँ बजने वाले वाघों की चर्चा की गयी है ।

### ब्राह्मणों में प्राप्त विवरण

तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस आख्यान का संक्षिप्त किन्तु व्यवस्थित रूप मिलता है<sup>5</sup> ।

1. येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये स्तोत्येके नायमास्तीति चैके ।

एतद्विधामनु शिष्टस्त्वयाहं वराणामेव वरस्तृतीयः ॥ कठो १.१.२० ॥

2. आत्मानं रथिनं विद्धि - - - - - ॥ कठो १.३.३ ॥

3. यथाभवदनुद्यो ततो अग्रमयायत् ।

पुरस्तादबुध्न आततः पश्चान्निरयणाकृतम् ॥ अ० १०.१३५.६ ॥

4. इमं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते ।

इयमस्य धम्यते ना रयं गोर्धि परिष्कृतः ॥ अ० १०.१३५.७ ॥

5. उशान् ह वै वाजश्चस्त्वविदस ददौ - - - - ॥ तै० ब्रा०

कठोपनिषद् में इत आख्यान का सर्वाधिक व्यवस्थित रूप देखने को मिलता है<sup>1</sup>। तैत्तिरीय ब्राह्मण में आख्यान कर्मकाण्ड परक है तो कठोपनिषद् में वह आत्मज्ञान हो गया है।

### महाभारत में नाचिकेतोपाख्यान

अनुशासन पर्व में गोदान के फल के विषय में युधिष्ठिर को बताते हुए पितामह भीष्म कहते हैं—एक समय उदालक ऋषि ने यज्ञ की दीक्षा लेकर पुत्र नाचिकेतु से कहा कि तुम मेरी सेवा में रहो। एक बार ऋषि पुत्र को नदी के किनारे रखी यज्ञ एवं भोजन सामग्री लाने के लिये कहते हैं। नाचिकेता को वहाँ वह सब नहीं दिखाई देता क्योंकि वह तो सब नदी के वेग से बह गया था। नाचिकेता जब पिता से कहते हैं कि मुझे वहाँ कुछ दिखाई नहीं दिया तो भूख प्यास से पीड़ित होने के कारण शीघ्र क्रोधित हुए ऋषि नाचिकेता को शाप दे देते हैं कि "तुम यम को देखो"। इतना सुनते ही नाचिकेता मूर्छित हो जाता है तथा उदालक ऋषि भी शोकाकुल हो जाते हैं। पुरा दिन व रात्रि नाचिकेता कुश की घटाई पर मूर्छित हुआ पड़ा रहता है। तदन्तर पिता की अश्रुधारा से भीगकर वह कुछ हिलने डुलने लगता है तथा सोकर उठे हुए के समान उठता है। तब महर्षि उदालक अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उससे पूछते हैं कि क्या उसने अपने कर्मों से शुभ लोकों पर विजय पायी है। तब नाचिकेता महर्षियों की सभा में परलोक में प्रत्यक्ष दिखने वाली बातों को सुनाता है जिसमें नाचिकेता द्वारा पुण्यात्मा पुस्त्रों को मिलने वाले समृद्धिशाली लोकों को देखने तथा यम द्वारा गोदान सम्बन्धी विभिन्न विषयों के बारे में जानने का वर्णन विस्तार से किया गया है<sup>2</sup>।

### महाभारतकार द्वारा मूलकथानक में किये गये परिवर्तन एवं प्रयोजन

इस आख्यान में आरम्भ से अन्त तक जो परिवर्तन किये गये हैं वे किसी

1. पौतोदका जग्धतूणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः— --॥ कठो 0।1.3

2. महो 13. 70. 3—56

ऐतिहासिक अथवा अन्य किसी ठोस आधार पर नहीं किये गये हैं प्रत्युत कहानी के माध्यम से सम्प्रेष्य विचार अथवा आदर्श की आवश्यकताओं को देखते हुए किये गये हैं। क्योंकि उपनिषद् मुख्यतः अध्यात्म परक है अतः कठोपनिषद् में इस कहानी को अन्ततोगत्वा आत्मविषयक बना दिया गया है। परन्तु महाभारत में प्रश्नकर्ता युधिष्ठिर गोदान सम्बन्धी बातें जानना चाहते हैं अतः कहानी को तदनुरूप मोड़ दे दिया गया है। कहानी को अनैतिहासिकता इस प्रकार के परिवर्तन को सुविधा प्रदान कर देती है। यहाँ ग्रन्थकार का उद्देश्य इतिहास को यथावत् उपस्थापित करना नहीं है बल्कि ऐतिहासिक अर्ध ऐतिहासिक अथवा अनैतिहासिक कथा के माध्यम से किन्हीं तथ्यों एवं आदर्शों को सम्प्रेषित करना होता है।

1. महाभारतकार द्वारा वैदिक आख्यान में किये गये कुछ परिवर्तन अधिक औचित्य-पूर्ण तथा आख्यान को अधिक स्वाभाविक बनाने की दृष्टि से किये गये हैं। महाभारत के उदालक ऋषि पुत्र को जिस कारण से शाप देते हैं वह कारण ब्राह्मण व उपनिषद् में दिये गये कारण की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है। यहाँ गलती वाजश्रवा की है। नचिकेता तो पिता को विश्वन्नित यज्ञ में भी आसक्ति से युक्त जानकर पिता के हित चिन्तन को वजह से स्वयं को भी दान करके पिता का यज्ञ सफल करना चाहता था। इसी कारण वह पिता से बार-बार पूछता है कि मुझे किसे दान में दोगे। परन्तु वाजश्रवा पुत्र के हृदय की कोमल भावनाओं का तिरस्कार करते हुए उसे यम को देने जैसी बात कह देते हैं जबकि पिता के द्वारा यज्ञ पूर्ण होने तक नचिकेता से सेवा में उपस्थित रहने को कहा गया था तथापि वह जल, फूल, समिधा भोजन इत्यादि नदी तट से लाने में ढील कर देता है जिसके कारण सब सामान नदी के वेग से बह जाता है। अतः नचिकेता को जो दण्ड मिला है वह कुछ कर्षा किन्तु औचित्य से सर्वथा रहित नहीं है।
2. कठोपनिषद् में वाजश्रवा का पुत्र के प्रति स्नेह में कुछ विरोधाभास सा प्रतीत होता है क्योंकि एक ओर तो वे पुत्र के उद्देश्य से दुधतरु गायों का दक्षिणा

में देने से रोक रहे थे तथा दूसरी ओर वे पुत्र के प्रश्न का उत्तर सहज भाव न देकर उसे यम को देने जैसा शाप दे देते हैं ।

3. महाभारत में चूँकि नचिकेता यम से गोदान विषयक ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त पिता के पास लौटते हैं अतः वह लौटने पर तब वृत्तान्त पिता को तथा अन्य श्रद्धियों को बताते हैं जबकि कठोपनिषद् में उनके विषय में कहा गया है कि मृत्यु की कही हुयी विद्या और तन्मूर्ण योगविधि को पाकर नचिकेता ब्रह्मभाव को प्राप्त होकर, विरज और मृत्युहीन हो गया । यद्यपि वे प्रारम्भ में ही पिता की प्रसन्नता तथा स्वर्ग के पृथ्वीलोक गमन का वर यम से ले लेते हैं तथापि यहाँ अन्त में उनके पृथ्वीलोक लौटने की बात नहीं कही गयी है । मृत्युलोक पर अर्मत्पों का क्या काम । इसलिये कठोपनिषद् में तन्मूर्ण आख्यान सीधे यमलोक से ही वर्णित हुआ है ।
4. मनुष्य का मृत्यु पर विजय प्राप्त करना अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होना, मोक्ष प्राप्त करना ऐसा तभी संभव है जबकि मनुष्य अपने शुभकर्मों से इस योग्य हो । इसी लिये महाभारत में वाजस्रवा नचिकेता से मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का नहीं अपितु शुभकर्मों से शुभलोकों पर विजय प्राप्त करने सम्बन्धी प्रश्न पूछते हैं । यहाँ संभवतः शुभलोकों से तात्पर्य ब्रह्मलोक से है ।
5. महाभारतकाल में यज्ञादि कर्मकाण्डों के ह्रास के कारण यहाँ नाचिकेताग्नि की चर्चा नहीं की गयी है ।

### गुनःशेष आख्यान

#### संहिताओं में प्राप्त विवरण

गुनःशेष आख्यान का मूल उत्स हमें ऋग्वेद में मिलता है । यद्यपि ऋग्वेद में आख्यानो की कोई सत्ता नहीं है फिर भी अनेक कथाओं व घटनाओं के मूल इसमें विद्यमान हैं । उत्तर वैदिक वाङ्मय में इन संहितों का उपबृंहण किया गया है । ब्राह्मण साहित्य में इस उपबृंहण कला का पूर्ण विकास दीख पड़ता है । गुनः शेष के आख्यान का बीज ऋग्वेद में वर्णित गुनःशेष की वस्त्रा-पाश से मुक्ति के प्रसङ्ग में आया है । ब्राह्मणकार ने स्वयं इसके ऋग्वैदिक आधार की ओर संकेत करते हुए कहा है कि तो से अधिक ऋचाओं में यह गुनःशेष का आख्यान है ।

ऋग्वेद की 107 ऋचाएँ गुनःशेष से सम्बन्धित हैं । इन ऋचाओं का दृष्टा गुनःशेष है । इनमें विभिन्न देवताओं की स्तुति की गयी है । आख्यान में भी उन्हीं देवताओं का प्रसङ्ग आया है जिनकी इसमें स्तुति की गयी है यज्ञ-यूप में तीन स्थानों से बंधे हुए ऋषि गुनःशेष स्वयं को बन्धन मुक्त करने के लिये अग्नि, प्रजापति, वस्त्रा, इन्द्र, सवितृ, उषा आदि देवताओं की स्तुति करते हैं । ये मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के चौबीसवें सूक्त से लेकर तीसवें सूक्त तक हैं । परन्तु मात्र तीन मन्त्रों में गुनःशेष के नाम का उल्लेख किया है । उन्हीं से आख्यान का आभास मिलता है ।

सर्वप्रथम ऋषि गुनःशेष स्वयं को बन्धन मुक्त करने के लिये प्रजापति की स्तुति करते हैं<sup>2</sup> तत्पश्चात् अग्नि और वस्त्रा की । वस्त्रादेव की स्तुति करते हुए ऋषि

1. तदेतत्परं ऋक्षतगार्थं शौनः शेषमाख्यानम् । ऐ०ब्रा० 7.1.18

2. तदिदं तद दिवा मध्यमाहुस् तदयं केतो हृद आ वि घटे ।

गुनःशेषो यमहवद गुभीतः सो अस्मान् राजा वस्त्रा मुमोक्तु ॥ ऋ० 1. 24. 12 ॥

ऋ० 1. 24. 12, 1. 24. 14, 1. 24. 25



शुनःशेष स्वयं को पाशों से मुक्त करने, उपर, नीचे तथा बीच के पाशों को क्रमशः एक-एक करके काटने तथा पापों के बन्धन से मुक्त करने के लिये प्रार्थना करते दिखाई देते हैं । अथि शुनः शेष के द्वारा उक्त इन स्तुतिपरक मन्त्रों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उन्हें किसी यज्ञ यूप में नहीं बाँधा गया है । वे जिन तीन पाशों में बंधे हैं वे सम्भवतः आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक हैं क्योंकि इन स्तुति मन्त्रों में कहीं भी ऐसा नहीं कहा गया है कि किसी यज्ञ यूप में पशु के स्थान पर उन्हें तीन स्थानों से बाँधा गया है । यहाँ तो केवल बन्धनमुक्त करने की बात है । आधिदैविक, आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक कष्ट ऐसे हैं कि इनमें से एक से भी पीड़ित मनुष्य की दशा किसी यज्ञ यूप में बंधे पशु से कम नहीं होती । फिर तीनों से पीड़ित मनुष्य की तो बात ही क्या । ये कष्ट किसी बन्धन से कम नहीं हैं क्योंकि ये किसी भी मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति में बाधक होते हैं । वेदों का मूल उद्देश्य मनुष्य को आत्मज्ञान के द्वारा उसकी आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित करके मोक्षमार्ग में प्रवृत्त करना है । अतएव यदि वेद द्रष्टा अथि ईश्वर से कष्टमुक्त होने के लिये प्रार्थना करें तो यह स्वाभाविक ही है । यह आख्यान ऐतिहासिक घटना के रूप में दिखाई देता है किन्तु संहिता के प्रसंग से निरा काल्पनिक सिद्ध हो जाता है ।

अग्नेद में वस्त्रा क्योंकि अत के नियामक हैं अतः उनके द्वारा बनाये नियमों का पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है । नैतिकता व सत्कर्मों के सर्वोत्कृष्ट परिपालक देव होने के कारण वस्त्रा पापियों को, विशेषतः असत्य वक्ताओं को, कठोर दण्ड देते हैं तथा उन्हें अपने पाशों में आबद्ध कर लेते हैं । ये पाश अथर्ववेद में सात-सात शृंखलाओं से बने हुए तीन प्रकार के बताये गये हैं<sup>1</sup> । वस्त्रा के पाश रस्तियों के नहीं बने हैं फिर भी मनुष्य इसमें पूर्णतः जकड़ जाता है ।

1. ये ते पाशा वस्त्रा सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विधिता स्वन्तः ।

तिनन्तु सर्वे अन्तर्तं वदन्तः यः सत्यवाचतितं तं सृजन्तु ॥ अ० वे० ५.१६.६ ॥

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर ऋषियों की वस्त्रा के प्रति यह प्रार्थना होती है कि हमें अपने पाशों से छुड़ाएँ । इस प्रकार वस्त्रा का नैतिक पक्ष ही वैदिक कवियों के समक्ष मुख्यतः वर्ण्य रहा है । डा० एच० एल० हरियप्पा ने इस आख्यान का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है । आख्यान का क्रमिक विकास दिखाते हुए उन्होंने जो निष्कर्ष दिये हैं वे इस प्रकार हैं ।

1. शुनःशेष का पाश मुक्ति का आख्यान वैदिक तथ्य है ।
2. ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य संहिताओं में वस्त्रा के द्वारा शुनःशेष के गृहीत होने का वर्णन है । ऋग्वेद 1. 24. 15 के पाठ द्वारा उसकी पाशमुक्ति होती है ।
3. यह आख्यान तत्कालीन सामाजिक जीवन के अध्ययनार्थ उपयोगी है ।
4. शुनःशेष के नाम का अध्ययन डा० हरियप्पा ने करते हुए उसे सौख्य स्तम्भ  
 § Pillen of Happiness § का घटक माना है ।

ऐतरेय ब्राह्मण में यह आख्यान विस्तार से वर्णित है ।

कौषीतकि ब्राह्मण में शुनःशेष का आख्यान तो नहीं आया है प्रस्तुत वस्त्रा के पाशों के सम्बन्ध में मिलती जुलती एक अन्य कथा वर्णित है । शाख्यायन ब्राह्मण में आख्यान पूर्णतः ऐतरेय ब्राह्मण के ही समान है ।

### महाभारत में शुनःशेषाख्यान

महाभारत में यह आख्यान विस्तार से नहीं आया है । युधिष्ठिर द्वारा पितामह भीष्म से विश्वामित्र को ब्राह्मणात्त्व की प्राप्ति विषयक प्रश्न के सम्बन्ध में मात्र तीन श्लोकों द्वारा आख्यान का उल्लेख हुआ है । महर्षि विश्वामित्र के प्रभावशाली ब्रह्मतेज को चर्चा करते हुए युधिष्ठिर कहते हैं कि ऋषीक का महातपस्वी पुत्र शुनःशेष एक यज्ञ में यज्ञ पशु बनाकर लाया गया था किन्तु विश्वामित्र जी ने उसे उस महायज्ञ से छुटकारा दिला दिया ।

हरिश्चन्द्र के उस यज्ञ में अपने तेज से देवताओं को तन्तुष्ट करके विश्वामित्र ने शुनःशेष को छुड़ाया था । इसलिये वह विश्वामित्र के पुत्रभाव को प्राप्त हुआ ।

शुनःशेष देवताओं के देने से देवरात नाम से प्रसिद्ध है । विश्वामित्र का ज्येष्ठ पुत्र हुआ । उसके छोटे भाई विश्वामित्र के अन्य पचास पुत्र उसे बड़ा मानकर प्रणाम नहीं करते थे । अतः विश्वामित्र के शाप से वे सब पाण्डाल हुए ।

महाभारतकार द्वारा शुनःशेषाख्यान के वैदिक रूप में किये गये परिवर्तन एवं प्रयोजन

अनुशासन पर्व में कवि का प्रमुख उद्देश्य आख्यान का प्रस्तुतीकरण नहीं है अपितु युधिष्ठिर द्वारा पितामह भीष्म से पूछे गये विश्वामित्र के ब्राह्मणात्त्व तथा उनके महत्त्व विषयक प्रश्न का उत्तर देना है । अतः यहाँ आख्यान के अन्य पक्षों पर दृष्टिपात न करते हुए उन्हीं पक्षों को उभारा है जिनसे विश्वामित्र के ब्राह्मणात्त्व पर प्रकाश पड़ता है । अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये आख्यान के इन तत्त्वों को भी विश्वामित्र के ही वक्ष में बड़ा चढ़ाकर कहने के कारण कहानी में स्वाभाविक रूप से कुछ परिवर्तन हो गये हैं । महाभारत में आख्यान के जिन तत्त्वों को अपने मूल रूप से लिया गया है वे निम्न हैं---

1. असीस पुत्र शुनःशेष का हरिश्चन्द्र के यज्ञ में यज्ञ पशु बनाकर लाया जाना<sup>1</sup> ।
2. शुनःशेष का देवताओं द्वारा दिये जाने के कारण देवरात नाम से विश्वामित्र के ज्येष्ठ पुत्रभाव को प्राप्त होना<sup>2</sup> ।
3. विश्वामित्र के अन्य पचास पुत्रों द्वारा देवरात को ज्येष्ठ भ्राता मानकर प्रणाम न किया जाना अतः विश्वामित्र के शाप से उन सबका पाण्डाल हो जाना ।

अथर्ववेद में आख्यान सम्बन्धी मन्त्रों में महर्षि विश्वामित्र का कहीं भी उल्लेख नहीं है जबकि ऐतरेय ब्राह्मण एवं शांखायन श्रौतसूत्र में विश्वामित्र की उपस्थिति यज्ञ के होता रूप में होती है । शुनःशेष अथाओं द्वारा देवताओं की स्तुति करके उनकी कृपा से ही बन्धनमुक्त होते हैं न कि विश्वामित्र की कृपा से अथवा देवताओं

1. दृष्टव्य पृ० सं०

2. दृष्टव्य पृ० सं०

पर उनके प्रभाव से । तत्पश्चात् विश्वामित्र ऋषिजों के कहने पर अभिषेचनीय सोमयाग का अनुष्ठान करते हैं । उस याग के समाप्त होने पर देवरात विश्वामित्र की गोद में जाकर बैठ जाते हैं तथा विश्वामित्र उन्हें सहर्ष ज्येष्ठ पुत्र रूप में स्वीकार करते हैं ।

इस प्रकार महाभारत में यदि कोई परिवर्तन किया गया है तो वह यही है कि यहाँ विश्वामित्र के प्रभाव से शुनःशेष के यज्ञरूप से बन्धनमुक्त होने की बात कही गई है जिसका उद्देश्य विश्वामित्र के ब्रह्मतेज के महत्त्व का प्रतिपादन मात्र है । इसका स्पष्ट उदाहरण एक यह भी है कि ऋषिद में ऋषि स्वयं शुनःशेष हैं तथा महाभारत में आकर ऋषित्व के रूप में प्रधानता विश्वामित्र की हो गयी है ।

इस आख्यान का अध्ययन प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन की जानकारी के लिये भी उपयुक्त है । वह युग कर्मकाण्ड प्रधान था । वस्त्रा उस समय के शक्तिशाली देवता थे । मैक्समूलर ने इस आख्यान में भारतीय जीवन के तीन तत्त्वों की उपस्थिति बताया है ये तत्त्व राजा, पुरोहित तथा वन में निवास करने वाले मनुष्यों के द्वारा प्रकट किये गये हैं ।

महाभारत में शुनःशेषाख्यान के अन्तर्गत वस्त्रा के पाशों का उल्लेख नहीं है क्योंकि यहाँ वस्त्रा का नहीं प्रत्युत विश्वामित्र के ब्रह्मर्षित्व का प्रतिपादन महाभारतकार को अभिप्रेत है । महाभारत में अन्य स्थलों पर वस्त्रा के पाशों की चर्चा की गयी है । परन्तु अब वे सामान्य शस्त्र बन गये हैं जिनका प्रयोग कोई भी कर सकता है । आदिपर्व में कहा गया है कि खाण्डवदाह के अवसर पर वस्त्रा अपने पाश तथा अशनि लेकर अर्जुन से लड़ने आये थे<sup>1</sup> । बाद में इन्होंने अर्जुन को अपना पाश नामक अस्त्र प्रदान किया<sup>2</sup> । महाभारत में केवल पाश नहीं अपितु गाण्डीव धनुष को भी वस्त्रा का विशेष अस्त्र बताया गया है । विराट् पर्व में कहा गया है

1. महो आदि० 226-32-37

2. महो वन० 41. 27-32

कि इन्होंने सौ वर्ष तक गाण्डीव धारण किया; बाद में इसे अक्षय तरकस सहित अग्नि को दे दिया<sup>1</sup> । आदिपर्व में कहा है कि अर्जुन के लिये अग्नि इस धनुष को वस्त्रा से माँग लेते हैं<sup>2</sup> । महाप्रस्थानिक पर्व में अर्जुन इसे पुनः जल में फेंक देते हैं<sup>3</sup> जिससे यह पुनः वस्त्रा के पात पहुँच जाता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारतकार ने विभिन्न वैदिक आख्यानो का प्रस्तुतीकरण तत्कालीन मान्यताओं एवं परिस्थितियों के अनुरूप ढालते हुए किया है । भरतवंशियों के चरित्र एवं उनके संघर्ष की कहानी के साथ इन अवान्तर आख्यानो को इस प्रकार जोड़ा है कि इन वैदिक आख्यानो की प्रासङ्गिकता निरर्थक सी प्रतीत नहीं होती है । ऐसा करते समय उन्हें आख्यानो में जो परिवर्तन एवं परिवर्धन करने पड़े उन सभी का उल्लेख प्रस्तुत अध्याय में किया गया है । महर्षि व्यास ने कही भी आख्यानो के मूलभूत तत्त्वो की उपेक्षा नहीं की है प्रत्युत उन्हें अधिक औचित्य-पूर्ण ही बनाया है ।

---

1. महा० विराट० 43. 6

2. महा० आदि० 224. 1-6

3. महा० महाप्रस्था० 1. 41-42

x :x :x :x :x :x :x :x  
x :x :x :x :x :x :x :x  
x :x :x :x :x :x :x :x  
x :x :x :x :x :x :x :x

### उपसंहार

महाभारत में भरतवंशियों के परिवार एवं उनके संघर्ष की कहानी के साथ-साथ सम्पूर्ण वेदों का रहस्य भी संगृहीत है। महाभारत में विभिन्न वैदिक मन्त्रों का प्रयोग धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-ब्रह्म-आत्मा-यज्ञ आदि की व्याख्या करते समय किया गया है क्योंकि वेद को प्रमाण माना जाता है और उसमें कही हुयी बात निरर्थक नहीं हो सकती। संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मणों, आरण्यकों व उपनिषदों में आरंभ हुए महत्वपूर्ण आख्यान तथा कर्म ज्ञान एवं अन्य असंख्य वैदिक विषयों से सम्बन्धित मन्त्र महाभारत में आरंभ हैं स्वयं महर्षि व्यास ने कहा है कि "मैंने यह सम्पूर्ण लोकों से अत्यन्त पूजित एक काव्य की रचना की है। मैंने इस काव्य में सम्पूर्ण वेदों का गुप्ततम रहस्य तथा अन्य सब शास्त्रों का तार-तार संकलित करके स्थापित कर दिया है। केवल वेदों का ही नहीं उसके अङ्ग, एवं उपनिषदों का भी विस्तार से निरूपण है"। इसके अतिरिक्त एक श्लोक में महर्षि व्यास ने लिखा है कि "ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद और इनके आध्यात्मिक अभिप्राय और अध्यात्मशास्त्र का इस ग्रन्थ में विस्तार से वर्णन है"।

वेदों का स्वाध्याय तभी सार्थक है जब उसमें निहित गूढ़तम अर्थ का भी सम्यक् प्रकार से ज्ञान हो परन्तु सत्सुग से लेकर कलियुग तक मनुष्य की बौद्धिक क्षमता का निरन्तर ह्रास होता देखकर सर्वप्रथम महर्षि व्यास ने सूक्ष्म वेदार्थ का विशदीकरण व सरलीकरण करके सामान्य जन के लिये वेदोक्त ज्ञान को सुलभ बनाने के बारे में विचार किया। महाभारत की रचना द्वारा उन्होंने अपने इन्हीं विचारों को मूर्त

1. कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमं पूजितम् ॥ महा० ॥. 57

ब्रह्मन् वेद रहस्यं च यद्यान्यत् स्थापितं मया ॥

सांगोपनिषदां चैव वेदानां विस्तारं क्रिया ॥ वही, १.१. 59

2. ऋयो यजुर्वि सामानि वेदाध्यात्मं तथैव च । वही, १.१. 63

रूप प्रदान किया। इसीलिये महाभारत में स्थान-स्थान पर वेदार्थ के स्पष्टीकरण के लिये इतिहास पुराणा की सहायता को अपरिहार्य बताया गया है। महर्षि व्यास स्वयं कहते हैं कि--

इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृह्येत

विभेत्पुष्पश्रुतादेवो मामयं प्रहरिष्यति ।। महाO 1.1. 20

इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि वेद में जो बातें सूक्ष्म रूप में कही गयी हैं महाभारत और पुराणों में उनका विस्तार किया गया है यह परम्परा युगों से चली आ रही है। प्रस्तुत शोधग्रन्थ में मैंने ऐसे ही कुछ सम्बन्धों के वैदिक रूप तथा महाभारत के विकसित रूप का अध्ययन करते हुए विकास की इस प्रक्रिया में हुए परिवर्तनों व उन परिवर्तनों के कारणों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है।

महर्षि व्यास श्रेष्ठ वेदज्ञ थे। उनकी वेदज्ञता का प्रमाण उनके द्वारा किया गया वेदों का संहितीकरण तो है ही इसके साथ ही महाभारत के अध्येता को उनकी वेदज्ञता का प्रत्यक्ष रूप में अनुमान भी हो जाता है। महाभारत में महर्षि व्यास द्वारा वेदों का संहितीकरण करने की बात कही गयी है। वैदिक युग के याज्ञिक प्रयोग की दृष्टि से यजुष, साम तथा अथर्व चार प्रकार के मन्त्र प्रचलित थे। श्रवाओं का प्रयोग देवताओं की स्तुति के लिये किया जाता था, यजुषों के द्वारा देवताओं के आह्वान के लिये विभिन्न यज्ञ सम्बन्धी क्रिया-कलापों को किया जाता था, सामों को भिन्न-भिन्न देवताओं के लक्ष्य से मधुर स्वर में गायन किया जाता था। अथर्व मन्त्रों का प्रयोग अभिचार-बहुल क्रियाओं के लिये होता था। महर्षि व्यास ने इन चार प्रकार के मन्त्रों को पृथक्-पृथक् संहिताबद्ध करके उनका प्रचार-प्रसार किया। जब तक इन मन्त्रों का पठन-पाठन श्रुति-परम्परा से होता था तब तक इन मन्त्रों का एक सम्मिलित अभिधान वेद था तथा जब इनको अलग-अलग संहिताबद्ध कर दिया गया तब इन्हें चार वेदों के रूप में देखा जाने लगा।



महाभारत में यत्र तत्र वेदों के लोप नाश, अपहरण एवं ह्रास की बात कही गयी है। इस सबका कारण कहीं मनुष्य की कम होती हुयी आयु, धार्मिक प्रवृत्ति तथा मानसिक दुर्बलता को बताया गया है तथा कहीं प्रलय अथवा दानवी वृत्तियों को इसमें कारण माना है साथ ही देवी शक्तियों को वेदों की पुनर्स्थापना प्रचार-प्रसार करते हुए भी वर्णित किया है फिर चाहे वह ह्यग्रीव अवतारधारी भगवान विष्णु हों अथवा ब्रह्मपुत्र अपाक्षरतमा या सारस्वत ऋषि। इसी क्रम में कृष्ण द्वैपायन महर्षि व्यास द्वारा ही नहीं अपितु उनसे पूर्व भी वेदों के संहिताकरण कर्ताओं का उल्लेख किया गया है। यही कारण है कि वर्तमान वेद-संहिताओं में भी बहुवचनान्त वेदाः पद का प्रयोग चार प्रकार के मन्त्रों के लिये ही नहीं अपितु चार पृथक्-पृथक् संहिताओं के लिये भी किया गया है।

वेदोत्पत्ति के विषय में महाभारत वेद के विचारों से प्रभावित है। दोनों ही वेद को ब्रह्मा के निःश्वात से निःसृत मानते हैं तथा दिव्य शक्ति एवं तपोबल सम्पन्न ऋषियों को मन्त्रों का छूटा मानते हैं। पुस्त्य तूष्त में वर्णित सर्वहुत यज्ञ से ऋचाओं, सामों, छन्दों, यजुषों की अलौकिक उत्पत्ति के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। वेदाध्ययन तथा वेदाध्यापन का अपना महत्त्व था। प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये जहाँ वेदाध्ययन दिनचर्या का आवश्यक अङ्ग था वहीं वेदाध्यापन को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता था। शिक्षक, आचार्य, उपाध्याय सभी का अपना-अपना महत्त्व था। वेदाध्यापन को ब्रह्मयज्ञ के रूप में जाना जाता था। तैत्तिरीय संहिता मानव के जन्मजात तीन श्रेणियों में ऋषि-श्रेण से सुचित का उपाय विद्या प्राप्ति को ही बताया है। स्वाध्याय प्रारम्भ करने के लिये एक निश्चित आयु सीमा होती थी। ब्रह्ममणा, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिये यह क्रमशः आठ वर्ष, ग्यारह वर्ष तथा बारह वर्ष मानी जाती थी। शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त नहीं था। यद्यपि वेदों में शूद्रों के अनधिकार की बात कहीं भी नहीं गयी है तथापि इस विषय में महाभारत पर सूत्र ग्रन्थों व स्मृतियों का प्रभाव प्रतीत होता है। अध्ययन की अवधि में कुछ दिन अन्ध्याय के भी होते थे इन दिनों

नवीन पाठ का आरम्भ नहीं किया जाता था। अध्ययन की अवधि पूर्ण होने पर घर लौटने के इच्छुक ब्रह्मचारियों का समावर्तन संस्कार किया जाता था तथा इसके उपरान्त उन्हें रूनातक कहा जाता था।

वैदिक धर्म के तीन प्रमुख पक्ष देवता, यज्ञ तथा दार्शनिक चिन्तन में से देवता एवं यज्ञ दोनों ही परस्पर सम्बद्ध हैं क्योंकि देवताओं की स्तुति के लिये न केवल मन्त्र ही अपितु यज्ञ भी आवश्यक थे। यज्ञों में प्रज्वलित अग्नि में भिन्न-भिन्न देवताओं के उद्देश्य से सोम, पुरोडाश एवं आज्य आदि हविष्य की आहुति दी जाती थी तथा देवताओं को तृप्त एवं प्रसन्न करके उनसे इच्छित फल की प्राप्ति तथा अनिष्ट निवारण किया जाता था। इन यज्ञों के माध्यम से जो सही अर्थों में लाभ होता था वह ये है कि इनके माध्यम से प्रायः धार्मिक पुस्तित्वों में बुद्धि के साथ-साथ विचारों में शुद्धता आती थी मनुष्य की लोभी पुस्तित्वों में अंशुल लगता था। यद्यपि यज्ञों का सम्पादन प्रायः फल प्राप्ति की इच्छा रखते हुए किया जाता था तथापि पर्याप्त व्ययसाध्य होने के कारण यह हर किसी की सामर्थ्य में नहीं था। समाज का धनी वर्ग ही इन यज्ञों का सम्पादन करता था जिनमें पर्याप्त दान, दक्षिणा दिये जाने से समाज में आर्थिक रूप से समानता एवं सङ्गति आती थी। सामान्य गृहस्थ यथा पञ्चमहायज्ञ, बलिवैश्वदेव तथा पितृमेध आदि प्रत्येक गृहस्थ के लिये आवश्यक कर्तव्य थे। चातुर्मास्य आदि कुछ यज्ञ प्रायश्चित्त करने के लिये किये जाते थे वाजपेय, राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञ राजाओं व सम्राटों के करने योग्य होते थे।

वैदिक युग में दार्शनिक चिन्तन के योग्य जित विषय पर सर्वाधिक गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया था वह है, विधाता ने इस सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि कब, कैसे और कहाँ से प्रारम्भ की व इसके निर्माण की प्रारम्भिक प्रक्रिया क्या थी। वैदिक ऋषियों की इस सृष्टि विषयक जिज्ञासा के दर्शन ऋग्वेद से लेकर उपनिषदों तक होते हैं। ऋग्वेद के पुस्त्य सूक्त में पुस्त्य के आध्यात्मिक स्वस्व का विवेचन करते हुए सर्वहृत यज्ञ में आहुत पुस्त्य के अङ्गों से सृष्टि उत्पत्ति की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। मुण्डकोपनिषद भी पुस्त्यसूक्त में निहित दार्शनिक तथ्यों का

अनुकरणा करती हुयी दिव्य, अमूर्त पुस्त्र से सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का उल्लेख करती है साथ ही पौष्ट्यत्व में अपौष्ट्यत्व की उद्भावना करती हुयी उस सृष्टि पुस्त्र को अमूर्त और अक्षर वर्णित करती है । श्वेताश्वेतर उपनिषद् में शिव रूप पुस्त्र में ब्रह्म की उद्भावना करते हुए उसी के द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पन्न मानती है । महाभारतकार भी कहीं शिव को पुस्त्र रूप में उद्भाषित करते हैं कहीं ब्रह्म को तो कहीं नारायण को सृष्टिकर्ता ईश्वर के रूप में परिकल्पित करते हैं । हिरण्यगर्भ सूक्त में हिरण्याङ्ग समुद्भव ब्रह्म को समस्त भूतों का एकमात्र स्वामी कहा गया है । महाभारतकार भी यत्र-तत्र हिरण्यगर्भ अथवा सुवर्णमय अण्ड से उत्पन्न ब्रह्मा जी को सृष्टिकर्ता रूप में वर्णित करते हैं । नासदीय सूक्त में प्रलयोपरान्त सृष्टिपूर्व अवस्था का चित्रण करते हुए सर्वत्र व्याप्त सलिल में से बिना वायु के श्वास लेते हुए चैतन्य स्वस्व ब्रह्म को सृष्टि की कामना करते हुए वर्णित किया है । महर्षि व्यास भी शान्तिपर्व में इसी प्रकार की स्थिति को वर्णित करते हैं । छान्दोग्य उपनिषद् के आकाशमूलक सृष्टि के सिद्धान्त का महाभारतकार अनुमोदन ही करते हैं । सांख्य का पट्यीत तत्त्व मूलक सृष्टि सिद्धान्त भी महाभारतकार को सृष्टि विषयक जिज्ञासा को शान्त करता है ।

वैदिक युग में जहाँ एक ओर सृष्ट्युत्पत्ति जैसे दार्शनिक विषयों पर विचार-विनिमय होता था वहीं समाज को सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित बनाने की ओर भी पूरा ध्यान दिया जाता था और इसके लिये वर्ण-व्यवस्था एवं आश्रम-व्यवस्था दो व्यवस्थाएँ प्रचलित थीं । वर्ण व्यवस्था जहाँ समाज को चार वर्णों में विभाजित करके उन्हें अपनी-अपनी जीवन पध्ति के अनुसार जीवन यापन की शिक्षा देती है वहीं आश्रम व्यवस्था सभी को एक सूत्र में पिरो कर समाज को उच्च आदर्शों से प्रेरित होने को प्रतिबद्ध करती है । ब्रह्मणों का कार्य अध्ययन अध्यापन के द्वारा समाज को सही दिशा प्रदान करना था, उनके भरण पोषण सुरक्षा आदि का उत्तरदायित्व समाज का कर्तव्य था । क्षत्रियों का कार्य वेद शास्त्रों के साथ-साथ राजनीति एवं युद्ध कला में निपुणता प्राप्त कर राष्ट्र की रक्षा करना तथा वेदज्ञ ब्राह्मणों को

संरक्षण प्रदान करना था। वैश्यों का कार्य समाज को धन, धान्य एवं पशुओं से समृद्ध करना, व्यापार-वाणिज्य करना था तथा शूद्रों का कार्य उपरोक्त तीनों वर्णों की सेवा करना था। इस प्रकार चारों वर्णों की जीवन पद्धति भिन्न-भिन्न होते हुए भी समाज की प्रत्येक आवश्यकता को पूर्ण कर उसे सुदृढ़ बनाने के लिये थी। आश्रम व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत रूप से सुनियोजित जीवन व्यतीत करने के लिये प्रेरित करती थी। सात वर्ष की आयु तक शिशु के नैसर्गिक विकास के उपरान्त उसे एक श्रेष्ठ नागरिक बनाने की ओर ध्यान दिया जाता था। आठ, ग्यारह अथवा बारह वर्ष की आयु में उपनयन संस्कारोपरान्त गुरुकुल में निवास करते हुए पच्चीस वर्ष की आयु तक विद्या-प्राप्ति तत्पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके जन्मजात तीन श्रणों से मुक्ति के उपाय करना यज्ञादि धर्मकार्य करना पचास वर्ष की आयु में वानप्रस्थाश्रम में तथा पचहत्तर वर्ष की आयु में तप्यासाश्रम में सदाचार पूर्ण जीवन व्यतीत करना था।

वैदिकों की जीवन शैली पर्याप्त नियम संयम में बंधी हुयी होते हुए भी नितान्त नीरस नहीं थी इसका परिणय ऋग्वेद में संकेत रूप में आरंभ हो आख्यानो से मिलता है जिनका परवर्ती वैदिक साहित्य से लेकर महाभारत तक निरन्तर विकसित हुआ। वैदिकों के इन मनोरञ्जक आख्यों के प्रमुख पात्र सामान्य वर्ग से नहीं अपितु देवताओं में से ही होते थे यथा इन्द्र-सुत्र आख्यान के इन्द्र, मत्स्य, वामन, वराह, ह्यग्रीव इन अवतार विषयक आख्यानो के विष्णु, नायिकेताख्यान के यम, गुनःशेषाख्यान के वसुधा, च्यवन-सुकन्या आख्यान के अश्विनी कुमार तथा तौषष्ठाख्यान के तोम। उक्त सभी आख्यानो से सम्बद्ध वैदिक एवं महाभारतीय सन्दर्भों का समीक्षात्मक अध्ययन शोध प्रबन्ध में विस्तार से दिया गया है।

महाभारत के महत्त्वपूर्ण अंश श्रीमद्भगवद्गीता में वेदों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्णित किया गया है यद्यपि गीता पर मुख्य रूप से औपनिषदिक प्रभाव है तथा उपनिषदों व भगवद्गीता के बहुत से सिद्धान्त परस्पर भाषा, भाव तथा विषय जन्य साम्य से युक्त हैं। भगवद्गीता का कर्म योग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, तेजवरवाद, रहस्यवाद आदि सिद्धान्त किसी न किसी रूप में मूलतः उपनिषदों से ही

लिये गये हैं । वेदों के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए गीता में भगवान् को वेदों द्वारा जानने योग्य, वेदों को जानने वाला तथा वेदस्वस्म वर्णित किया गया है । गीता में अनेक स्थलों पर वेद वाक्यों के लिये वेदवाद शब्द तथा वेद के धर्म का आश्रय लेने वालों को वेदवाद में रत तथा अविवेकी बतलाया है तथा वेदों को तीनों गुणों के कार्यरूप सांसारिक भोगों एवं उनके साधनों का प्रतिपादन करने वाला कहकर अर्जुन को उन भोगों में आसक्ति रहित होने के लिये कहा है और वेदत्रयी धर्म का आश्रय लेने वाले सकाम पुत्र्यों के सम्बन्ध में भगवान् ने कहा है कि वे बार-बार जन्मते, मरते, आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं । इन वचनों में यद्यपि वेद की निन्दा प्रतीत होती है परन्तु वास्तव में यहाँ वेदों की निन्दा नहीं है । गीता में क्योंकि सकार्य कर्म की अपेक्षा निष्काम कर्म पर विशेष बल दिया है तथा सकाम भाव से कर्म करने को निकृष्ट कोटि का बताया है वेद के कुछ वाक्यों से ऐसा आभास होता है कि फल की इच्छा रखते हुए यज्ञादि कार्य करने की प्रेरणा देते हैं । गीता उन फलों को नाशवान् बताती हुई फल की इच्छा न रखते हुए अलिप्त रहकर कर्म करने का उपदेश देती है ।

वेद के महत्त्व को प्रदर्शित करने के अतिरिक्त गीता बहुत से वैदिक तन्त्रधर्मों का भी प्रतिपादन अपने सिद्धांतों के अनुकूल करती है इस प्रकार गीता भी महाभारत के अनुरूप वेदों का उपबृंहण ही करती है ।

सहायक ग्रन्थ सूची

### सहायक ग्रन्थ सूची

ऋग्वेद संहिता	वैदिक संशोधन मण्डल
॥सायणा भाष्य सहित॥	पूना 1933-46
तैत्तिरीय संहिता	वैदिक संशोधन मण्डल
॥भट्ट भास्कर, सायणाभाष्य॥	पूना 1971-81
माध्यन्दिन संहिता	मोतीलाल बनारसीदास
॥सायणा भाष्य॥	दिल्ली 1971 ई०
काण्व संहिता ॥सा० भा०॥	चौखम्बा संस्कृत सीरीज
॥सम्पा० महादेव शास्त्री॥	बनारस 1951 ई०
सामवेद संहिता	विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च
॥सायणा भाष्य॥	इंस्टीट्यूट 1956
अथर्ववेद संहिता	विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च
॥सायणा भाष्य॥	इंस्टीट्यूट 1961
मैत्रायणी संहिता	स्वाध्यायमण्डल
॥दामोदर सातवलेकर॥	भारत मुद्रणालय, बम्बई 1946 ई०
ऋग्वेद भाष्य भूमिका	चौखम्बा ओरियन्टालिया
॥सायणाचार्य॥	बंगलो रोड, जवाहर नगर 1980
ऐतरेय ब्राह्मण	तारा प्रिन्टिंग वर्क्स
॥सायणा भाष्य सहित॥	वाराणसी 1980
॥सम्पा० एवं अनु० डा सुधाकर	
मालवीय॥	
कौषीतर्कि ब्राह्मण	चौखम्बा संस्कृत सीरीज
॥व्याख्याकार-शंकरानन्द॥	वाराणसी 1968 ई०
तैत्तिरीय ब्राह्मण	ओरियण्टल पुस्तकालय
॥भट्टभास्कर भाष्य॥	सीरीज, मैसूर 1913 ई०

शतपथ ब्राह्मण	यौखम्बा संस्कृत सीरीज
॥सम्पा० अल्वर्ट बेवर॥	वाराणसी 1964
ताण्ड्य ब्राह्मण	यौखम्बा संस्कृत सीरीज
॥सायण भाष्य सहित॥	वाराणसी 1938
अमिनीय ब्राह्मण	सरस्वती विहार
॥सम्पा० डा० रघुवीर॥	नागपुर 1954
अमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण	दयानन्द कालेज
॥सम्पा० रामदेव॥	लाहौर 1921
गोपथ ब्राह्मण	लाहुरे न 1919
ऐतरेय आरण्यक	आनन्दाश्रम
	पूना 1959
तैत्तिरीय आरण्यक	आनन्दाश्रम
	पूना
ईशावास्योपनिषद्	आनन्दाश्रम मुद्रणालय
॥शांकरभाष्य सहित॥	7 पूना
कठोपनिषद्	श्री रामकृष्ण मठ
॥व्या० स्वामीश्वरानन्द॥	मद्रास 1920
प्रश्नोपनिषद्	श्री रामकृष्ण मठ
॥व्या० स्वामी श्वरानन्द॥	मद्रास 1922
मुण्डकोपनिषद्	गीता प्रेस
॥शांकरभाष्य॥	गोरखपुर 1935
छान्दोग्य उपनिषद्	श्री कैलाश आश्रम शताब्दी
॥सम्पा० डा० उमेशानन्द शास्त्री॥	समारोह महासमिति, मुनी की रेती
	अधिकेश 1979
बृहदारण्यक उपनिषद्	अद्वैत आश्रम
॥व्याख्या शंकराचार्य,	कलकत्ता 1934
अनु० महादेवानन्द॥	



श्वेताश्वेतर उपनिषद्	गोता प्रेस, गोरखपुर 1943
॥शांकर भाष्य समेत॥	
शांखायन श्रौतसूत्र	मेहरचन्द लक्ष्मनदास
॥सम्पा० अल्फ्रेड हिलेब्रान्ड॥	नयी दिल्ली 1981
मानव श्रौतसूत्र	डा जीनेट एम वान गेल्डर
	नई दिल्ली 1961
आश्वलायन श्रौतसूत्र	सरस्वती भवन
॥सम्पा० मंगलदेव शास्त्री॥	बनारस 1938
मानव गृह्य सूत्र	प्रकाशक पाणिनि
॥रामकृष्ण हर्षजी शास्त्री॥	अंसारी रोड, दरियागंज
	नई दिल्ली 1982
आपस्तम्ब धर्मसूत्र	ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट
॥श्री निवास गोपालाचारी॥	मैसूर 1953
व्यास, कृष्णदेवायन	महाभारत गोविन्द भवन कार्यालय
	6 भाग गोताप्रेस, गोरखपुर
व्यास, कृष्णदेवायन	महाभारत शंकरनरहर जोशी
	॥शान्तिपर्व॥ चित्रशाला प्रेस, पुना 1933
	नीलकण्ठ टीका
व्यास, कृष्णदेवायन	महाभारत ॥सम्पा०॥ पी०एस० सुकथाकर
	24 भाग एस० के० बेलवेलकर, पी०एस० वैद्य
	भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट,
	पुना
पास्क	निरुक्त मेहरचन्द लक्ष्मनदास
	॥टीका दुर्गा- 1964
	चार्य, व्या०,
	भगीरथ शास्त्री॥

शौनक	बृहद्देवता	मोतीलाल बनारसीदास
	॥सम्पा० मेक्डोनेल॥	
श्री मदभगवद्गीता	विनायक गणेश आप्टे आनन्दाश्रम	
॥आनन्दगिरि टीका॥	पूना 1939	
मनुस्मृति	रतनकला प्रकाशन	
	मथुरा	
अग्निपुराण	आनन्दाश्रम	
	पूना 1957	
भत्स्य पुराण	संस्कृति संस्थान	
	बरेली 1970	
वायु पुराण	संस्कृति संस्थान	
	बरेली 1967	
पद्म पुराण	संस्कृति संस्थान	
	बरेली 1971	
सांख्य सूत्र		
॥विज्ञान भिक्षु, भाष्य॥	सम्पा० रामशंकर	भारतीय विद्या प्रकाशन
	भट्टाचार्य	वाराणसी, 1977
ईश्वरकृष्णकृत	सांख्यकारिका	
	॥व्या० रामशंकर	दिल्ली 1979
	भट्टाचार्य॥	
न्याय दर्शन		भारतीय विद्या प्रकाशन
	आनुषङ्गिक साहित्य	
	-----	
कीथ, २० बी	वैदिक धर्म एवं दर्शन	मोतीलाल बनारसीदास
	॥अनु० सूर्यकान्त॥	1963

सामश्रमी, सत्यव्रत	त्रयो परिचय	भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली 1970
त्रिपाठी, गयाचरण	वैदिक देवता उद्भव और विकास	भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली 1981
मैक्डोनाल्ड, २०२०	वैदिक देवशास्त्र ॥अनु० सूर्यकान्त॥	भारत-भारती दिल्ली, 1961
ठाकुर, पं० आधादत्त	वेदों में भारतीय संस्कृति	हिन्दी समिति लखनऊ 1967

अंगल साहित्य

Bloomfield, Maurice	Religion of the Veda	The Knicker backer Press 1908
Chandra, Ramprasad	Indo Aryan Races	Poona, 1928
Dutta, N.K.	Origin & Growth of Cast in India	Kegan Paul London 1931
Hariyappa, H.L.	Rgvedic Legends through the ages	Poona, 1953
Hillebrandt, Alfred	Vedic Mythology Vol. IInd	Motilal Banarsidas Delhi 1981
Macdonell, A.A.	History of Sanskrit Literature	Delhi 1961
Ed. Maxmuller, F.	Sacred Books of the east 6th Vol.	Motilal Banarsidas Delhi 1962-65
O Fleharty Wendy doniger	Origins of evil in Hindu Mythology	Delhi 1976
Ranaday, R.L.	Religion & Philosophy of The Vedas upnisadas	Oriental Book Agency, Poona, 1926
Suryakant	The Flood Legend in Sanskrit Literature	Jalandhar 1950

Dictionaries & Encyclopedias

Apte, V.S.	Sanskrit Hindi Kosha	Motilal Banarsidas Delhi, 1966
Dowson, John	A Classical Dictionary of Hindu Mythology	London, 1953
Hastings, James	Encyclopedia of Religion & Eathics	Newyork 1955
Macdonell & Keith	Vedic Index	Motilal Banarsidas Delhi 1962
Rai, Ramkumar	Mahabharata Kosha Vol.I, II	Chowkhamba Vidyabhawan Varanasi, 1964
Sorensen, S.	An Index of the Names in the Mahabharata	Motilal Banarsidas Delhi 1904
Visva Bandhu	Vedic Padanukram Kosha Brahmanoddhara Kosha	Lahore 1935-76 Hosiyarpur, 1966